षडावश्यक की उपादेयता

भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में

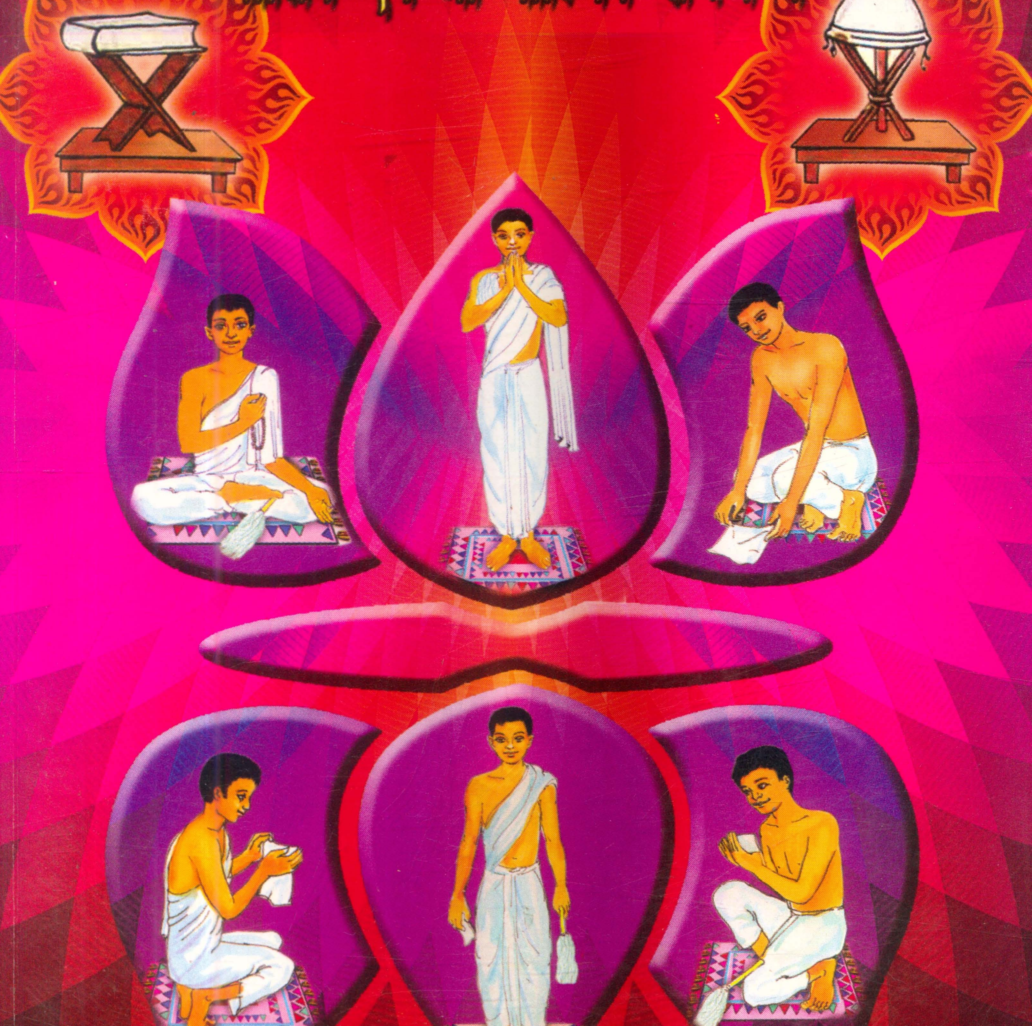

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

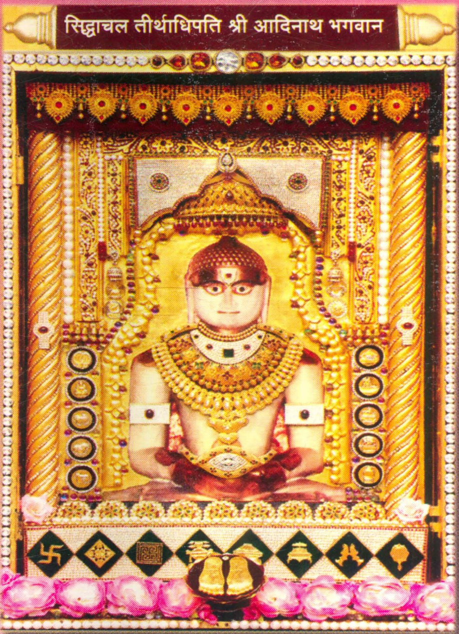

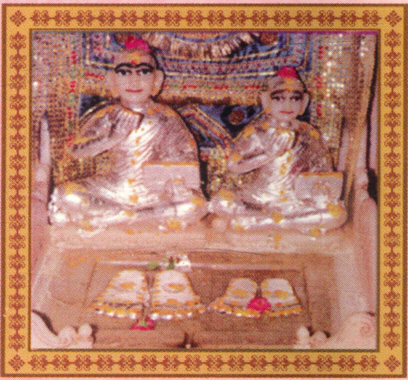

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

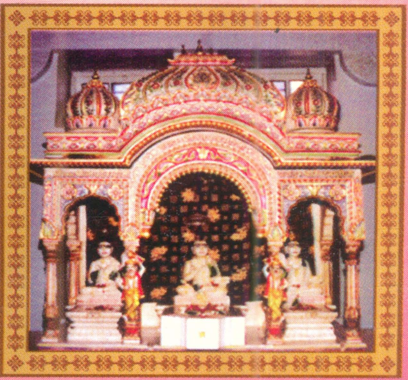

श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

षडावश्यक की उपादेयता
भौतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में
जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-11

2012-13

R.J. 241 / 2007

णाणस्स सारमायारो

शोधार्थी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय

लाडनूं-341306 (राज.)

षडावश्यक की उपादेयता
भौतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में
जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-11

णाणस्स सारमायारो

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

षडावश्यक की उपादेयता
भौतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में

कृपा पुंज : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल पुंज : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द पुंज : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा पुंज : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य पुंज : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह पुंज : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 150.00
(पुन: प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (XI)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

भावार्पण

परमात्म भक्ति और गुरु निष्ठा

जिनके रोम-रोम में रमती है।

परोपकार जिनका व्यसन और

आत्म संयम में जिनकी अनुरक्ति है।

जीवन जिनका स्वभावतः कल्याणी

और सृजन समर्पित हैं।

जिनके विचरण से जागृत हुई

जैन संघ की युवा शक्ति है।

ऐसे

ब्रह्मसर तीर्थोद्धारक पूज्य मनोज्ञ सागरजी म.सा.

युवा मनीषी पूज्य ललितप्रभ सागरजी म.सा.

प्रवचन प्रभाकर पूज्य चन्द्रप्रभ सागरजी म.सा.

मधुर भाषी पूज्य पीयूष सागरजी म.सा.

लेखन कला के जादुगर पूज्य मनितप्रभ सागरजी म.सा.

स्वाध्याय श्रेष्ठ पूज्य सम्यकरत्न सागरजी म.सा.

अध्यात्म योगी पूज्य महेन्द्र सागरजी म.सा.

संयम उत्कर्षी पूज्य मनीष सागरजी म.सा.

आदि मुनि पुंगवों के

शासन सेवारत संयमी जीवन को

श्रद्धाभावेन समर्पित

सज्जन भावना सज्जनों के लिए

प्रत्येक आत्मार्थी चाहता है-

भवाभिनंदी से भावाभिनंदी

कर्म रोगी से कर्म योगी

भोगार्थी से मोक्षार्थी बनना

पर प्रश्न है कि कैसे करे स्वयं में-

समत्व का आरोपण

तीर्थंकरत्व का शोधन

लघुता, विनय आदि गुणों का वर्धन

जिससे हो सके-

आंतरिक कलुषता एवं दोषों का निरीक्षण

देह आसक्ति एवं कषायों का शोषण

विभावों से सद्भावों का रक्षण

अतः परमात्मा ने बताया है-

आत्म शुद्धि का एक क्रमिक चरण

ममता से समता में आने का अपूर्व करण

गुण शून्य आत्मा को गुणवासित करने का अमूल्य क्षण

उसी अनुक्रम से

आत्म पथ को प्रकाशित करने हेतु

एक मार्मिक अनुशीलन....

हार्दिक अनुमोदन

उदयरामसर (राजस्थान) हाल कोलकाता निवासी

श्रावकवर्य्य पिता श्री चम्पालालजी-मातु श्री पानाबाई बोथरा

की चिरस्मृति निमित्ते

सुपुत्र

शासन रत्न श्री थानमलजी-नेमीदेवी

सुपौत्र

पवनजी-भारती, प्रवीणजी-प्रेमलता

प्रपौत्र-प्रपौत्री

रौनक, गर्वित, रिद्धि, रिया बोथरा परिवार

सम्यक ज्ञान की यात्रा के अनुमोदक
श्री थानमलजी बोथरा परिवार

मानव जीवन आत्मा से परमात्मा, कंकर से शंकर, बीज से वृक्ष बनने की यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। कहते हैं वृक्ष की जड़ें जितनी मजबूत हो उसका बाह्य विस्तार भी उतना ही विराट होता है। भगवान महावीर के दस प्रमुख श्रावक आनन्द, महाशतक आदि अतुल पराक्रमी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न थे। धर्म साधना में जितना उनका अंतरंग जुड़ाव था उनका बाह्य वैभव-विलास भी उतना ही बढ़ा-चढ़ा था तदुपरान्त भी उनका व्यक्तिगत जीवन सेवा, सादगी एवं त्याग प्रधान देखा जाता है। वे खूब अर्जन करते थे और परोपकार में उसका विसर्जन भी उतना ही शीघ्रता से कर देते थे। वर्तमान जैन समाज में ऐसे ही धर्मनिष्ठ श्रावक हैं थानमलजी बोथरा।

थानमलजी का जन्म बीकानेर समीपस्थ उदयरामसर में विक्रम संवत 2009 में नूतन वर्ष के दिन हुआ। आपके पिताश्री चम्पालालजी बोथरा बीकानेर पट्टी के सुप्रतिष्ठित धर्म एवं अर्थ सम्पन्न श्रावक थे। आपकी मातु श्री पाना बाई ने अपने तीनों सुपुत्र पारसमल, थानमल एवं हरकचंद को व्यावहारिक ज्ञान एवं दक्षता के साथ धार्मिक एवं सामाजिक विकास की भी शिक्षा दी। मां पाना बाई की शिक्षा के परिणाम स्वरूप ही मरूधर एवं कलकत्ता में बोथरा परिवार की अनोखी छवि है।

आपको गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी परिवार और पैसों से कोई मोह नहीं है। वे भीतर से जल कमलवत जीवन जीते हैं। निःस्पृहता एवं उदारता आपके स्वभाविक गुण हैं। आपके अन्तरंग साधना की ऊँचाई इतनी बढ़ चुकी है कि आप अपने जीवन से न हताश है और न ही आपको मृत्यु का भय है। आपका हृदय अत्यन्त कोमल एवं संवेदनशील है। पुण्यानुबंधी पुण्य से अर्जित लक्ष्मी का सदुपयोग आपने अनगिनत कार्यों में किया है। मानव सेवा, साधर्मिक विकास, शिक्षा, हॉस्पीटल, स्कूल निर्माण, संघ यात्रा आदि अनेक जन हितकारी कार्यों का सम्पादन आपके द्वारा किया गया है। जन्मभूमि उदयरामसर

एवं बीकानेर में आपने अनेक चिरस्मरणीय जन प्रेरक कार्य करवाएँ हैं।

परम पूज्य विजयमुनिजी म.सा. की प्रेरणा से बीकानेर में गौशाला बनवाई है। जहाँ वर्तमान में 4200 गायें हैं। बीकानेर में पूज्य मनोज्ञ सागरजी म.सा., साध्वी लक्ष्यपूर्णा श्रीजी म.सा., उदयरामसर में श्रुतदर्शना श्रीजी म.सा. के चातुर्मास करवाने का लाभ भी प्राप्त किया है। पूज्य मनोज्ञसागरजी म.सा. की निश्रा में बीकानेर से ब्रह्मसर एवं बीकानेर से दिल्ली छ:री पालित संघ का आयोजन भी किया है। इसी के साथ कोटा गुरुकुल, उदयरामसर स्कूल, बीकानेर जैन पब्लिक स्कूल के निर्माण में भी आपका विशेष अनुदान रहा है। जैन समाज के सभी कार्यों में आप नि:स्वार्थ भाव से एवं खुले दिल से अपना योगदान देते हैं। किसी भी प्रकार की Post से सदा दूर ही रहते हैं।

आप विचारों से उदार, दृष्टिकोण से प्रगतिशील एवं लक्ष्य प्राप्ति में सदा क्रियाशील हैं। आपके दृष्टिकोण में उत्कृष्टता, विचारों में दूरदर्शिता, गतिविधियों में शालीनता समाहित है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती नेमीदेवी आपके हर कार्य में आपकी पृष्ठाधार बनकर खड़ी रहती हैं। आपके परिवार को एक सुंदर फुलवारी के रूप में महकाने का श्रेय इन्हीं को जाता है। आपके दोनों पुत्र भी जन सेवा आदि मानवीय कर्त्तव्यों के प्रति रूचिवन्त हैं।

आप जैसे उदार हृदयी श्रावक जिनशासन की उन्नति हेतु सदा उत्साहित एवं अग्रणी रहते हैं। सन् 2011 के कोलकाता चातुर्मास के दौरान जब आपको साध्वी सौम्यगुणाजी के विशद शोध कार्य के बारे में पता चला तो श्रुतदान की इच्छा अभिव्यक्त की। सज्जनमणि ग्रंथमाला प्रकाशन आप के इस उदार हृदयता का सम्मान करता है। आप स्वस्थ एवं दीर्घायु रहकर शासन में इसी तरह संलग्न रहें यही आंतरिक अभ्यर्थना।

●

सम्पादकीय

प्रत्येक धार्मिक साधना के कुछ आवश्यक कर्त्तव्य होते हैं जिनका परिपालन साधक को धर्म में चुस्त एवं जागरूक रखता है। जैन परम्परा में साधकों के लिए कुछ ऐसे ही आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्देश है, जो श्रमण एवं गृहस्थ दोनों के लिए ही साध्य है। इन आवश्यक कर्त्तव्यों को जैन वांगमय में षडावश्यक की संज्ञा दी गई है।

षडावश्यक के अन्तर्गत निम्न छः आवश्यकों का समावेश होता है– सामायिक,स्तुति, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। यह ध्यातव्य है कि महावीर की संघीय व्यवस्था में इनका समावेश अनिवार्य कर्त्तव्यों के रूप में किया गया है। प्रत्येक साधक के लिए यह आचरणीय है। इन षडावश्यकों में प्रथम स्थान सामायिक को प्राप्त है। संक्षेप में कहें तो सामायिक की साधना समत्व की साधना है और यही जैन धर्म का सार तत्त्व है। जैन साधना का अथ और इति सामायिक की साधना से ही होता है। समभाव की साधना से प्रारम्भ करके समत्व की पूर्णता तक पहुँचना यही साधक का लक्ष्य है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि आत्मा समत्व रूप है और समत्व को प्राप्त कर लेना यही साधना का सार तत्त्व है।

जैन दर्शन में सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान के साधना की पूर्णता सम्यक चारित्र में मानी गयी है। सम्यक चारित्र का ध्येय समाधि मरण या पूर्ण समभाव की अवस्था में देह से भी ऊपर उठकर देहातीत अवस्था को प्राप्त करना है। अतः यह कहा गया है कि साधक चाहे गृहस्थ हो या मुनि? उसको नियमित रूप से सामायिक या समभाव की साधना करनी चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने तो यहाँ तक कहा है कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो अथवा अन्य किसी परम्परा का पालन करने वाला हो यदि वह समभाव की साधना करता है तो निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन परम्परा में चारित्र साधना का प्रारम्भ सम्यक चारित्र से ही होता है और वीतराग दशा में उसकी पूर्णाहुति होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो यहाँ तक कहा है कि मोह और शोक से रहित आत्मा की जो समत्व पूर्ण अवस्था है वही मोक्ष है।

आवश्यकों में दूसरा क्रम स्तुति या स्तवन को दिया गया है। इसका

अभिधेय है गुणीजनों के प्रति आदर भाव प्रकट करना, उनका सत्संग करना और उनके प्रति श्रद्धा से आपूरित रहना। गुणीजनों के प्रति यह प्रमोद की वृत्ति व्यक्ति के चित्त को उदार बनाती है और यही व्यक्ति को वीतरागता की दिशा में अग्रसर करती है अत: इसे जैन साधना का दूसरा आवश्यक चरण माना गया है।

तीसरे आवश्यक के द्वारा गुणीजनों के प्रति विनय भाव प्रकट किया जाता है। जो साधक समभाव की साधना करेगा उसके मन में स्वाभाविक रूप से गुणीजनों के प्रति प्रमोद की भावना उत्पन्न होगी। यह श्रद्धा भाव ही उसे पूज्य के चरणों में झुकने हेतु प्रेरित करता है। वस्तुत: वंदन स्तुति का ही एक अंग है और विनय गुण का आधार है। जैन आगमों में तो यहाँ तक कहा गया है कि धर्म का मूल विनय है। धर्म के दस लक्षणों में विनयशीलता को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विनय किसके प्रति और कब प्रकट किया जाना चाहिए? इसकी जैन आगमों में विस्तृत चर्चा है। विनय गुण की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि यदि साधक अपनी साधना के माध्यम से वीतराग स्थिति को भी प्राप्त कर ले तो भी उसे गुरुजनों के प्रति विनय का भाव तो रखना ही चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि शास्त्र में इसकी मूल्यवत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यदि शिष्य वीतरागता या सर्वज्ञता को भी उपलब्ध हो जाए तो भी उसे वीतरागता या सर्वज्ञता की उपलब्धि का अहंकार न रखते हुए अपने गुरुजनों के प्रति विनय रखना चाहिए। चाहे वे अभी छद्मस्थ ही क्यों न हो।

वस्तुत: जब व्यक्ति में समत्व का विकास होगा तब ही उसके मन में गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावना अभिवृद्ध हो सकेगी और उनके चरणों में झुक सकेगा। वंदना विनय गुण की ही अभिव्यक्ति है।

आवश्यकों में चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण है। आज स्थिति यह है कि प्रतिक्रमण की विधि इस प्रकार विकसित कर ली गई है कि उसमें षडावश्यक समहित हो जाते हैं। चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक का मूल अर्थ तो वापस लौट आना है। इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि विभाव दशा में गई हुई आत्मा का स्वभाव दशा में लौट आना ही प्रतिक्रमण है। विभाव दशा का तात्पर्य राग-द्वेष या कषाय में आत्मा की अनुरक्ति है। इसी अनुरक्ति का त्याग कर जब आत्मा पुन: समत्व पूर्ण स्थिति में लौटती है तो उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। यद्यपि प्रतिक्रमण शब्द के और भी अनेक अर्थ किए जाते हैं परन्तु

उसका मूल अर्थ तो यही है कि विभाव दशा को रोककर स्वभाव दशा में आ जाना। प्रतिक्रमण को आत्म शोधन की एक प्रक्रिया माना गया है। प्रतिक्रमण केवल पाप प्रवृत्ति से पीछे लौटना ही नहीं है अपितु भविष्य में उन प्रवृत्तियों से न जुड़ने का प्रयत्न भी है। प्रतिक्रमण का अर्थ है गलती को गलती मान कर उससे वापस लौट आना, गलती की पुनरावृत्ति न करना। प्रतिक्रमण में प्रत्येक पाप के साथ 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' ऐसा पद बोला जाता है। सामान्यतया इसका अर्थ होता है कि मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। यह एक प्रकार का माफीनामा है किन्तु मेरी दृष्टि में इसका अर्थ यह नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है गलती को गल्ति के रूप में स्वीकार करना और उसकी पुनरावृत्ति न करना।

व्यक्ति जब तक पाप प्रवृत्ति से लौटकर स्वभाव दशा में अवस्थित नहीं होता है तब तक उसकी साधना सफल नहीं होती इसलिए प्रतिक्रमण सभी के लिए आवश्यक माना गया है। भगवान महावीर के पूर्व परम्परा यह थी कि साधक जब भी कोई गल्ती करता तो तत्काल ही उसका प्रतिक्रमण कर लेता किन्तु महावीर ने इस दिशा में थोड़ा कठोर रूप अपनाया और कहा कि साधक को प्रात:काल एवं सायं काल अवश्य ही प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि उसी से आत्म शुद्धि की प्रक्रिया अपनी पूर्णता की ओर आगे बढ़ती है।

इसलिए षडावश्यकों के अगले क्रम पर कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन दो आवश्यकों की चर्चा की गई है। कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ देह के प्रति विदेह की साधना करना है। दूसरे शब्दों में देह के निर्ममत्व की साधना करना है, क्योंकि सारी प्रवृत्ति का मूल देह के प्रति ममत्व या आसक्ति की वृत्ति है। पाप प्रवृत्ति से हमारा जुड़ाव टूटे यही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का अर्थ काया का उत्सर्ग नहीं अपितु काया के प्रति निर्ममत्व का भाव विकसित करना है और जब यह भाव विकसित होगा तो निश्चय ही व्यक्ति पाप प्रवृत्तियों से पीछे लौटेगा और निर्ममत्व की साधना में प्रवृत्त होगा। इस प्रकार कायोत्सर्ग देह के प्रति निर्ममत्व की साधना का ही एक प्रयत्न है।

षडावश्यकों में अंतिम स्थान प्रत्याख्यान को दिया गया है। इसका अर्थ है त्याग देना या छोड़ देना। प्रत्याख्यान पाप प्रवृत्तियों को पुन: न करने की प्रतिज्ञा है। इससे व्यक्ति का मनोबल मजबूत होता है और व्यक्ति पाप प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति नहीं करता है। कायोत्सर्ग आत्म शोधन की प्रक्रिया है तो प्रत्याख्यान विभाव दशा में नहीं जाने की दृढ़ प्रतिज्ञा है। वस्तुत: जब तक प्रत्याख्यान नहीं

होता तब तक आत्म शोधन के चाहे कितने ही प्रयत्न हो आश्रव का द्वार बंद नहीं होता। प्रत्याख्यान आश्रव की प्रवृत्ति को रोक देता है। इस प्रकार षडावश्यकों के माध्यम से आत्म शोधन की यह प्रक्रिया पूर्णता की ओर पहुँचती है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में न केवल इन षडावश्यकों का अर्थ स्पष्ट किया है अपितु तत्सम्बन्धी साहित्य का भी विस्तार से उल्लेख किया है। इसी के साथ आगम काल से अब तक आए परिवर्तन एवं उनके कारणों की परस्पर चर्चा तथा षडावश्यक विषयक विविध शंकाओं के समाधान करते हुए साध्वीजी ने जिज्ञासु साधकों के लिए एक प्रपा प्रस्तुत की है। श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक सूत्रों पर प्राचीन काल से अब तक अनेक ग्रन्थों का लेखन हुआ है। आवश्यकसूत्र, उसकी निर्युक्ति और चूर्णि तो महत्त्वपूर्ण है ही इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्रसूरि से लेकर अब तक जो टीकाएँ लिखी गई वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वर्तमान में उपाध्याय अमरमुनिजी ने श्रमणसूत्र नाम से हिन्दी व्याख्या की है वह भी इस विषयक पठनीय कृति है। साध्वीजी ने इनका आलोडन-विलोडन कर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं उसकी अनुमोदना करते हैं और यह अपेक्षा रखते हैं कि भविष्य में भी वह अपनी सुन्दर कृतियों से सरस्वती के भण्डार को सुशोभित करती रहें क्योंकि जिनशासन के ज्ञान भण्डार अनेक ऐसी कृतियों से समृद्ध हैं, जिन पर आधुनिक संदर्भों में लेखनी चलाई जा सकती है और वर्तमान युग में उनकी आवश्यकता भी है। सौम्यगुणा श्रीजी जैसी साध्वियों को ऐसे ज्ञान भंडारों का अवलोकन कर कुछ कृतियों के अनुवाद का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

उनकी शोधपूर्ण दृष्टि और परिश्रम का लाभ आम जनता को मिले ऐसी शुभ भावना है।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी, जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रोशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विश्रृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त

मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोड़ा तीर्थ

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति की मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सोलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सोलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सोलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व में

विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी

योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती।

कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान— इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

मंगल नाद

षडावश्यक का अर्थ है– छ: आवश्यक क्रियाएँ जो चारित्रिक पृष्ठभूमि के निर्माण का मुख्य आधार है। इन क्रियाओं का परिपालन करते हुए महाव्रतों एवं अणुव्रतों के पालन में अधिक सजगता एवं अप्रमत्तता आती है। मनोभूमि को निर्मल एवं व्यक्तित्व को सद्गुण ग्राह्य बनाने में यह क्रिया अनन्य सहायक बनती है। आजकल रूढ़ प्रवाह से षडावश्यक को प्रतिक्रमण की संज्ञा दे दी गई है किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रतिक्रमण इन छ: कृत्यों का समूह है।

षडावश्यक के विषय में यदि श्रुत साहित्य पर दृष्टि करें तो आगम युग से अब तक अनेक कृतियाँ प्राप्त होती है। जैन धर्म की प्रचलित शाखाओं में परम्परागत कारणों से आज कुछ सामान्य भिन्नताएँ अवश्य है परन्तु सभी का लक्ष्य एक ही है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने षडावश्यक का यह कार्य करते हुए प्राचीन प्रमाणों के आधार पर नवीन तथ्य प्रकट किए हैं। जिससे तद्विषयक समग्र संकलन पाठकों को एक साथ प्राप्त हो सकेगा। साध्वीजी ने वर्तमान संदर्भ में कार्य करते हुए प्रचलित समस्त जैन श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के साथ वैदिक एवं बौद्ध परम्परा से इसका तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। षडावश्यक क्रिया से पारिवारिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान कैसे हो? तनाव, ईर्ष्या, क्रोध, मान आदि पर नियंत्रण कैसे किया जाए? युवा पीढ़ी को इसके प्रति कैसे जागरूक बनाया जाए? वर्तमान की Fast जीवन शैली में यह कैसे उपयोगी बने? आदि अनेक विषयों पर सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। जिससे यह शोध कृति पीढ़ी दर पीढ़ी आराधकों को सद्राह दिखाने में सहायक बनेगी।

साध्वीजी अत्यन्त श्रमशील, दृढ़ मनस्वी, श्रुत संवर्धिनी और गुरुजन कृपा पात्री हैं। इनकी अध्ययन रूचि से सम्पूर्ण खरतरगच्छ संघ ही नहीं अन्य अनेक श्रमण-श्रमणी संघ एवं विद्वत् जन भी परिचित हैं। सभी के सहयोग एवं सद्भावना से ही इनका यह महत् कार्य अल्पावधि में सहज रूप से सम्पन्न हो पाया है। इनके श्रुत समर्पण एवं अथक प्रयास का ही परिणाम है कि यह मेरे साथ शासन कार्यों को संभालते हुए अपने अध्ययन कार्य में संलग्न रही और परिणाम स्वरूप इस विशाल साहित्य की सृजनहार बनी। साध्वीजी की श्रुत पिपासा इसी प्रकार वृद्धिंगत रहे और ऐसे अनेक कार्यों की सृजिका बने।

यही अन्तर भावना!

आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.
एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के यादगार पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट्. कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना

कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अतः सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम

कुछ भी करने में असमर्थ थे अतः पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुनः कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुनः कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अतः उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अतः सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्रायः अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुनः साधु जीवन

के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अतः चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अतः उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अतः गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु

पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक

चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अतः न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अतः एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अतः उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित

कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि-

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी।

गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है।।

●

हार्दिक अभिवन्दना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है-

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा- देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली- मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रात:कालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्शे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ-

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति का वादन

जैसे हिन्दूओं के लिए संध्या, मुसलमानों के लिए नमाज और योगियों के लिए प्राणायाम आवश्यक है वैसे ही जैन धर्मानुयायियों के लिए षडावश्यक की साधना अपेक्षित है। यह इतनी विराट् है कि इसमें यम-नियम अथवा ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग जैसे साधना के सभी आयाम समाविष्ट हो जाते हैं। ये मुख्य रूप से आत्म विशुद्धि के क्रमिक चरण हैं। इसके अन्तर्गत जिन छ: क्रियाओं का समावेश होता है वे सफल आध्यात्मिक जीवन के लिए परमावश्यक है। इसकी प्रत्येक क्रिया साधक में समत्व गुण का विकास, विभाव दशा का निकास एवं सद्गुणों का आवास करती है।

प्रथम आवश्यक के रूप में सामायिक आवश्यक की चर्चा है। श्रमणों के लिए सामायिक जहाँ प्रथम चारित्र है तो गृहस्थ साधकों के चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। समत्ववृत्ति की यह साधना प्रत्येक वर्ग, जाति एवं धर्म के लिए स्वीकार्य है। किसी व्यक्ति, धर्म या वेशभूषा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि कोई भी मनुष्य चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, धनिक हो या निर्धन समभाव की आराधना कर सकता है। वस्तुत: जो समभाव की साधना करता है वही जैन है फिर चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति या संप्रदाय से हो। सामायिक साधना का लक्ष्य मात्र द्रव्य से 48 मिनट तक एक स्थान पर बैठना नहीं, अपितु भावों को बाह्य प्रपंचों से हटाकर स्वयं में स्थिर करना है।

दूसरे आवश्यक के रूप में चतुर्विंशतिस्तव का वर्णन किया गया है। अरिहंत परमात्मा का नाम स्मरण ही साधक में परमात्म गुणों का प्रकटन कर देता है। यह आवश्यक न केवल तीर्थंकर परमात्मा की स्तवना से सम्बन्धित है अपितु स्वयं में तीर्थंकरत्व को जागृत करने की अपूर्व विधि है। इस पंचम आरे में परमात्म भक्ति को ही मोक्ष का परम आधार माना गया है। इस आवश्यक की साधना का लक्ष्य समत्व गुण से अभिसिंचित आत्मभूमि में परम पद रूपी वृक्ष का बीजारोपण है।

वंदन आवश्यक लघुता गुण को प्रकट करते हुए गुरु के प्रति विनय एवं समर्पण भाव जागृत करता है तथा अहंकार का मर्दन कर ऋजु भाव उत्पन्न

करता है। यथार्थ में ऋजुता, लाघवता, सरलता आदि आत्मगुणों का जागरण ही शुद्ध स्वरूप प्राप्ति का मुख्य सोपान है।

चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक स्वकृत पापों का स्मरण कर उनसे पीछे हटने की क्रिया है। जब साधक में समभाव दशा विकसित होती है तब विनय, सरलता आदि गुणों में रमण करते हुए वह शारीरिक राग से हटकर आत्मरागी बनता है और स्व दोषों को परिष्कृत करते हुए आत्म स्वरूप में निखार लाता है।

पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक स्वदेह के प्रति रहे ममत्व एवं आसक्ति को न्यून करने में सहायक बनता है। इस आवश्यक क्रिया के द्वारा व्यक्ति आत्म साधना में लीन होकर बाह्य जगत से अन्तर जगत की ओर अभिमुख होने की कला विकसित करता है।

इस तरह दोष रूपी शल्य एवं विजातीय तत्त्वों के निकलने और आत्म रमणता बढ़ने से मनो जगत की भूमिका सद्गुणों के सिंचन के लिए उपजाऊ एवं पोली बन जाती है और तब छठवाँ प्रत्याख्यान रूपी बाँध लगाकर आत्मा को पुनः उन्हीं दोषों के द्वारा मलिन होने से बचाया जा सकता है। इस प्रकार निवृत्ति मार्ग पर बढ़ने में प्रत्याख्यान Mile stone की भाँति सहायक बनता है।

संक्षेप में कहें तो षडावश्यक की साधना व्यक्ति में सद्गुणों का सृजन करते हुए आत्मानंदी जीवन जीने का मार्ग बताती है। हमारे पूर्वाचार्यों ने इस आवश्यक क्रिया के सम्बन्ध में कई निर्युक्तियाँ, चूर्णि एवं भाष्य आदि लिखे हैं जो इसकी महत्ता को सूचित करते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी यदि चिंतन किया जाए तो आज के भोगवादी, विलास युक्त, अतृप्त लालसा एवं तृष्णामय युग में षडावश्यक सुख-शांति एवं संतोषपूर्ण जीवन प्रदान कर सकता है। साथ ही प्रतिस्पर्धात्मक एवं भाग दौड़ की Life में यह आत्मिक शान्ति भी प्रदान करता है।

जैन मान्यता में साधु एवं गृहस्थ वर्ग के लिए इस धर्मक्रिया को उभय संध्याओं की नित्य क्रिया के रूप में स्वीकारा गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इसके विविध पक्ष निम्न सात अध्यायों में विभाजित है-

प्रथम अध्याय में आवश्यक का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेदों का शास्त्रीय निरूपण करते हुए तत्सम्बन्धी अन्य अनेक विषयों को उद्घाटित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सामायिक का विस्तृत प्रतिपादन करते हुए तद्विषयक

कई मुख्य घटकों एवं रहस्यों को उजागर किया गया है।

तृतीय अध्याय चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति से सम्बन्धित है। इसमें चतुर्विंशतिस्तव का प्रतीकात्मक अर्थ, तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति आवश्यक रूप क्यों? चतुर्विंशतिस्तव में छह आवश्यकों का समावेश कैसे? इस तरह के अनछुए विषयों का तात्त्विक विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वन्दन आवश्यक का मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करते हुए वन्दन योग्य कौन? वन्दन कब? वन्दन कितनी बार? वन्दन आवश्यक रूप क्यों? ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का भी निरूपण किया है।

पाँचवें अध्याय में प्रतिक्रमण आवश्यक की सामान्य विवेचना ही की गई है क्योंकि विस्तार भय से यह वर्णन खण्ड-12 में स्वतन्त्र रूप से किया गया है।

छठवें अध्याय में कायोत्सर्ग आवश्यक का मनोवैज्ञानिक अनुसंधान करते हुए कायोत्सर्ग की तुलना प्रत्याहार, हठयोग, श्वासोश्वास, कायगुप्ति, ध्यान, विपश्यना, प्रेक्षाध्यान आदि से की गई है।

सातवाँ अध्याय प्रत्याख्यान के व्यावहारिक एवं पारमार्थिक पहलुओं को प्रस्तुत करता है। इसमें मुख्य रूप से प्रत्याख्यान में कितने आगार (छूट) रखे जा सकते हैं? प्रत्याख्यान शोधि-अशोधि के कितने स्थान है? प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण का परस्पर क्या सम्बन्ध है? वर्तमान सन्दर्भ में प्रत्याख्यान कितना प्रासंगिक है? इस तरह के कई तथ्यों को शास्त्रीय प्रमाण से विश्लेषित किया गया है।

प्रस्तुत शोध की मुख्य विशेषता यह भी है कि इस कृति में षडावश्यक के समग्र मुद्दों पर विचार किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय का अन्तिम चरण उपसंहार एवं समीक्षात्मक अध्ययन के रूप में प्रस्तुत किया है।

चतुर्विध संघ के लिए षडावश्यक एक मुख्य क्रिया है। इसकी सम्यक् साधना भव्य जीवों को मुक्ति मार्ग पर प्रयाण करवा सकती है। वर्तमान में इस महत्त्वपूर्ण क्रिया के प्रति बढ़ते उपेक्षा भाव एवं इसकी महत्ता और आवश्यकता के प्रति अज्ञेयता में यह कृति एक सर्च लाईट के समान पथ प्रकाशक बने तथा भौतिकता एवं भोगवाद में जकड़ रहे मानव समाज को मानवता एवं अध्यात्म के मार्ग पर बढ़ा सके इन्हीं भावों के साथ।

●

कृतज्ञता ज्ञापन

जगनाथ जगदानंद जगगुरू, अरिहंत प्रभु जग हितकरं
दिया दिव्य अनुभव ज्ञान सुखकर, मारग अहिंसा श्रेष्ठतम्
तुम नाम सुमिरण शान्तिदायक, विघ्न सर्व विनाशकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।1।।

संताप हर्ता शान्ति कर्ता, सिद्धचक्र वन्दन सुखकरं
लब्धिवंत गौतम ध्यान से, विनय हो वृद्धिकरं
दत्त-कुशल मणि-चन्द्र गुरुवर, सर्व वांछित पूरकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।2।।

जन जागृति दिव्य दूत है, सूरिपद वलि शोभितम्
सद्ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर, दिया शास्त्र चिन्तन हितकरं
कैलाश सूरिवर गच्छनायक, सद्‌बोधबुद्धि दायकम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।3।।

श्रुत साधना की सफलता में, जो कुछ किया निस्वार्थतम्
आशीष वृष्टि स्नेह दृष्टि, दी प्रेरणा नित भव्यतम्
सूरि 'पद्म' 'कीर्ति' 'राजयश' का, उपकार मुझ पर अगणितम् ।
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।4।।

ज्योतिष विशारद युग प्रभाकर, उपाध्याय मणिप्रभ गुरुवरं
समाधान दे संशय हरे, मुझ शोध मार्ग दिवाकरम्
सद्‌भाव जल से मुनि पीयूष ने, किया उत्साह वर्धनम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।5।।

उल्लास ऊर्जा नित बढ़ाते, आत्मीय 'प्रशांत' गणिवरं
दे प्रबोध मुझको दूर से, भ्राता 'विमल' मंगलकरं
विधि ग्रन्थों से अवगत किया, यशधारी 'रत्न' मुनिवरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।6।।

हाथ जिनका थामकर, किया संयम मार्ग आरोहणम्
अनुसरण कर पाऊं उनका, है यही मन वांछितम्
सज्जन कृपा से होत है, दुःसाध्य कार्य शीघ्रतम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।7।।

कल्पतरू सा सुख मिले, शरणागति सौख्यकरम्
तप-ज्ञान रूचि के जागरण में, आधार हैं जिनका परम्
मुझ जीवन शिल्पी-दृढ़ संकल्पी, गुरू 'शशि' शीतल गुणकरम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।8।।

'प्रियदर्शना' सत्प्रेरणा से, किया शोध कार्य शतगुणम्
गुरु भगिनी मंडल सहाय से, कार्य सिद्धि शीघ्रतम्
उपकार सुमिरण उन सभी का, धरी भावना वृद्धिकरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।9।।

जिन स्थानों से प्रणयन किया, यह शोध कार्य मुख्यतम्
पार्श्वनाथ विद्यापीठ (शाजापुर, बनारस) की, मिली छत्रछाया सुखकरम्
जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) है, पूर्णाहुति साक्ष्य जयकरं
हो वन्दना नित वन्दना, है नगर कार्य सिद्धिकरम् ।।10।।

साधु नहीं पर साधकों के, आदर्श मूर्ति उच्चतम्
श्रुत ज्ञानसागर संशय निवारक, आचरण सम्प्रेरकम्
इस कृति के उद्धार में, निर्देश जिनका मुख्यतम्
शासन प्रभावक सागरमलजी, किं करुं गुण गौरवम्।।11।।

अबोध हूँ, अल्पज्ञ हूँ, छद्मस्थ हूँ कर्म आवृतम्
अनुमोदना करुं उन सभी की, त्रिविध योगे अर्पितम्
जिन वाणी विपरीत हो लिखा, तो क्षमा हो मुझ दुष्कृतम्
श्रुत सिन्धु में अर्पित करुं, शोध मन्थन नवनीतम्।।12।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी-

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरू बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

lii... **षड़ावश्यक की उपादेयता भौतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में**

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्कक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : जैन धर्म में प्रचलित आवश्यक का स्वरूप एवं उसके भेद **1-43**

1. आवश्यक शब्द का अर्थ विमर्श 2. आवश्यक की गीतार्थ विहित परिभाषाएँ 3. आवश्यक के आगमिक पर्याय 4. आवश्यक के शास्त्र निर्दिष्ट प्रकार 5. श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य आवश्यकों की तुलना 6. आवश्यकों का क्रम वैशिष्ट्य 7. आवश्यकों की उपादेयता 8. आवश्यक क्रिया का महत्त्व 9. विविध सन्दर्भों में षडावश्यक की प्रासंगिकता 10. षडावश्यक क्रियाओं में पाठ-भेद एवं विधि-भेद क्यों? 11. आवश्यक के कर्त्ता कौन? 12. आवश्यक सूत्रों का रचनाकाल 13. आवश्यक क्रिया के मूलसूत्र सम्बन्धी विमर्श 14. आवश्यकसूत्र एवं उसका व्याख्या साहित्य 15. उपसंहार।

अध्याय-2 : सामायिक आवश्यक का मौलिक विश्लेषण **44-129**

1. सामायिक के विभिन्न अर्थ 2. सामायिक की शास्त्रीय परिभाषाएँ 3. सामायिक का रूढ़ार्थ 4. सामायिक का अर्थ गांभीर्य 5. सामायिक के पर्यायवाची 6. सामायिक के विभिन्न प्रकार 7. विविध दृष्टियों से सामायिक 8. सामायिक और ज्ञान 9. सामायिक और कर्मस्थिति 10. सामायिक और संज्ञी- असंज्ञी 11. सामायिक और आहारक पर्याप्तक 12. सामायिक और गति 13. सामायिक चारित्र और गुप्ति में अन्तर 14. सामायिक चारित्र और समिति में अन्तर 15. सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में अन्तर 16. सामायिक आवश्यक की मौलिकता 17. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामायिक का प्रासंगिक स्वरूप 18. सामायिक से होने वाले लाभ 19. सामायिक के उपकरणों का स्वरूप एवं प्रयोजन 20. सामायिक के दोष 21. सामायिक व्रती की आवश्यक योग्यताएँ 22. सामायिक का कर्त्ता कौन? 23. सामायिक में चिन्तन योग्य भावनाएँ 24. सामायिक की उपस्थिति किन जीवों में? 25. सामायिक का

उद्देश्य 26. साध्य-साधक और साधना का परस्पर सम्बन्ध 27. सामायिक में चित्त शांति के उपाय 28. समता का तात्पर्यार्थ? 29. सामायिक व्रत में प्रयुक्त सामग्री 30. सामायिक शुद्धि के प्रकार 31. आसन का वैज्ञानिक रहस्य 32. सामायिक दिशा पूर्व या उत्तर ही क्यों? 33. सामायिक का सामान्य काल दो घड़ी ही क्यों? 34. सामायिक कब करनी चाहिए? 35. समत्व, सम्यक्त्व और सामायिक में भेद या अभेद? 36. व्यवहार सामायिक भी अर्थकारी है? 37. सामायिक आवश्यक की ऐतिहासिक अवधारणा 38. जैन धर्म की विभिन्न परम्पराओं में सामायिक ग्रहण एवं पारण विधि 39. सामायिकसूत्र : एक विश्लेषण • करेमिभंते सूत्र में छः आवश्यक • करेमिभंते सूत्र का विशिष्टार्थ एवं तात्पर्यार्थ 40. सामायिक पाठ प्राकृत भाषा में ही क्यों? 41. तुलनात्मक विवेचन 42. उपसंहार।

अध्याय-3 : चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का तात्त्विक विवेचन 130-170

1. चतुर्विंशतिस्तव का अर्थ एवं परिभाषाएँ 2. चतुर्विंशतिस्तव के पर्यायवाची 3. चतुर्विंशतिस्तव का प्रतीकात्मक अर्थ 4. जैन आगमों में चतुर्विंशतिस्तव के प्रकार 5. तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति ही आवश्यक रूप क्यों? 6. चतुर्विंशतिस्तव दूसरा आवश्यक क्यों? 7. चतुर्विंशतिस्तव (सद्भूत गुणोत्कीर्तन) का महत्त्व 8. चतुर्विंशति आवश्यक की उपादेयता 9. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक की प्रासंगिकता 10. चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य 11. जैन दर्शन में स्तुति का स्वरूप एवं उसके प्रकार 12. चतुर्विंशतिस्तव एक मार्मिक विश्लेषण 13. चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी साहित्य 14. चतुर्विंशतिस्तव में गर्भित नव त्रिक 15. चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्ससूत्र) में छः आवश्यक कैसे? 16. उपसंहार।

अध्याय-4 : वन्दन आवश्यक का रहस्यात्मक अन्वेषण 171-242

1. वन्दन शब्द का अर्थ विमर्श 2. वन्दन की शास्त्र सम्मत परिभाषाएँ 3. वन्दन के पर्यायवाची एवं उनके दृष्टान्त 4. वन्दन के प्रकार 5. गुरुवन्दन विधि 6. मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन विधि 7. संडाशक प्रमार्जन विधि 8. वन्दन आवश्यक में प्रयुक्त सूत्रों का परिचय 9. कृतिकर्म करने का अधिकारी कौन?

10. वन्दन योग्य कौन? 11. वन्दनीय को वन्दन कब करना चाहिए? 12. वन्दनीय को वन्दन कब नहीं करना चाहिए? 13. वन्दना करवाने के अपवाद 14. कृतिकर्म कहाँ स्थित होकर करना चाहिए? 15. कृतिकर्म (द्वादशावर्त्त वन्दन) कब करना चाहिए? 16. कृतिकर्म कितनी बार करना चाहिए? 17. सुगुरुवंदनसूत्र, भक्तिपाठ आदि क्रियाकर्म आवश्यक क्यों? 18. अवन्दनीय कौन? 19. गुरु सम्बन्धी तैतीस आशातनाएँ 20. गुरु वन्दना के बत्तीस दोष 21. मोक्षमार्ग में वन्दन का स्थान 22. वन्दन आवश्यक का उद्देश्य 23. वन्दन आवश्यक की मूल्यवत्ता 24. आधुनिक सन्दर्भ में वंदन आवश्यक की प्रासंगिकता 25. उपसंहार।

अध्याय-5 : प्रतिक्रमण आवश्यक का अर्थ गांभीर्य 243-250

अध्याय-6 : कायोत्सर्ग आवश्यक का मनोवैज्ञानिक अनुसंधान 251-316

1. कायोत्सर्ग का अर्थ विन्यास 2. कायोत्सर्ग की शास्त्रोक्त परिभाषाएँ 3. कायोत्सर्ग के पर्यायवाची 4. कायोत्सर्ग के विविध प्रकार 5. कायोत्सर्ग में संभावित दोष 6. कायोत्सर्ग के आगार 7. कायोत्सर्ग के योग्य दिशा, क्षेत्र एवं मुद्राएँ 8. कायोत्सर्ग का कालमान 9. कायोत्सर्ग भंग के अपवाद 10. किन स्थितियों में कितने कायोत्सर्ग करें? 11. कायोत्सर्ग और प्रत्याहार 12. कायोत्सर्ग और हठयोग 13. कायोत्सर्ग और श्वासोश्वास 14. कायोत्सर्ग और कायगुप्ति 15. कायोत्सर्ग और ध्यान 16. कायोत्सर्ग और विपश्यना 17. कायोत्सर्ग और प्रेक्षाध्यान 18. कायोत्सर्ग और समाधि 19. कायोत्सर्ग की आवश्यकता क्यों? 20. कायोत्सर्ग के प्रयोजन 21. कायोत्सर्ग के लाभ 22. विविध दृष्टियों से कायोत्सर्ग आवश्यक की उपादेयता 23. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कायोत्सर्ग का मूल्य 24. कायोत्सर्ग का अधिकारी कौन? 25. कायोत्सर्गसूत्र : एक परिचय 26. उपसंहार।

अध्याय-7 : प्रत्याख्यान आवश्यक का शास्त्रीय अनुचिन्तन 317-399

1. प्रत्याख्यान का अर्थ विनियोग 2. प्रत्याख्यान की मौलिक परिभाषाएँ 3. प्रत्याख्यान के पर्याय 4. प्रत्याख्यान के प्रकार 5. प्रत्याख्यान विशोधि के

स्थान 6. प्रत्याख्यान की अशोधि के स्थान 7. प्रत्याख्यानी-प्रत्याख्याता की दृष्टि से चतुर्भंगी 8. प्रत्याख्यान ग्रहण विधि 9. प्रत्याख्यान के आगार सम्बन्धी तालिका 10. प्रत्याख्यान के भेदोपभेद सम्बन्धी तालिका 11. प्रत्याख्यान के आगारों का स्वरूप 12. प्रत्याख्यान में आगार रखने का प्रयोजन 13. प्रत्याख्यान के विकल्प 14. प्रत्याख्यान पाठ की उच्चार विधि 15. प्रत्याख्यान के उच्चार स्थान 16. पाणस्स प्रत्याख्यान ग्रहण करने के स्थान 17. प्रत्याख्यान प्रतिपादन विधि 18. प्रत्याख्यान पालन विधि 19. प्रत्याख्यान पाठ सम्बन्धी स्पष्टीकरण 20. प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पारस्परिक सम्बन्ध 21. आहार के प्रकार 22. किस प्रत्याख्यान में कितने आहार का त्याग? 23. प्रत्याख्यान व्रत सम्बन्धी वर्जनीय दलीलें 24. तीस नीवियाता 25. प्रत्याख्यान की आवश्यकता क्यों? 26. प्रत्याख्यान आवश्यक का प्रयोजन 27. प्रत्याख्यान आवश्यक की उपादेयता 28. आधुनिक सन्दर्भ में प्रत्याख्यान आवश्यक की प्रासंगिकता 29. उपसंहार।

सहायक ग्रन्थ सूची **400-410**

●

अध्याय-1

आवश्यक का स्वरूप एवं उसके भेद

आवश्यक जैन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इस क्रिया के नाम से ही इसके अर्थ का सहज बोध हो जाता है। यह क्रिया साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के लिए उभय सन्ध्याओं में अवश्य करने योग्य होने से इसका आवश्यक नाम पूर्णत: सार्थक है। वर्तमान में यह क्रिया प्रतिक्रमण के नाम से सुप्रसिद्ध है।

सामान्यत: अनादिकालीन दुष्कर्मों का क्षय, नवीन कर्मों का संवर और मैत्री आदि सद्गुणों का उत्कर्ष करने के लिए यह एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसके द्वारा जीवन शुद्धि या दोषों का अपनयन ही नहीं होता अपितु परम्परा से स्व-स्वरूप की उपलब्धि भी होती है।

आवश्यक शब्द का अर्थ विमर्श

जो अवश्य करने योग्य हो, वह आवश्यक है।[1] आवश्यक शब्द में 'आङ्' उपसर्ग एवं 'वस्' धातु का संयोग है। आङ् उपसर्ग मर्यादावाची है और 'वस्' धातु आश्रयवाची है। आवश्यक का एक नाम आपाश्रय (आधार) भी है।[2] इस निरूक्ति के अनुसार जो मर्यादापूर्वक अथवा सम्यक विधिपूर्वक गुणों के आश्रयभूत है वह आपाश्रय अर्थात आवश्यक है।[3]

विशेषावश्यक भाष्य की टीका में 'आवस्सय' शब्द के चार संस्कृत रूप प्राप्त होते हैं। उनका निर्वचन इस प्रकार है–

1. **आवश्यक–** जो श्रमणों और श्रावकों के लिए दोनों संध्याओं में अवश्य करणीय है।

2. **आपाश्रय–** जो गुणों का आधार है।

3. **आवश्य–** जो व्यक्ति को ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के अधीन बनाता है यानी जीवन में इन गुणों का सृजन करता है।

4. **आवासक**– जो आत्मा को गुणों से वासित करता है वह आवासक अर्थात आवश्यक है।[4]

आवश्यक का सामान्य अर्थ अवश्य करणीय नित्यकर्म या धर्मानुष्ठान है। भगवती आराधना टीका में आवश्यक का व्युत्पत्ति अर्थ करते हुए कहा गया है– अवश अर्थात जिनको करना या न करना हमारी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं हो ऐसे कर्म आवश्यक हैं। आवश्यक का तात्पर्य सामायिकादि छः अवश्य करणीय अनुष्ठान से है।[5]

आवासक का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं वे आवासक–आवश्यक हैं।[6] सुस्पष्ट है कि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान– ये छः प्रकार के कर्म आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं अतः आवश्यक है।

आवश्यक की गीतार्थ विहित परिभाषाएँ

जैन साहित्य में आवश्यक नाम की विभिन्न परिभाषाएँ उल्लिखित हैं– नन्दी टीका में आवश्यक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि अवश्य करणीय सामायिक आदि क्रियानुष्ठान आवश्यक है। इन अनुष्ठानों का प्रतिपादक शास्त्र भी आवश्यक कहलाता है।[7]

• विशेषावश्यक टीका के अनुसार जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र– इन तीनों का साधक है और प्रतिनियत काल में अनुष्ठेय है, वह आवश्यक है। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना से लेकर दिन-रात में करणीय चक्रवाल सामाचारी की समस्त क्रियाएँ आवश्यक कहलाती है।[8]

• अनुयोगद्वार चूर्णि में आवश्यक की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि जो गुण शून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवासक आवश्यक है।[9]

• अनुयोगद्वार टीका में लिखा गया है कि जो समस्त गुणों का निवास स्थान है वह आवासक या आवश्यक है।[10] अनुयोगद्वार में आवश्यक की निम्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई है–

आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सर्व प्रकार से गुणों के वश्य (अधीन) करे वह आवश्यक है।[11]

जिसके द्वारा इन्द्रिय और कषाय आदि भाव शत्रु सर्व प्रकार से वश में किए जाते हैं, वह आवश्यक है।[12]

जो गुणशून्य आत्मा को गुणों के द्वारा पूर्णतः वासित करता है, वह आवश्यक है।[13]

• मूलाचार एवं नियमसार के उल्लेखानुसार जो राग-द्वेष रूप कषाय के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश के द्वारा किया गया आचरण आवश्यक है। वह (कर्म मुक्त होने की) युक्ति है, वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करने का उपाय है, उससे जीव निरवयव (सिद्ध) होता है।[14]

उक्त परिभाषा का गूढ़ार्थ यह है कि जो योगी आत्मा के ज्ञान आदि परिग्रह के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश में नहीं होता वह अवश कहा जाता है, उस अवश योगी को निश्चय धर्म ध्यान स्वरूप आवश्यक कर्म अवश्य होता है। इस प्रकार आवश्यक कर्म सिद्धावस्था को समुपलब्ध करने का प्रत्यक्ष कारण है।

• जीवन में अनेक आवश्यक कर्म हैं– किन्तु यहाँ आवश्यक से अभिप्रेत लौकिक क्रिया नहीं, अपितु लोकोत्तर क्रिया है। आवश्यक सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों से यह परिलक्षित होता है कि यह क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है। आवश्यक सूत्र में वर्णित सामग्री नामकरण की सार्थकता को सिद्ध करती हैं।

• अर्थ विश्लेषण की दृष्टि से प्राकृत भाषा के 'आवस्सय' शब्द के संस्कृत भाषा में अनेक रूप बनते हैं। जैसे– आवश्यक, आपाश्रय और आवासक। इनमें से आवश्यक शब्द सर्वाधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। आवश्यक शब्द का पद विश्लेषण करने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है– 'आ' भली प्रकार 'वश्यक' वश किया जाये अर्थात ज्ञानादि गुणों के लिए इन्द्रिय एवं क्रोध आदि कषाय रूप भावशत्रु जिसके द्वारा (वश्य) वश में किया जायें अथवा पराजित किये जायें वह आवश्यक है। इस निर्वचन का तात्पर्य आत्मगुणों की अभिवृद्धि एवं आत्मा अवगुणों का ह्रास होना है।

अनगारधर्मामृत के अनुसार जो इन्द्रियों के वश्य-आधीन नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं, ऐसे साधकों के द्वारा अहोरात्रि में करने योग्य सत्कर्मों का नाम ही आवश्यक है।[15]

आवश्यक के पर्याय

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम मिलते हैं– 1. आवश्यक 2. अवश्यकरणीय 3. ध्रुवनिग्रह 4. विशोधि 5. अध्ययनषट्क वर्ग 6. न्याय 7. आराधना और 8. मार्ग। ये पर्याय एकार्थक न होकर आवश्यक के विविध गुणों को प्रकट करते हैं।[16] इनका सामान्य स्वरूप निम्नोक्त हैं–

1. आवश्यक– अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। सामायिक आदि की साधना श्रमण एवं गृहस्थ दोनों के द्वारा निश्चित रूप से

किये जाने योग्य होने से आवश्यक है अथवा जिसके द्वारा ज्ञानादि गुणों और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह आवश्यक है।

2. अवश्यकरणीय– मोक्षाभिलाषी साधकों द्वारा नियम से अनुष्ठेय होने के कारण यह अवश्यकरणीय कहलाता है।

3. ध्रुवनिग्रह– आवश्यक क्रिया के द्वारा कर्म, कषाय और इन्द्रियों का निश्चित रूप से निग्रह होता है अतः इसका नाम ध्रुवनिग्रह है।[17] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आवश्यक दिनचर्या और रात्रिचर्या का निश्चित रूप से नियमन करने वाला है, इसलिए इसका नाम ध्रुवनिग्रह है।[18] विशेषावश्यकभाष्य की टीका में ध्रुव और निग्रह इन दोनों पदों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की गयी है। उसके अनुसार आवश्यक कर्म ध्रुव या शाश्वत होने के कारण इसका एक नाम ध्रुव है तथा इसके द्वारा विषय-कषाय रूप भाव शत्रु का निग्रह होता है अतः इसका एक नाम निग्रह भी है।[19]

4. विशोधि– कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने के कारण आवश्यक विशोधि कहलाता है।

5. अध्ययनषट्क वर्ग– यह सामायिक आदि छः अध्ययनों का समूह है अतः इसका नाम अध्ययनषट्क वर्ग है। विशेषावश्यकभाष्य के टीकाकार ने 'अज्झयणछक्क' और 'वग्ग'– इन दोनों पदों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। उनके अनुसार सामायिक आदि छः अध्ययनों से युक्त होने के कारण आवश्यक का एक नाम अध्ययनषट्क है तथा रागादि दोषों का दूर से परिहार करने के कारण एक नाम वर्ग या वर्ज है।[20]

6. न्याय– अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक उपाय होने से इसका नाम न्याय है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार जीव और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण इसका नाम न्याय है।[21]

7. आराधना– इस क्रिया के द्वारा मोक्ष अथवा सर्व प्रशस्त भावों की आराधना होती है अतः आराधना नाम है।

8. मार्ग– मार्ग का एक अर्थ उपाय है। यह मोक्ष तक पहुँचाने का मुख्य उपाय है अतः आवश्यक का एक नाम मार्ग है।

विशेषावश्यकभाष्य में ध्रुव और निग्रह, अध्ययनषट्क और वर्ग इन दो नामों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है इस अपेक्षा से आवश्यक के दस पर्यायवाची नाम होते हैं।

आवश्यक के प्रकार

षड्विध– नन्दी सूत्र में आवश्यक के छ: प्रकार प्रज्ञप्त हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वन्दन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।[22]

अनुयोगद्वार सूत्र में इन छ: प्रकारों के अर्थाधिकार अर्थात युक्तिसंगत अर्थ बतलाये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन आवश्यक कर्मों के द्वारा जो करणीय है उसका बोध अर्थाधिकार से होता है। आवश्यक के छह अर्थाधिकार (व्यवहार में प्रचलित नाम) ये हैं– 1. सावद्य योग विरति 2. उत्कीर्त्तन 3. गुणवत प्रतिपत्ति 4. स्खलित निन्दा 5. व्रण चिकित्सा और 6. गुण धारणा।[23]

सामायिक अध्ययन का प्रतिपाद्य है– हिंसा, असत्य आदि सावद्य और पापकारी प्रवृत्तियों से विरत होना।

चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन का प्रतिपाद्य है– सावद्ययोग की विरति द्वारा मुक्तदशा को उपलब्ध करने वाले एवं सावद्ययोग विरति का उपदेश देने वाले तीर्थंकर पुरुषों के गुणों का स्तवन-उत्कीर्त्तन करना अथवा दर्शन विशोधि, पुनर्बोधिलाभ और कर्मक्षय के लिए अनन्त उपकारी महापुरुषों का गुणगान करना।

वन्दन अध्ययन का युक्त्यर्थ है– सावद्ययोग से उपरत होने के लिए तत्परशील एवं गुणवान ऐसे संयमी साधकों का आदर-सम्मान करना अथवा चारित्र सम्पन्न एवं गुण सम्पन्न व्यक्तियों का वन्दन, नमस्कार आदि के द्वारा सम्मान-बहुमान करना।

प्रतिक्रमण अध्ययन का प्रतिपाद्य है– मूलगुणों और उत्तरगुणों में स्खलना होने पर विशुद्ध भावों के स्मरण पूर्वक उनकी निन्दा-गर्हा करना।

कायोत्सर्ग अध्ययन का युक्त्यर्थ है– स्वीकृत साधना में लगे हुए दोष रूप व्रण यानी अतिचारजन्य भाव व्रण (घाव) का आलोचना आदि दस प्रकार के प्रायश्चित्त रूप औषधोपचार द्वारा निराकरण करना।

प्रत्याख्यान अध्ययन का अर्थ है– मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्बन्धी पूर्वकृत दोषों का प्रायश्चित्त द्वारा विशोधन करके उन्हें निर्दोष रूप से धारण करना अथवा मूल एवं उत्तरगुणों का निरतिचार रूप से पालन करना।[24]

चतुर्विध– आवश्यक स्वरूप का प्रतिपादन करने की अपेक्षा से अनुयोगद्वार सूत्र में निक्षेप के चार भेद बतलाए गए हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है –[25]

6...षडावश्यक की उपादेयता भौतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में

1. नाम आवश्यक– नाम अभिधान या संज्ञा को कहते हैं। अतएव तदात्मक आवश्यक नाम आवश्यक कहलाता है। नाम आवश्यक में नाम ही आवश्यक रूप होता है अथवा नाम मात्र से जो आवश्यक कहलाये, वह नाम आवश्यक है। सूत्रत: जिस किसी जीव या अजीव का अथवा जीवों या अजीवों का अथवा तदुभयों का लोक व्यवहार चलाने के लिए 'आवश्यक' ऐसा नाम रख लिया जाता है, उसे नाम आवश्यक कहते हैं।

एक जीव में नाम आवश्यक का प्रयोग इस प्रकार जाने– जैसे किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम देवदत्त रखा, वस्तुत: उसे देव ने दिया नहीं है फिर भी लोक व्यवहार के लिए ऐसा कहा जाता है। इसी तरह भाव आवश्यक से शून्य किसी जीव-अजीव का व्यवहारार्थ आवश्यक नामकरण जीवापेक्षा से नाम आवश्यक है।

एक अजीव में नाम आवश्यक का प्रयोग इस प्रकार जानना चाहिए– आवश्यक शब्द का एक अर्थ आवास भी है, उस अपेक्षा से सूखे अचित्त अनेक कोटरों से व्याप्त वृक्षादि में 'यह सर्प का आवास है' इस नाम से लोकव्यवहार होता है यह अजीव की दृष्टि से नाम आवश्यक है।

अनेक जीवों में 'आवासक' यह नाम इस प्रकार घटित होता है– जैसे इष्टिकापाक (ईंट पकाने योग्य) आदि की अग्नि में अनेक मूषिकायें सम्मूर्च्छन जन्म धारण करती है। इस अपेक्षा से वह इष्टिकापाक आदि की अग्नि मूषिकावास रूप कही जाती है। इस प्रकार उन असंख्यात जीवों का 'आवासक' यह नाम सिद्ध होता है।

अनेक अजीवों में नाम आवासक इस प्रकार जानना चाहिए– जैसे घोंसला अनेक अजीव तिनकों से निर्मित होता है और उसमें पक्षी रहने से 'यह पक्षियों का आवासक है' ऐसा कहा जाता है अत: लोकव्यवहार में अनेक अजीवों में भी आवासक नाम सिद्ध होता है।

जीव और अजीव इन दोनों में आवासक नाम इस प्रकार है– जैसे जलाशय, उद्यान आदि से युक्त राजमहल 'राजा का आवास' इस नाम से कहा जाता है। वहाँ जलाशय आदि सचित्त और ईंट आदि अचित्त है और इन दोनों से निष्पन्न राजमहल आवास रूप होने से आवासक नामनिक्षेप का विषय बनता है इस प्रकार अनेक जीवों और अजीवों के सम्मिलित रूप में भी आवासक नाम सिद्ध होता है।[26]

2. स्थापना आवश्यक– काष्ठाकृति, चित्राकृति, लेप्याकृति में अथवा गूंथकर, वेष्टित कर, भरकर या निर्मित पुतली में अथवा अक्ष या कौड़ी में एक या अनेक बार सद्भाव स्थापना (यथार्थ आकृति) अथवा असद्भाव स्थापना (काल्पनिक आरोपण) के द्वारा आवश्यक का जो रूपांकन या कल्पना की जाती है, वह स्थापना आवश्यक है।[27]

इस आवश्यक का स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि 'अमुक यह है' इस अभिप्राय से जो स्थापना की जाती है वह मात्र स्थापना है तथा काष्ठ आदि में आवश्यकवान श्रावक आदि रूप जो स्थापना की जाती है वह स्थापना आवश्यक है अथवा भाव आवश्यक से रहित वस्तु में भाव आवश्यक के अभिप्राय से स्थापना करना, स्थापना आवश्यक है।[28]

यह स्थापना तदाकार और अतदाकार दो प्रकार की होती है। स्वरूपत: नाम और स्थापना आवश्यक में कोई अन्तर नहीं है जैसे– भाव आवश्यक से शून्य वस्तु में नाम निक्षेप किया जाता है उसी प्रकार भाव से शून्य वस्तु में तदाकार या अतदाकार स्थापना भी की जाती है। अतएव भाव शून्यता की अपेक्षा दोनों में समानता है, परन्तु काल मर्यादा की अपेक्षा दोनों पृथक्-पृथक् हैं। नाम अपने द्रव्य के आश्रित होने से व्यक्ति के अस्तित्व काल तक रहता है अत: यावत्कथिक है जबकि स्थापना अल्प काल के लिए और यावत्कथिक दोनों तरह की होती है।[29]

यहाँ ज्ञातव्य है कि नाम और स्थापना आवश्यक व्यवहार्य होने से इसके भेद-प्रभेद नहीं दिखलाये गये हैं।

3. द्रव्य आवश्यक– चैतन्य केन्द्र को एकाग्र किये बिना, केवल अन्य मनस्क भाव से सूत्र-पाठों का उच्चारण करना द्रव्य आवश्यक है। इस आवश्यक में साधक की स्थिति उपयोग शून्य होने से उसके द्वारा विशुद्ध रूप से उच्चरित सूत्र पाठ भी द्रव्यश्रुत कहलाता है तथा सर्व क्रिया द्रव्य क्रिया कहलाती है।[30]

इसी प्रकार जो आवश्यक के स्वरूप का अनुभव कर चुका है अथवा भविष्य में अनुभव करेगा, किन्तु वर्तमान में आवश्यक के उपयोग से शून्य है, उस साधु का शरीर आदि भी द्रव्य-आवश्यक कहे जाते हैं।[31]

अनुयोगद्वार में द्रव्य आवश्यक के दो प्रकार बतलाये गये हैं– 1. आगमत:– ज्ञान की अपेक्षा से और 2. नोआगमत:– ज्ञानरहित क्रिया की अपेक्षा से।[32]

(i) आगमतः द्रव्य आवश्यक– जिसने सूत्र-पाठों को अच्छी तरह से अधिकृत कर लिया है, लेकिन उसके प्रयोगकाल में उपयोग शून्य है अर्थात प्रतिक्रमण आदि के सूत्र तो अच्छी तरह से कण्ठस्थ है, किन्तु उसके वाच्यार्थ के अनुरूप त्रियोग की क्रियान्विति नहीं है उसकी क्रिया आगमत: द्रव्य आवश्यक कहलाती है।[33]

अनुयोगद्वार के अनुसार जिसने 'आवश्यक' इस पद के अर्थ को जानकर हृदय में स्थिर कर लिया है और पुनरावृत्ति के द्वारा धारण कर स्मृति रूप कर लिया है, **मित–** श्लोक,पद, वर्ण आदि के संख्या प्रमाण का भलीभाँति अभ्यास कर लिया है तथा आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी पूर्वक सर्वात्मना धारण कर लिया है, **नामसम-** अपने नाम के समान स्मृति में धारण कर लिया है, **घोषसम–** उदात्तादि स्वरों के उच्चारण पूर्वक कण्ठस्थ कर लिया है, **प्रतिपूर्ण–** जिसने अक्षरों और अर्थ की अपेक्षा से मूल पाठ का अन्यूनाधिक अभ्यास कर लिया है, **कंठोष्ठविप्रमुक्त–** स्वरोत्पादक कंठादि के माध्यम से उसका स्पष्ट उच्चारण करना सीख लिया है, गुरु मुख से वाचनापूर्वक आवश्यक सूत्र को ग्रहण किया है जिससे वह उस शास्त्र की वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, धर्मकथा करने में भी दक्ष हो गया है किन्तु अनुप्रेक्षा (उपयोग) से रहित (उसे उच्चरित करते हुए चेतना सजग न) हो तो वह आगमत: द्रव्य आवश्यक है।

'अनुपयोगो द्रव्यं' इसश्र शास्त्र वचन के अनुसार भी जिसकी आवश्यक क्रिया तद्रूप उपयोग से रहित है उसे आगमत: द्रव्य आवश्यक कहते हैं। यदि पूर्वोक्त गुण सम्पन्न साधक के द्वारा उपयोग (अनुप्रेक्षा) पूर्वक आवश्यक क्रिया की जाए तो वह भाव आवश्यक कहलाता है।[34]

इस वर्णन से यह निर्विवादत: सिद्ध हो जाता है कि यदि शास्त्र पारंगत मुनि भी उपयोग शून्य हो तो उसका श्रुत द्रव्य श्रुत और उसकी क्रिया द्रव्य आवश्यक रूप ही है।

(ii) नोआगमतः द्रव्य आवश्यक– जिस व्यक्ति में ज्ञान का अभाव है, किन्तु क्रिया की अपेक्षा पूर्णता है वह आवश्यक आदि सूत्रों से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी उसके द्वारा विधिपूर्वक आवर्त्तादि क्रियाएँ करना नो आगम द्रव्य आवश्यक कहलाता है।[35]

अनुयोगद्वार में नोआगमत: द्रव्य आवश्यक तीन प्रकार का कहा गया है– (i) ज्ञशरीरद्रव्य आवश्यक (ii) भव्य शरीर द्रव्य आवश्यक (iii) ज्ञशरीर भव्य शरीर-व्यतिरिक्त द्रव्य आवश्यक।[36]

ज्ञशरीर द्रव्य आवश्यक– जिसने पहले आवश्यक शास्त्र का सविधि ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किन्तु अब पर्यायान्तरित हो जाने से उसका वह निर्जीव शरीर आवश्यक सूत्र के ज्ञान से सर्वथा रहित हो चुका है, उस मृत शरीर में भूतकाल की अपेक्षा आवश्यक सूत्र का ज्ञान स्वीकार करना नोआगम ज्ञशरीर द्रव्य आवश्यक है।[37]

यद्यपि मृत अवस्था में चेतना का अभाव होने से उस शरीर में द्रव्य आवश्यक घटित नहीं होता है तथापि भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा अतीव आवश्यक पर्याय के प्रति कारणता मानकर उसमें द्रव्य आवश्यकता मानी गई है। लोक व्यवहार में भी माना जाता है तथा जो सूत्रगत दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि पहले जिस घड़े में मधु या घृत भरा जाता था, किन्तु अब नहीं भरे जाने पर भी 'यह मधुकुंभ है, यह घृतकुंभ है' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार निर्जीव शय्यादिगत शरीर भी भूतकालीन आवश्यक पर्याय का कारण रूप आधार होने से नोआगम की अपेक्षा द्रव्य आवश्यक है।[38]

भव्य शरीर द्रव्य आवश्यक– जिस जीव ने गर्भकाल की अवधि पूर्णकर मनुष्य पर्याय की प्राप्ति के बाद भी इस पौद्‌गलिक शरीर से अर्हत उपदिष्ट आवश्यक सूत्र को अब (वर्तमान पर्याय) तक नहीं सीखा है, लेकिन भविष्य में इसका अध्येता बनेगा, इस अपेक्षा से उसमें आवश्यक सूत्र को स्वीकार करना नोआगम भव्य शरीर द्रव्य आवश्यक कहलाता है।

स्पष्ट है कि यह जीव जब तक आवश्यक आदि सूत्रों को सीख नहीं लेता, तब तक ही भव्य शरीर द्रव्य आवश्यक रूप कहलाता है। दूसरे, इस शरीर में वर्तमान की अपेक्षा आवश्यकसूत्र का अभाव होने से इसे नोआगम द्रव्य आवश्यक रूप कहा गया है।[39] इस भेद के स्पष्ट बोध के लिए यह समझ लेना भी आवश्यक है कि यद्यपि मनुष्य के वर्तमान शरीर में आवश्यक सूत्र के ज्ञान का अभाव है, लेकिन भूतकाल में सीखा था या भविष्य में सीखेगा। उसे 'भाविनि भूतवदुपचार:'– भावी में भी भूत की तरह उपचार होता है, के न्यायानुसार वह भविष्य में इसी पर्याय में आवश्यक सूत्र का ज्ञाता बनेगा, इस

अपेक्षा भावी पर्याय को ध्यान में रखकर उपचार से उसमें द्रव्य आवश्यकता स्वीकार की जाती है।[40]

ज्ञशरीर–भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्य आवश्यक– अनुयोगद्वार सूत्र में ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्य आवश्यक तीन प्रकार का बतलाया गया है– (i) लौकिक (ii) कुप्रावचनिक और (iii) लोकोत्तर।[41]

लौकिक द्रव्य आवश्यक– संसारी जीवों के द्वारा जो कृत्य अवश्य करने योग्य हैं वे सब लौकिक द्रव्य आवश्यक है जैसे– उषाकाल होने पर राजा, युवराज, सार्थवाह आदि का मुख धोना, दंत प्रक्षालन करना, तेल मालिश करना, स्नान करना, कंघी आदि से केशों को संवारना, दर्पण में मुख देखना, धूप जलाना, स्वच्छ वस्त्र पहनना आदि कार्य करते हैं और इन लौकिक आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न कर राजसभा, देवालय, उद्यान आदि की ओर जाते हैं, व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, वह लौकिक द्रव्य आवश्यक है।[42]

टीकाकार हेमचन्द्राचार्य के निर्देशानुसार यहाँ दंतप्रक्षालन आदि लौकिक आवश्यक कृत्यों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत आवश्यक की अप्रधानता की अपेक्षा से किया गया है। मोक्ष का प्रधान कारण तो भाव आवश्यक है, न कि द्रव्य आवश्यक। अतएव 'अप्पाहण्णे वि दव्वसद्दोत्थि' अप्रधान अर्थ में भी द्रव्य शब्द प्रयुक्त होता है– इस शास्त्र वचन के अनुसार अप्रधानभूत आवश्यक द्रव्य आवश्यक है तथा इन दंतधावन आदि कृत्यों में लोक प्रसिद्धि से भी आगमरूपता नहीं है, अत: इनमें आगम (आवश्यक सूत्र के ज्ञान) का अभाव होने से नोआगमता सिद्ध है।[43] इस प्रकार नोआगम लौकिक द्रव्य आवश्यक नाम का भेद सुसिद्ध होता है।

कुप्रावचनिक द्रव्य आवश्यक– अर्हत उपदेश के विपरीत सिद्धान्तों की प्ररूपणा एवं आचरण करने वाले चरक आदि कुप्रावचनिकों के द्वारा जो कृत्य अवश्य किये जाते हैं जैसे– चरक, चीरिक, चर्मखण्डिक, भिक्षाजीवी आदि के द्वारा इन्द्रादिकों की प्रतिमाओं का उपलेपन, संमार्जन आदि आवश्यक कृत्यों के रूप में किये जाते हैं, वह कुप्रावचनिक द्रव्य आवश्यक है।[44]

यहाँ चरकादि के लिए उपलेपन आदि आवश्यक कृत्य हैं अत: 'आवश्यक' पद दिया है। इन उपलेपनादि क्रियाओं में मोक्ष के कारणभूत भाव आवश्यक की अप्रधानता होने से 'द्रव्यत्व' एवं आगम के सर्वथा अभाव की अपेक्षा 'नोआगम' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक– जो श्रमण संयम धर्म के मूलोत्तर गुणों से रहित हैं, छहकाय जीवों के प्रति अनुकम्पा हीन है, अश्व की भाँति चंचल है, हस्तिवत निरंकुश है, स्निग्ध पदार्थों के द्वारा अंग-प्रत्यंगों को कोमल बनाता है, बार-बार देह प्रक्षालन करता है, तेल आदि से केशों का संस्कार करता है, श्वेत-पीत वस्त्र पहनता है और तीर्थंकर पुरुषों के आज्ञा की उपेक्षा कर स्वच्छंद विचरण करता है, किन्तु उभय सन्ध्याओं में आवश्यक करने के लिए तत्पर रहता है उसकी वह क्रिया लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक है।

स्पष्ट है कि इस लोक में श्रेष्ठ साधुओं द्वारा आचरित एवं जिनप्रवचन में वर्णित होने से यह आवश्यक लोकोत्तर कहा जाता है, किन्तु श्रमण गुण से रहित द्रव्यलिंगी साधुओं द्वारा वह आवश्यक कर्म किये जाने से मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत न होने के कारण द्रव्य आवश्यक है। इस तरह की आवश्यक क्रिया में भाव शून्यता होने से सम्यक फल की प्राप्ति नहीं होती है।

इस द्रव्य आवश्यक में 'नो' शब्द एकदेश प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रतिक्रमण क्रिया रूप एकदेश में आगम रूपता है साथ ही आवश्यक सूत्र के ज्ञान का सद्भाव होने से आगम की एकदेशता है। इस तरह क्रिया की दृष्टि से आगम का अभाव और ज्ञान की दृष्टि से आगम का सद्भाव होने से देशप्रतिषेध रूप नोआगम शब्द का व्यवहार हुआ है।[45]

4. भाव आवश्यक– विवक्षित क्रिया से युक्त अर्थ को भाव कहते हैं। मलधारी टीका के उल्लेखानुसार यहाँ भाव शब्द विवक्षित क्रिया के अनुभव से युक्त साधु आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है और उनका आवश्यक भाव आवश्यक है। जैसे ऐश्वर्य रूप इन्दन क्रिया के अनुभव से युक्त को भावतः इन्द्र कहा जाता है वैसे ही विवक्षित क्रिया के अनुभव रूप भाव की अपेक्षा जो आवश्यक किया जाता है, वह भाव आवश्यक है।[46] अनुयोगद्वार में भाव आवश्यक दो प्रकार का कहा गया है– आगमतः और नोआगमतः।[47]

(i) आगमतः भाव आवश्यक– जो आवश्यक सूत्र का ज्ञाता है और उसमें उपयोग युक्त है, वह आगम भाव आवश्यक है।[48] इसका स्पष्टार्थ यह है कि जो मुनि आवश्यक सूत्र का पूर्णतः ज्ञाता होने के साथ-साथ उसको करते समय उपयोग से भी युक्त हो उसकी क्रिया भाव आवश्यक है। आवश्यक के अर्थ के ज्ञान से युक्त उपयोग को भाव और उस भाव से युक्त आवश्यक क्रिया को आगमतः भाव आवश्यक कहते हैं।[49]

(ii) नोआगमतः भाव आवश्यक– जो साधु आवश्यक शास्त्रों का पूर्णत: ज्ञाता है किन्तु तद्रूप व्यापार में आंशिक प्रवृत्ति है तो उसकी क्रिया नोआगमत: भाव आवश्यक कहलाती है।[50]

अनुयोगद्वार में नोआगमत: भाव आवश्यक तीन प्रकार का निर्दिष्ट है– (i) लौकिक (ii) कुप्रावचनिक और (iii) लोकोत्तरिक।[51]

लौकिक भाव आवश्यक– दिन के पूर्वार्ध में महाभारत का और उत्तरार्ध में रामायण का वाचन और श्रवण करना लौकिक भाव आवश्यक है।[52]

लोक व्यवहार में आगम रूप में मान्य महाभारत, रामायण आदि का नियत समय पर वाचन और श्रवण अवश्य करने योग्य है अतएव इन शास्त्रों की पठन-पाठन रूप प्रवृत्ति लौकिक आवश्यक है और उनके अर्थ में वक्ता एवं श्रोता के उपयोग रूप परिणाम होने से भावरूपता है, किन्तु वक्ता का वचन व्यवहार, हाथ का संकेत तथा श्रोता के द्वारा कर युगल को जोड़ना आदि रूप क्रियाएँ आगम रूप नहीं है। कहा गया है कि– 'किरिया आगमों न होई'– क्रिया आगम नहीं होती है, ज्ञान ही आगम रूप है। इसलिए क्रियारूपता में आगम का अभाव होने से नोआगमता है। इस तरह एकदेश में आगमता (यथार्थता) की अपेक्षा यह नोआगम लौकिक भाव आवश्यक है।[53]

कुप्रावचनिक भाव आवश्यक– मिथ्या शास्त्रों को स्वीकार कर उसका प्रतिपादन करने वाले चरक, चर्मखण्डिक, पाखंडी आदि के द्वारा जो भाव सहित यज्ञ, होम, जाप, वंदन आदि क्रियाएँ की जाती हैं, वे कुप्रावचनिक भाव आवश्यक है।

चरक आदि द्वारा यज्ञादि क्रियाएँ अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक रूप हैं तथा इन क्रियाओं को करने वालों का उनमें उपयोग एवं श्रद्धा होने से भाव रूपता है। दूसरे इन चरक आदि का यज्ञादि क्रियाओं में उपयोग होने से देशत: आगम रूप है लेकिन हाथ, सिर आदि द्वारा होने वाली प्रवृत्ति आगम रूप नहीं है। इसलिए एकदेश प्रतिषेध रूप नोआगमता है। इस तरह एक देश में आगमता होने से यह नोआगम कुप्रावचनिक भाव आवश्यक है।[54]

लोकोत्तरिक भाव आवश्यक– जो श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविकायें मन की एकाग्रता, शुभ लेश्या एवं निर्मल अध्यवसाय से युक्त होकर तीव्र आत्मोत्साह पूर्वक तथा उसके अर्थ से उपयोग युक्त होकर व शरीरादि को

नियोजित कर दोनों समय (सुबह-शाम) में आवश्यक रूप प्रतिक्रमण आदि क्रिया करते हैं, वह लोकोत्तरिक भाव आवश्यक है।[55]

यहाँ श्रमण आदि के लिए प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक है। इन क्रियाओं को करने वालों का उनमें उपयोग प्रवर्त्तमान रहने से भाव रूपता है तथा आवश्यक क्रियाएँ स्वयं आगम रूप नहीं हैं। इस प्रकार आवश्यक क्रिया रूप एकदेश में अनागमता है, किन्तु इनके ज्ञान रूप एक देश में आगम का सद्भाव होने से यह नोआगम लोकोत्तरिक भाव आवश्यक कहलाता है।[56]

इस तरह हम देखते हैं कि द्रव्य आवश्यक और भाव आवश्यक अवान्तर भेदों वाला होने से अनेक प्रकार का है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य आवश्यकों की तुलना

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आवश्यक के छह प्रकार स्वीकृत हैं और संख्या की दृष्टि से दोनों में पूर्ण एक्य है किन्तु नाम, क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा किंचिद् भेद दिखाई देता है। श्वेताम्बर परम्परा में छह आवश्यक इस क्रम से मान्य हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।[57]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार में छह आवश्यक के नाम निम्न क्रम से मिलते हैं– 1. प्रतिक्रमण 2. प्रत्याख्यान 3. आलोचना 4. कायोत्सर्ग 5. सामायिक और 6. परम भक्ति।[58] आचार्य वट्टकेर रचित मूलाचार में छह आवश्यकों के नाम निम्न क्रम से प्राप्त होते हैं– 1. समता (सामायिक) 2. स्तव 3. वंदन 4. प्रतिक्रमण 5. प्रत्याख्यान और 6. व्युत्सर्ग।[59]

यदि उपर्युक्त नामों में अर्थ की दृष्टि से तुलना करें तो आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा मान्य आलोचना नामक तृतीय आवश्यक को छोड़कर शेष में प्राय: समानता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वीकृत परम भक्ति नामक छटवें आवश्यक को श्वेताम्बर के चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय आवश्यक के समकक्ष तथा आचार्य वट्टकेर द्वारा निर्दिष्ट व्युत्सर्ग नामक षष्ठम आवश्यक को श्वेताम्बर के कायोत्सर्ग नामक पंचम आवश्यक के समतुल्य माना जा सकता है। स्वरूपत: परम भक्ति और चतुर्विंशतिस्तव, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग में कोई अन्तर नहीं है।

यदि क्रम की अपेक्षा देखें तो श्वेताम्बर और दिगम्बर के मूलाचार में प्राय: समरूपता है केवल अन्तिम दो क्रमों में भेद हैं जबकि कुन्दकुन्द द्वारा मान्य आवश्यक क्रम में काफी अन्तर है। उन्होंने यह क्रम किस उद्देश्य से रखा है? यह विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है।

षडावश्यकों का क्रम वैशिष्ट्य

आवश्यक छह प्रकार के कहे गए हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान। आवश्यक साधना का यह क्रम कार्य-कारण भाव की शृंखला पर आधारित एवं पूर्ण वैज्ञानिक है। अन्तर्मुखी साधक के लिए सर्वप्रथम समभाव की प्राप्ति होना परमावश्यक है। साथ ही उसके जीवन का प्रधान उद्देश्य भी समत्व दशा को उपलब्ध करना होता है। टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार विरत व्यक्ति ही सामायिक साधना कर सकता है, क्योंकि सावद्य योगों से निवृत्त होने की स्थिति में ही 'आत्मवत सर्वभूतेषु' जैसे महान विचारों का आविर्भाव होता है। अत: समता अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है। आत्मतुला सिद्धान्त को यह सामायिक की साधना के द्वारा ही चरितार्थ करना संभव है अत: इस आवश्यक को प्रथम क्रम पर रखा गया है।

जब तक अन्तर्हृदय में समता का अवतरण नहीं हो, विषम भाव की ज्वालाएँ धधक रही हो तब तक समत्वगुण को उपलब्ध कर स्व-स्वरूप में स्थित तीर्थंकर महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्त्तन नहीं किया जा सकता। वस्तुत: जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है वह समभाव स्थित वीतरागी पुरुषों का गुणगान कैसे कर सकता है? अत: जो साधक स्वयं समत्व का अनुभव कर लेता है वही उस पूर्णता के शिखर पर अवस्थित वीतराग के गुणों का वास्तविक संकीर्तन अथवा संस्तवन कर उनके गुणों को अपनाने की दिशा में प्रस्थान कर सकता है इसलिए सामायिक के पश्चात दूसरे क्रम पर चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक को रखा गया है।

जब व्यक्ति के जीवन में प्रमोद भाव या गुण ग्राहकता का विकास होता है तभी अपने से अधिक ज्ञानी एवं चारित्रवान पुरुषों के चरणों में उसका मस्तक झुक सकता है, भक्ति भावना से अन्तर्विभोर होकर उन्हें वन्दन कर सकता है। दूसरे, जिसने तीर्थंकर के गुणों की स्तवना नहीं की है, वह तीर्थंकर मार्ग के

उपदेष्टा सद्गुरु को भी भावपूर्वक वन्दन नहीं कर सकता है। श्रद्धासिक्त हृदय से देव तत्त्व को स्वीकार करने वाला ही गुरु तत्त्व की उपासना कर सकता है अतः चतुर्विंशतिस्तव के अनन्तर वन्दन आवश्यक को स्थान दिया है।

वन्दन करने वाला व्यक्ति स्वतः निर्मल एवं सरल होता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता हैं अतः वंदना के पश्चात प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। पंडित सुखलालजी के अनुसार वन्दन के पश्चात प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है। जो गुरु को वन्दन नहीं करता वह आलोचना का अधिकारी भी नहीं बनता क्योंकि अहंकार के विगलित होने पर ही ऋजु भाव का उदय होता है और तभी विशुद्ध आलोचना अर्थात स्वकृत दुष्कार्यों का यथातथ्य रूप में गुरु के समक्ष निवेदन किया जा सकता है।[60]

प्रमाद या अज्ञानवश हुई भूलों का स्मरण एवं सद्गुरु के समक्ष उसका निवेदन करने पर चित्त शुद्धि तो हो जाती है, किन्तु उन दोषों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थैर्य होना आवश्यक है और वह कायोत्सर्ग द्वारा ही संभव है। कायोत्सर्ग में तन और मन को स्थिर एवं एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप स्वयमेव कृत दोषों का परिमार्जन हो जाता है।

जो साधक चित्त शुद्धि किए बिना कायोत्सर्ग करता है, उसके मुख से भले ही किसी शब्द विशेष का जप या श्वासोश्वास के निरीक्षण का क्रम वर्त्तमान रहे, लेकिन उसकी चेतना में श्रेष्ठ ध्येय का विचार कभी जागृत नहीं होता, वह अनुभूत विषय का ही चिन्तन करता रहता है। अतः प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग आवश्यक को प्रमुखता दी गई है।

जब व्यक्ति के जीवन में स्थिरता एवं एकाग्रता सध जाती है और उसके फलस्वरूप विशिष्ट तरह का आत्मबल प्राप्त कर लेता है तभी वह अकरणीय का प्रत्याख्यान कर सकता है। जिसका चित्त डांवाडोल हो, एकाग्र न हो, वह कदाच् प्रत्याख्यान ग्रहण भी कर लें तो उसका सम्यक रूप से निर्वहन नहीं कर सकता है। प्रत्याख्यान सबसे उत्तम प्रकार की आवश्यक क्रिया है। अतएव उसके लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और अगणित उत्साह होना अनिवार्य है, जो कायोत्सर्ग के बिना असंभव है। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के पश्चात प्रत्याख्यान आवश्यक को रखा गया है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि सभी आवश्यक परस्पर में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं तथा आवश्यक का यह क्रम मौलिक एवं मनोवैज्ञानिक है।

आवश्यकों की उपादेयता

षडावश्यकों की उपयोगिता क्या हो सकती है? इस सम्बन्ध में विचार करते हुए अनुयोगद्वारसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रथम सामायिक आवश्यक के द्वारा दीर्घकालीन अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहकर समता पूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है, इससे जीव सावद्य योगों से विरति को प्राप्त होता है।[61]

जिस प्रकार पशु को कील (खूंटे) से बाँध देने पर उसके भागने का भय नहीं रहता है उसी प्रकार चित्त को सामायिक के खूंटे से प्रतिबंधित कर देने पर उसे विकारोन्मुख या विषयोन्मुख होने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। सामायिक का प्रयोजन मात्र दैहिक प्रवृत्तियों का निरोध करना ही नहीं है, अपितु प्रमुख रूप से मानसिक, दुर्विचारों एवं आत्ममल का विशोधन करना है। हमारी पतनोन्मुख स्थिति का मुख्य आधार मन है, सामायिक के द्वारा उसे निर्विकल्प बनाने का अभ्यास किया जाता है। परिणामत: वैयक्तिक साधना आत्मोपलब्धि के श्रेष्ठ सोपानों की ओर निरन्तर अग्रसर बनी रहती है।[62]

दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में सर्वोच्चदशा में अवस्थित तीर्थंकर के गुणों का संस्तवन किया जाता है इससे मिथ्यात्व रूपी अंधकार का विलय और अंत:करण की निर्मलता रूप दर्शन विशोधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वीतराग की स्तुति करने वाला मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर उन्मुख होता है।[63]

तीसरे वन्दन आवश्यक के पालन द्वारा विनय गुण की उत्पत्ति होती है। शास्त्रों में विनय को धर्म का मूल बताया है– 'विणय मूलो धम्मो।' गुण युक्त गुरुजनों को विनम्र भावपूर्वक वन्दन करने से नीच गोत्रकर्म का क्षय, उच्च गोत्रकर्म का बन्ध, अप्रतिहत सौभाग्य की प्राप्ति और अबाधित आज्ञा के फल की प्राप्ति होती है। ऐसी पुण्य प्रकृति के उपार्जन से सबके मन में अपने प्रति अनुकूलता का भाव पैदा होता है।[64]

चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक के द्वारा कृत दोषों की आलोचना एवं व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि की जाती है इससे प्रमाद दशा मन्द पड़ती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण करने वाला जीव व्रतों के छिद्रों को बंद

कर देता है अर्थात गृहीत व्रत को दूषण रहित कर देता है। साथ ही पापाश्रवों का निरोध एवं शबल आदि दोषों से रहित चारित्र को शुद्ध रखता हुआ अष्ट प्रवचन माताओं के आराधन में सतत सावधान रहता है और चारित्रयोग में सम्यक रूप से प्रवृत्त बन समाधिपूर्वक जीवन यात्रा का निर्वाह करता है यानी आत्म स्वभाव में विचरण करता है।[65]

पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक को व्रण चिकित्सा कहा गया है। छद्मस्थ अवस्था में प्रमादवश या अनायास ही अनेक प्रकार के दोष लगते रहते हैं। अध्यात्मवेत्ताओं ने दोष को जख्म (व्रण) के तुल्य और कायोत्सर्ग को मरहम पट्टी के समान माना है। अत: कायोत्सर्ग के द्वारा दोष रूपी जख्मों की चिकित्सा की जाती है तथा देहासक्ति का भाव न्यून होने से भेद विज्ञान की धारणा पुष्ट होती है। कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन (निवर्तन) होता है। फलत: आत्मा निर्भार और प्रशस्त ध्यान के उपयुक्त हो जाती है।[66] जैनागमों में कायोत्सर्ग को सब दु:खों से मुक्त करने का परम हेतु माना गया है।[67]

अंतिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य में किसी तरह की दुष्प्रवृत्ति न करने का संकल्प किया जाता है जिससे इच्छाओं का निरोध और संवर की शक्ति का विकास होता है। प्रत्याख्यान करने वाला जीव अनेक प्रकार के आश्रवों का निरोध (त्याग) कर देता है।[68] सिद्धान्तत: जब तक किसी वस्तु का परित्याग नहीं किया जाता उसकी आसक्ति दूर नहीं होती और उसके निमित्त से नये कर्मों का आगमन शुरू रहता है। प्रत्याख्यान करने से इच्छाओं का शमन ही नहीं, वरन् तृष्णाजन्य मन की चंचलता समाप्त हो जाती है और साधक परम शान्ति का अनुभव करता है।

अत: अध्यात्म क्षेत्र में अनवरत रूप से गतिशील एवं आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु आवश्यक क्रिया अपरिहार्य रूप से उपादेय हैं। आचार्य कुंदकुंद के अभिप्राय से श्रमण का चारित्र धर्म आवश्यक साधना पर ही अवलम्बित है, अन्यथा वह चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है।[69]

आवश्यक क्रिया का महत्त्व

आवश्यक क्रिया जैनत्व का मुख्य अंग है। इस क्रिया के माध्यम से आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक उभय पक्षीय जीवन समृद्ध एवं सशक्त बनता है।

षडावश्यक कर्म का मूलो उद्देश्य अध्यात्म पक्ष को परिपुष्ट करते हुए शाश्वत सुख की उपलब्धि करना है। यहाँ व्यावहारिक पक्ष गौण है फिर भी जैसे धान्योत्पत्ति के साथ घास-तृण आदि की प्राप्ति स्वत: हो जाती है वैसे ही अन्तरंग शुद्धि के साथ बाह्य व्यवहार की शुद्धि स्वयमेव हो जाती है। अपने परिणामों की अपेक्षा से इसका मूल्य दोहरा है। छहों आवश्यकों में प्रत्येक आवश्यक की फलश्रुति अध्यात्म से परिपूर्ण है।

सामायिक द्वारा पापजनक व्यापार से निवृत्ति होती है, जिससे पूर्वबद्ध कर्म प्रदेशों का क्षरण और आत्मा के स्वाभाविक गुणों का प्रकटन होता है।

चतुर्विंशतिस्तव द्वारा गुणानुराग की अभिवृद्धि एवं गुण प्राप्ति होने से वैभाविक पुद्‌गल कर्मों का निर्गमन होता है, जिससे स्व-स्वरूप की अनुभूति रूप अध्यात्म का उदय होता है।

वन्दन क्रिया द्वारा विनय धर्म का पालन, अहंकार का विसर्जन, गुणयुक्त पुरुषों की पूजा, जगत वन्दनीय तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का अनुसरण और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो आत्मशक्ति का क्रमिक विकास करते हुए मोक्ष प्राप्ति के कारण भूत बनते हैं। भावयुत वन्दन से लघुता गुण प्रकट होता हैं, उससे शास्त्र श्रवण के अवसर की प्राप्ति होती है। शास्त्र श्रवण द्वारा क्रमश: ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्म क्षय, अक्रिया और सिद्धि– ये फल उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वन्दन आवश्यक आत्मा के स्वाभाविक गुणों की उत्पत्ति का असंदिग्ध कारण है।

आत्मा स्वरूपत: शुद्ध एवं अतुल शक्ति सम्पन्न है, किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के संयोग के कारण अनादि काल से विषय-वासनाओं एवं वैभाविक परिणतियों में रचा-पचा हुआ है। मिथ्यात्व के घनीभूत होने से उसका अप्रतिहत स्व-स्वरूप धूमिल सा हो गया है ऐसी स्थिति में जब वह सत्य दिशा की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है तो कुसंस्कारों के प्रबल वेग से पुन: गिर जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति आत्माभिमुखी होकर पूर्व अभ्यासित दोषों का संशोधन-परिमार्जन करें। प्रतिक्रमण द्वारा यही प्रक्रिया की जाती है। इस साधना में तन्मय बना हुआ व्यक्ति पूर्वकृत प्रत्येक भूलों का स्मरण कर उन्हें पुन: से न करने का संकल्प व्रत ग्रहण करता है, इससे पूर्वसंचित दोषों का निवर्त्तन और नये दोषों का संवरण होता है तथा सम्यक योग में उसका

पुरुषार्थ शतगुणित हो जाता है। जिसकी फलश्रुति यह होती है कि कर्म सम्बद्ध आत्मा शनैः शनैः अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होकर जन्म, जरा और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाती है। प्रतिक्रमण का आध्यात्मिक फल दोष विमुक्ति है।

कायोत्सर्ग त्रियोग की एकाग्रता में अभिवर्धन करता है और संसारी जीव को अपने स्वरूप चिन्तन एवं उसके प्रगटीकरण का अमूल्य अवसर प्रदान करता है जिससे यह चेतन तत्त्व स्व-सामर्थ्य से परिचित होकर अपने चरम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है इस तरह कायोत्सर्ग की क्रिया भी आध्यात्मिक विशुद्धि रूप है। इस संसार में अनन्त पदार्थ हैं। एकाकी व्यक्ति इस जीवन में न तो सब पदार्थों का भोग कर सकता है और न ही सब पदार्थ भोगने योग्य हैं। दूसरे, अपरिमित भोग से पर्याप्त शान्ति का अनुभव भी नहीं होता। अतः प्रत्याख्यान द्वारा अनावश्यक वस्तुओं के परिभोग का वर्जन किया जाता है और उससे चिरकालीन आत्मिक शान्ति का उद्भव होता है। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक परिणाम की जनक है।

आवश्यक क्रिया का व्यावहारिक महत्त्व भी मननीय है। यह साधारण मानव ज़ाति के लिए कदम-कदम पर सहायक होने वाली साधना है। जीवन यात्रा को सुखद एवं आनन्द से परिपूर्ण बनाने के लिए समन्वय दृष्टि को आत्मसात करना, जगत पूज्य तीर्थंकर पुरुषों को आदर्श रूप में स्वीकार कर तद्रूप बनने का लक्ष्य निश्चित करना, गुणीजनों का बहुमान एवं विनय आदि करना, कर्त्तव्यनिष्ठ होना, कर्त्तव्य पालन में हो जाने वाली भूलों का अवलोकन कर निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना, दूसरी बार उस तरह की गल्तियाँ न हों इसके लिए सतत सावधान रहना, एकाग्रचित्त पूर्वक वस्तु स्वरूप को भलीभाँति समझ सकें, ऐसी विवेक शक्ति जागृत करना और अनावश्यक भोगों के त्याग पूर्वक संतोष वृत्ति का विकास करना आदि आवश्यक कर्म की व्यवहार प्रधान शिक्षाएँ है। इन तत्त्वों के आधार पर व्यवहारिक स्तर पर जीवन जीने वाले प्राणी भी दैवीय सुख का अनुभव कर सकते हैं।

इस क्रिया के माध्यम से बाह्य पक्ष के अन्य पहलू आरोग्यता, कौटुम्बिक सुख, सामाजिक उन्नति आदि भी सुदृढ़ बनते हैं। आरोग्य सुख का मुख्य हेतु मानसिक प्रसन्नता है। इस दुनिया के मूल्यवान भौतिक संसाधनों से क्षणिक

प्रसन्नता तो प्राप्त की जा सकती है, किन्तु चिरस्थायी प्रसन्नता आवश्यक क्रिया की पूर्वोक्त उपलब्धियों पर ही संभव है। कौटुम्बिक सुख का प्रमुख आधार परस्पर में छोटे-बड़े का यथोचित विनय करना, अनुशासन बद्ध रहना, चारित्रशील होना, वैयावृत्य करना और सक्रिय रहना आदि हैं। षडावश्यक क्रिया का विधियुत आचरण करने पर इन गुणों का सहज रूप से पोषण होता है।

सामाजिक उन्नति के लिए दीर्घदर्शिता, गम्भीरता, प्रामाणिकता, व्रतनिष्ठता, गुणग्राहकता आदि गुण अपेक्षित हैं, जो आवश्यक क्रिया के माध्यम से नि:सन्देह प्रकट हो जाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि आवश्यक अनुष्ठान आभ्यन्तर और बाह्य दोनों दृष्टियों से परम लाभकारी है तथा प्रकृष्ट गुणों की अभिवृद्धि एवं प्राप्त गुणों के संपोषण हेतु यह क्रिया अत्यन्त उपयोगी है। यदि मनुष्य नियमित रूप से इस साधना का प्रयोग करता रहे तो वह कभी भी नैतिक जीवन से पतित नहीं हो सकता,उसकी आत्म प्रतिष्ठा खण्डित नहीं हो सकती एवं विकटतम स्थिति में भी अपना सम्यक लक्ष्य विस्मृत नहीं कर सकता।

विविध सन्दर्भों में षडावश्यक की प्रासंगिकता

आवश्यक यह जैन साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। वैयक्तिक एवं मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में यदि इसकी आवश्यकता पर विचार करें तो वर्तमान आपा-धापी के युग में इसकी अत्यन्त उपादेयता है।

आवश्यक क्रिया के अन्तर्गत सामायिक आदि करने से द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धि होती है, परिणाम निर्मल बनते हैं, मन से क्रोधादि कषाय भावों का उन्मूलन होता है तथा मानसिक शांति की प्राप्ति होती है।

चतुर्विंशतिस्तव की साधना गुण ग्रहण एवं गुणानुमोदन की वृत्ति को बढ़ाती है, इससे स्वगुणों का आत्यंतिक विकास होता है। वंदन आवश्यक के द्वारा विनम्रता एवं लघुता गुण प्रकट होने से साधक सभी के स्नेह एवं आशीर्वाद का पात्र बनता है। प्रतिक्रमण आवश्यक के द्वारा स्व दोषों एवं दुर्गुणों का अवलोकन करते हुए उनका परिमार्जन कर भावों को विशुद्ध एवं सम्बन्धों को भी मधुर बनाया जा सकता है। कायोत्सर्ग के माध्यम से कायिक चेष्टाओं को न्यून कर शरीर के प्रति ममत्व भाव को कम करते हुए इन्द्रिय विजय प्राप्त की

जा सकती है। अंततः प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा संकल्प एवं मनोबल को मजबूत करते हुए अनावश्यक पापकार्यों से आत्म रक्षण एवं मर्यादा धारण कर जीवन में संतोषवृत्ति का विकास किया जाता है। इस प्रकार आवश्यक की साधना वैयक्तिक, आध्यात्मिक एवं मानसिक विकास में अनन्य सहायक है।

षडावश्यक के सामाजिक प्रभाव पर चिंतन करें तो एक सुदृढ़, संगठित एवं सुसंस्कारी समाज के निर्माण में इसकी अहम् भूमिका हो सकती है। सामायिक की साधना से मन-वचन-काया पर नियंत्रण करते हुए पारिवारिक स्नेह में अभिवृद्धि एवं क्लेश का समापन किया जा सकता है। समभाव द्वारा सामाजिक वैमनस्य का निवारण भी किया जा सकता है। चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा समाज में योग्य व्यक्तियों का विकास एवं गुणिजनों को आदर बहुमान प्राप्त हो सकता है। वन्दन आवश्यक के माध्यम से आज घरों में गौण हो रहे बड़ों के स्थान एवं वर्चस्व तथा छोटों में बढ़ती स्वतंत्रवृत्ति एवं उच्छृंखलता को कम किया जा सकता है। साधु-साध्वी एवं वरिष्ठ जनों के प्रति आदर-सम्मान की भावना को पुष्ट किया जा सकता है। प्रतिक्रमण के द्वारा आपसी मतभेदों को मिटाकर समाज में परस्पर सहयोग, स्नेह आदि का निर्माण किया जा सकता है तथा सामाजिक दोषों का उन्मूलन करते हुए एक स्वस्थ समाज की संरचना की जा सकती है। कायिक संतुष्टि के लिए आज प्रत्येक क्षेत्र में मर्यादा का जो उल्लंघन किया जा रहा है उसको नियंत्रित करने में कायोत्सर्ग की साधना फलवती हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से समाज में बढ़ रहे आर्थिक भेद एवं भोगवादी प्रवृत्ति को अध्यात्म की ओर प्रवर्तित किया जा सकता है।

वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में यदि आवश्यक विधि की उपयुज्यता पर विमर्श करें तो इसके द्वारा अनेकानेक समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। वैयक्तिक समस्याएँ जैसे कि तनाव, उग्रता, आवेश आदि एवं शारीरिक समस्याएँ मन की चंचलता आदि का निवारण समभाव, विनय, कायोत्सर्ग आदि के द्वारा किया जा सकता है जो कि षडावश्यक की साधना से प्राप्त होते हैं। पारिवारिक समस्याएँ जैसे कि पक्षपात, आपसी मनमुटाव, ईर्ष्या, पूज्यजनों के प्रति अनादर-अविनय आदि का निराकरण करने के लिए एवं

सद्भाव, समदृष्टि, गुणानुराग, विनम्रता आदि गुणों का सर्जन करने हेतु षडावश्यक एक महत्त्वपूर्ण चरण है। साम्प्रदायिक वैमनस्य, संघीय मतभेद, इन्द्रिय असंयम, स्वप्रशंसा एवं परनिंदा का बढ़ती वृत्ति, मन-वचन-काया का अनियंत्रण, बढ़ती अराजकता आदि में 'सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय' की भावना आदि के द्वारा इनका निदान किया जा सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में भी षडावश्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है।

यदि प्रबन्धन के क्षेत्र में षडावश्यक की भूमिका पर विचार किया जाए तो इसकी साधना के द्वारा जीवन प्रबन्धन, तनाव प्रबंधन, समाज प्रबंधन, कषाय प्रबंधन आदि में सहयोग प्राप्त हो सकता है। सामायिक की साधना व्यक्ति में समता का विकास कर उसे सहिष्णु बनाती है जिससे मन में कषाय उत्पन्न नहीं होते और कषाय रहित अवस्था में तनाव उत्पत्ति के लिए अवकाश ही नहीं रहता अत: सहज ही कषाय एवं तनाव प्रबंधन में सहयोग प्राप्त होता है। वंदन एवं चतुर्विंशतिस्तव की आवश्यकता समाज एवं समूह प्रबंधन में आवश्यक है। इसके द्वारा Generation gap को दूर करते हुए छोटों के मन में बड़ों के प्रति आदर तथा बड़ों में छोटों के प्रति स्नेह एवं प्रोत्साहन भाव की वृत्ति का विकास करते हैं। इसी प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा मानसिक एवं कायिक चेष्टाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर उन्हें संतुलित एवं स्वनियंत्रित किया जा सकता है। प्रत्याख्यान के माध्यम से आवश्यकता एवं इच्छा में भेद करते हुए भोगवृत्ति को सीमित तथा सामान्य जन जीवन की समस्याओं का समाधान करते हुए सामाजिक व्यवस्था का नियमन किया जा सकता है।

षडावश्यक क्रियाओं में पाठ-भेद एवं विधि-भेद क्यों?

जैन श्रमण-श्रमणियों के लिए कई प्रकार की आचार-मर्यादाओं का प्रावधान है, उनमें दस कल्प भी एक आवश्यक आचार माना गया है। अचेलक, औद्देशिक वर्जन, शय्यातरपिण्ड वर्जन, राजपिण्ड परिहार, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासकल्प और पर्युषणाकल्प– ये दस कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्य होते हैं, जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के तथा महाविदेह क्षेत्र के साधुओं के इनमें से चार

कल्प अनिवार्य और छह कल्प वैकल्पिक होते हैं।[70]

प्रतिक्रमण नामक आठवाँ कल्प प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में अनिवार्य रूप से होता है। प्रभु ऋषभदेव के समय प्रतिदिन प्रतिक्रमण आवश्यक होता था, किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु-साध्वी दोष लगने पर ही आवश्यक करते हैं तथा अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर के शासनकाल में प्रथम तीर्थंकर के समान ही दोष लगे या नहीं, नित्यप्रति आवश्यक क्रिया (प्रतिक्रमण) करने का उत्सर्ग विधान है। इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि आवश्यक की परम्परा प्राचीनतम है, लेकिन इसका स्वरूप बदलता रहा है। वर्तमान में आवश्यक क्रिया के जो सूत्रपाठ मिलते हैं उनमें भिन्न-भिन्न परम्पराओं में काफी अन्तर है। आवश्यक की प्रायोगिक एवं सूत्रपाठ सम्बन्धी विधि में भी मंदिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरापंथी और दिगम्बर परम्परा में बहुत अंतर आ गया है। वर्तमान में उपलब्ध सूत्र पाठों में कितना मूल है और कितना प्रक्षेपित है? इसका निर्धारण निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई सूत्र पाठों की व्याख्या के आधार पर किया जा सकता है।

निर्युक्ति की व्याख्या के अनुसार कुछ परम्पराओं में प्रतिक्रमण से पूर्व किए जाने वाले चैत्यवंदन आदि तथा छह आवश्यक के अनन्तर णमुत्थुणं सूत्र के पश्चात बोले जाने वाले स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय आदि आवश्यक के मूल पाठ नहीं है, इनका बाद में प्रक्षेपण किया गया है, क्योंकि गुजराती, अपभ्रंश, राजस्थानी या हिन्दी का पाठ मौलिक नहीं माना जा सकता, ऐसा समणी कुसुमप्रज्ञाजी का अभिमत सर्वथा उपयुक्त है। आवश्यक सूत्र में केवल प्राकृत निबद्ध पाठों के ही उल्लेख हैं।[71]

यहाँ प्रसंगवश यह ज्ञात कर लेना भी आवश्यक है कि जो धर्मनिष्ठ प्राकृत पाठों को न समझ पाने के कारण उन्हें हिन्दी भाषा में लिपिबद्ध करने का आग्रह रखते हैं, वह अनुचित है। कई लोग हमारे समक्ष यह समस्या दर्शाते हुए प्रस्ताव रखते हैं कि हम प्रतिक्रमण तो अवश्य करते हैं, किन्तु कौनसा पाठ क्यों और किसलिए बोला जा रहा है? यह समझ नहीं आता है और सूत्रार्थ के अभाव में की जा रही क्रिया भी यथार्थ नहीं हो पाती, अत: इन्हें हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर दिया जाए तो आम जनता के लिए श्रेयस्कारी होगा।

सिद्धान्ततः इस प्रकार का कथन या मानसिकता उचित नहीं है, कारण कि मूल पाठों का रूपान्तरण करने से उनकी मौलिकता एवं प्राणवत्ता समाप्त हो जाती है। जैसे मंत्रों का अनुवाद करने पर वे उतने प्रभावपूर्ण नहीं रहते वैसे ही आवश्यक क्रिया के मूल पाठों का अनुवाद उतना फलदायी नहीं होता। वस्तुतः मूल पाठों को मन्त्र रूप माना गया है, अतः उनका उच्चारण प्राकृत में और अर्थ सहित मनन अपनी भाषा में करना ही उत्तम है। इसके लिए यथासंभव गुरुमुख से अथवा पाठार्थ युक्त पुस्तकों से सूत्र पाठों का अध्ययन करना चाहिए।

यदि मूल पाठों को हिन्दी आदि अन्य भाषा में परिवर्तित कर दिया जाए तो आवश्यक की विधि में भी एकरूपता नहीं रहेगी। विविध प्रान्तों के लोग यदि एक स्थान पर एकत्रित हुए तो किसकी भाषा को प्रमुखता दी जाएगी। सामान्य जनता स्वमति अनुसार शब्द प्रयोग करने लगेगी जिससे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। जहाँ तक प्रतिक्रमण सम्बन्धी अतिचारों का प्रश्न है, अतिचार पाठ आत्म आलोचना का पाठ है अतः किसी भी भाषा में बोला जा सकता है। संभवतः अतिचार पाठ का स्वरूप देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता भी रहा है इसीलिए यह मरुगुर्जर आदि सरल भाषा में भी मिलता है।[72]

छह आवश्यक सूत्रों के कर्त्ता कौन?

जैन विद्वानों के अनुसार आवश्यक सूत्र तीर्थंकर एवं गणधर रचित न होकर किसी स्थविर आचार्य की कृति है। तब पुनः प्रश्न उठता है कि इस सूत्र की रचना किसी एक आचार्य ने की है या अनेक आचार्यों ने? पण्डित सुखलालजी के मतानुसार इस प्रश्न के प्रथम पक्ष के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं देखने में नहीं आया है। दूसरे पक्ष का उत्तर यह है कि आवश्यक सूत्र किसी एक आचार्य की कृति नहीं है।[73] इस मत के समर्थन में यह हेतु दिया गया है कि आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक सूत्र के समकाल में अथवा उससे किंचिद् परवर्ती काल में रचित दशवैकालिक सूत्र के कर्त्ता के रूप में आचार्य शय्यंभवसूरि का नामोल्लेख किया है। उन्होंने दशवैकालिकनिर्युक्ति में आचार्य शय्यंभव को दशवैकालिक के कर्त्ता रूप में स्मरण किया है।[74] तब उससे पूर्ववर्ती या समवर्ती आवश्यक सूत्र के कर्त्ता का नाम निर्देश क्यों नहीं किया? इससे यह अनेक स्थविर आचार्यकृत

रचना प्रतीत होती है।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह है कि आचार्य भद्रबाहु ने जिन दस ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा की है, उन ग्रन्थों को यदि कालक्रम से रचित मानें तो आवश्यक सूत्र का क्रम प्रथम होने से यह आचार्य शय्यंभव से पूर्व किसी स्थविर की कृति होना चाहिए, लेकिन कुछ अनुसंधानकर्त्ताओं का मानना है कि निर्युक्ति के रचना क्रम में उत्तराध्ययन के बाद आचारांग का क्रम है। आचारांग प्रथम अंग आगम है तथा गणधर द्वारा रचित हैं। अत: निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा से जिन आगमों का निर्देश दिया गया है, उन्हें ऐतिहासिक क्रम से रचित नहीं माना जा सकता।[75] इससे आवश्यक सूत्र के किसी कर्त्ता का असंदिग्ध रूप से निर्णय नहीं हो पाता है। यद्यपि आवश्यक सूत्र के कर्त्ता का नाम उपलब्ध न होने के कारण अपेक्षा भेद से इसे अनेक आचार्य कृत रचना स्वीकार की जा सकती है।

उक्त मत की पुष्टि में आचारांग टीका का यह उल्लेख भी मननीय है– **'आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशतिस्तवारातीयकाल भाविना भद्रबाहुस्वामिनाऽ-कारि'।**

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि चतुर्विंशतिस्तव की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गयी है।[76] इससे भी यह फलित होता है कि आवश्यक किसी एक आचार्य की रचना न होकर आचार्य भद्रबाहु एवं उनके पूर्ववर्ती समकालीन अनेक बहुश्रुत आचार्यों की कृति हो। समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने भी उक्त तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ को आत्मालोचन का उत्कृष्ट माध्यम बनाना था इसलिए अनेक आचार्यों का सुझाव और चिंतन का योग अपेक्षित था। यदि आवश्यक सूत्र किसी एक आचार्य की कृति होती तो दशवैकालिक के कर्त्ता की भाँति इसके कर्त्ता का नाम भी अत्यन्त प्रसिद्ध होता, क्योंकि यह प्रतिदिन सुबह और सायं स्मरण की जाने वाली कृति है।[77] अत: आवश्यक सूत्र को अनेक आचार्यों की संयुक्त कृति स्वीकार करना चाहिए।

आवश्यकसूत्रों का रचनाकाल

आवश्यक एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इस क्रिया को मन, वचन और शरीर इन तीनों के शुभ योगपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। मन के द्वारा दिन या पक्षादि में कृत दोषों का चिन्तन, वचन द्वारा सूत्र पाठ का उच्चारण एवं शरीर

द्वारा कृतिकर्म आदि किए जाते हैं। मूलतः यह अध्यात्मिक क्रिया सूत्रपाठ के अभ्यास पर आधारित है और इन्हें गुरु मुख से एवं उपधान तप पूर्वक कण्ठाग्र करने का विधान है। सूत्र पाठ के अभाव में गुरुवन्दन, प्रत्याख्यान,प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ कैसे की जा सकती है? अतः ये सूत्र पाठ जिसमें संकलित हैं उसका नाम आवश्यक सूत्र है।

वर्तमान उपलब्ध आवश्यक सूत्र की रचना कब हुई? यदि इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो कोई पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि पंडित सुखलालजी ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके निर्देशानुसार आवश्यक सूत्र ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचित होना चाहिए। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि ईस्वी सन् से पूर्व पाँच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर-निर्वाण के 20 वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। सुधर्मा स्वामी गणधर थे। आवश्यक सूत्र न तो तीर्थंकर की कृति है और न ही गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं कि वे अर्थ का उपदेश मात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। गणधर सूत्र रचते हैं, परन्तु आवश्यक सूत्र गणधर रचित न होने का एक कारण यह है कि इस सूत्र की गणना अंगबाह्य श्रुत में हैं अतः यह सुधर्मा स्वामी के पश्चात किसी बहुश्रुत आचार्य द्वारा रचित कहा जाना चाहिए।[78] आचार्य उमास्वाति ने अंगबाह्य श्रुत का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो श्रुत गणधर रचित न होकर उनसे परवर्ती किसी मेधावी आचार्य द्वारा निर्मित हो, वह अंगबाह्यश्रुत कहलाता है।[79] उन्होंने सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करते हुए सबसे पहले सामायिक आदि छह आवश्यक नामों का उल्लेख किया है और इसके पश्चात दशवैकालिक आदि अन्य सूत्रों का।[80]

यहाँ ध्यातव्य है कि वीर प्रभु के प्रथम पट्ट पर सुधर्मा स्वामी और उसके तृतीय पट्ट पर आचार्य शय्यंभव विराजे। दशवैकालिक सूत्र आचार्य शय्यंभव की कृति है। इस प्रकार आवश्यक सूत्र अंगबाह्य होने के कारण गणधर सुधर्मा के पश्चाद्वर्ती किसी प्रज्ञावान आचार्य की रचना स्वीकार करनी चाहिए। इस तरह इसके रचनाकाल की पूर्व अवधि अधिकतम ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शती के प्रारम्भ तक मानी जा सकती है तथा उत्तर अवधि ईस्वी सन से पूर्व चौथी

शताब्दी का प्रथम चरण माना जा सकता है। इसका हेतु यह है कि इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी का अवसानकाल ईस्वी सन् से पूर्व तीन सौ छप्पन वर्ष के लगभग स्वीकारा जाता है, उन्होंने आवश्यक सूत्र पर सबसे पहली व्याख्या लिखी है, जो आवश्यक निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थिति में आवश्यक सूत्र उनसे पूर्ववर्ती या उनके समकालीन किसी श्रुतधर आचार्य रचित होना चाहिए। इसका काल ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती से लेकर चौथी शती के प्रथम चरण तक का सिद्ध होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर दूसरा अभिमत यह भी प्रस्तुत किया गया है कि नमस्कार मंत्र जितना प्राचीन है आवश्यक सूत्र भी उतना ही पुराना होना चाहिए, क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार मंत्र के पाँचों पदों की लगभग 139 गाथाओं में विस्तृत व्याख्या है। इससे पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में नमस्कार मंत्र पर इतना विस्तृत वर्णन किया गया हो, ज्ञात नहीं है।

आवश्यक निर्युक्ति की 645वीं गाथा में पंच परमेष्ठी के नमस्कार पूर्वक सामायिक करने का निर्देश है। समणी कुसुमप्रज्ञा जी ने इस गाथा का यह फलित निकाला है कि नमस्कार मंत्र इतना ही पुराना होना चाहिए, जितना सामायिक सूत्र या आवश्यक सूत्र। लेकिन उनके मतानुसार यह गाथा मूल निर्युक्ति की न होकर भाष्यकार की होनी चाहिए, क्योंकि चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है तथा न टीकाकारों ने इस गाथा का संकेत किया है।[81]

उपर्युक्त द्विविध अभिमतों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो पंडित सुखलालजी की अवधारणा अधिक उचित प्रतीत होती है। यद्यपि पूर्वाचार्यों द्वारा आवश्यक सूत्र की गणना अंगबाह्य श्रुत के अन्तर्गत क्यों की गई तथा उसे गणधर रचित स्वीकार क्यों नहीं किया गया? ये दोनों बातें बुद्धि ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रथम तो महावीर का धर्म सप्रतिक्रमण धर्म कहा गया है, यदि प्रतिक्रमण सूत्र नहीं थे तो फिर प्रतिक्रमण कैसे किया जाता था? दूसरा, गणधर रचित श्रुत सर्वग्राह्य होने के साथ-साथ श्रद्धेय और पूजनीय होते हैं। समाहार रूप में कहा जा सकता है कि आवश्यक आत्मशुद्धिकरण की महत्त्वपूर्ण नित्यक्रिया है तथा उसमें उत्कृष्टता भी परमावश्यक है। इसी के साथ महावीर के शासन में उसकी नित्यता देखते हुए उसके मूल सूत्र गणधर रचित होने चाहिए।

आवश्यक क्रिया के मूल सूत्र सम्बन्धी विमर्श

यह निश्चित रूप से विचारणीय है कि आवश्यक के मूल सूत्र कौन-कौन से हैं? क्योंकि आजकल अधिकांश लोग यही समझ रहे हैं कि आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया में जितने सूत्र पढ़े जाते हैं, वे सब मूल आवश्यक सूत्र के ही अंग हैं।

पंडित सुखलालजी ने आवश्यक के मूल सूत्रों को पहचानने के दो उपाय बतलाये हैं– प्रथम यह है कि जिस सूत्र की अथवा उसके अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति हो, वह सूत्र मूल आवश्यकगत है और दूसरा उपाय यह है कि जिस सूत्र की अथवा उसके अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति नहीं हैं, पर जिस सूत्र का अर्थ सामान्य रूप से भी निर्युक्ति में वर्णित हैं या जिस सूत्र के किसी-किसी शब्द पर निर्युक्त हैं या जिस सूत्र की व्याख्या करते समय आरम्भ में टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'सूत्रकार आह', 'तच्च इदं सूत्रं', 'इमं सूत्रं' इत्यादि प्रकार का उल्लेख किया है, वह सूत्र भी मूल आवश्यकगत समझना चाहिए।[82]

प्रथम उपाय के अनुसार नमस्कारमन्त्र, करेमिभंते, लोगस्स, इच्छामि खमासमणो (द्वादशावर्त्त वन्दन सूत्र), तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, नवकारसी आदि के प्रत्याख्यान– इन सूत्रों को मौलिक कहा गया है। द्वितीय उपाय के अनुसार चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि (आलोचना सूत्र), इरियावहि (ईर्यापथिक सूत्र), पगामसिज्झाय (साधु प्रतिक्रमण सूत्र), सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं (चैत्यस्तव सूत्र), अब्भुट्ठिओमि (गुरुवंदन सूत्र), इच्छामि खमासमणो पियं च मे, इच्छामि खमासमणो पुव्विं चेइयाइं, इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओऽहं तुब्भण्हं, इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे (पाक्षिक समाप्ता खमासमण सूत्र)– इतने सूत्र मौलिक कहे गये हैं।[83]

पंडित सुखलालजी के अनुसार उपर्युक्त सूत्रों के अतिरिक्त 'तत्थ समणोवासओ थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ'– इत्यादि श्रावक के बारह व्रत, सम्यक्त्व और संलेखना विषयक जो सूत्र हैं तथा जिनके आधार पर 'वंदित्तु सूत्र' की पद्य-बन्ध रचना हुई है, वे सूत्र भी मौलिक प्रतीत होते हैं। उक्त सूत्र स्थानकवासी परम्परा में अद्यतन भी प्रचलित हैं तथा वर्तमान उपलब्ध 'आवश्यक सूत्र' के परिशिष्ट भाग में संकलित हैं। यद्यपि इन सूत्रों की व्याख्या

करते समय टीकाकार ने सूत्रकार आह, तच्च इदं सूत्रं, इत्यादि शब्दों का उल्लेख नहीं किया है तथापि प्रत्याख्यान आवश्यक में निर्युक्तिकार ने प्रत्याख्यान का सामान्य स्वरूप दिखाते समय अभिग्रह की विविधता के कारण श्रावक के अनेक भेद बतलाए हैं। इससे ज्ञात होता है कि श्रावक धर्म के उक्त सूत्रों को लक्ष्य में रखकर ही निर्युक्तिकार ने श्रावक धर्म की विविधता का वर्णन किया है।

दूसरे, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा की प्रचलित सामाचारी में प्रतिक्रमण की स्थापना की जाती है वहाँ से लेकर 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति पर्यन्त में छह आवश्यक पूर्ण हो जाते हैं तथा प्रतिक्रमण छह आवश्यक रूप ही होता है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रतिक्रमण की स्थापना के पूर्व किए जाने वाले चैत्यवन्दन का भाग और 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति के बाद बोले जाने वाले स्तवन, सज्झाय, शान्तिस्तव आदि, ये सब छह आवश्यक के बहिर्भूत हैं।

भाषा दृष्टि से देखा जाए तो भी यह सिद्ध होता है कि जो सूत्र रचनाएँ अपभ्रंश, हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में हैं, वे मूल आवश्यक का अंग नहीं हो सकती है क्योंकि समग्र मूल आवश्यक प्राकृत भाषा में ही है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि वर्तमान परम्परा में छह आवश्यक के अन्तर्गत कहे जाने वाले सात लाख, अठारह पापस्थान, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि सूत्र भी मूल आवश्यक अथवा मौलिक सूत्र की कोटि में नहीं है। पंडित सुखलालजी ने आयरिय उवज्झाय, वेयावच्चगराणं, पुक्खरवरदी, सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअदेवया भगवई स्तुति आदि सूत्रों को भी मौलिक सूत्र के अन्तर्भूत स्वीकार न करके प्राचीन सूत्र के रूप में मान्य किया है और इसके पीछे यह हेतु दिया है कि आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने इन सूत्रों की व्याख्याएँ की है अतएव ये प्राचीन हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा अभिमत यह है कि आचार्य हरिभद्रसूरि के पूर्व पुक्खरवरदी आदि सूत्र गुंफित हो चुके थे, तभी टीकाकार इनकी व्याख्या कर पाये। दूसरे, ये सूत्र मूल प्राकृत भाषा में ही निबद्ध हैं अत: इनकी गणना मौलिक सूत्र की कोटि में की जानी चाहिए। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा इन्हें मूल सूत्र के रूप में ही स्वीकार करती हैं। इसका प्रमाण यह है कि जैसे नमस्कार मंत्र, ईर्यापथिक सूत्र, लोगस्स सूत्र आदि विशिष्ट तपाराधना एवं गुरुमुख (वाचना) पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं वैसे पुक्खरवरदी आदि सूत्र भी पूर्ववत ही अधीत

किये जाते हैं। सूत्र ग्रहण की इस प्रक्रिया को उपधान कहते हैं।

जैन विद्वानों ने णमुत्थुणंसूत्र जो मूलत: चैत्यवन्दन सूत्र है इसे भी आवश्यक के मूल सूत्र के रूप में स्थान नहीं दिया है। संभवतया उनका मन्तव्य यह है कि आवश्यक क्रिया आत्मालोचना रूप हैं, जबकि णमुत्थुणं सूत्र परमात्म स्तुति रूप है अत: इसे आवश्यक क्रियागत कैसे माना जाए?

इस विषय में हमारा कहना यह है कि अरिहंत परमात्मा प्राणी मात्र के परम उपकारी हैं। आत्मशुद्धि रूप प्रतिक्रमण क्रिया के अवसर पर उनके उपकारक भावों का स्मरण करना, उनके अवलंबन से स्व-स्वरूप की प्रतीति करना, आत्मसामर्थ्य का अहसास करना प्राथमिक कर्त्तव्य है। परमात्म अनुग्रह के बिना आत्म अवलोकन का अवसर भी प्राप्त नहीं हो सकता है अतएव इसे मूल आवश्यक के रूप में परिगणित करना चाहिए। दूसरे, यह स्तुति रूप है और स्तव दूसरा आवश्यक भी है।

वर्तमान उपलब्ध भगवतीसूत्र, कल्पसूत्र आदि में भी यह सूत्र पाठ मौजूद है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर तीर्थंकर परमात्मा के च्यवन कल्याणक के अवसर पर प्रथम देवलोक के इन्द्र सौधर्म द्वारा भी यह सूत्र बोला जाता है, अत: इसका अपर नाम शक्रस्तव भी है।

तीसरा बिन्दु यह है कि श्वेताम्बरवर्ती सभी परम्पराएँ यह आवश्यक क्रिया का एक प्रमुख सूत्र है। नमस्कार मंत्र आदि सूत्रों के समान इसका भी उपधान किया जाता है तथा यह प्राकृत भाषा में भी निबद्ध है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस सूत्र पर ललित विस्तरा नामक टीका भी रची है जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत सूत्र को मूल आवश्यक के अन्तर्भूत स्वीकार करना चाहिए।

फलित यह है कि जो सूत्र प्राकृत भाषा में गद्य या पद्य में निबद्ध हैं, जिन सूत्रों पर निर्युक्तियाँ या टीकाएँ रची गई हैं तथा जो पूर्व समय से आवश्यक क्रिया करते समय पढ़े जाते हैं वे सभी मूल सूत्र हैं, ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ प्रसंगवश यह सूचित कर देना उपयुक्त होगा कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में दैवसिक प्रतिक्रमण करते समय पाँचवें कायोत्सर्ग के अन्त में सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र के बाद श्रुतदेवता तथा क्षेत्रदेवता की आराधना निमित्त एक-एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग कर स्तुति कही जाती हैं। यह भाग आचार्य

हरिभद्रसूरि (8वीं शती) के समय तक प्रतिक्रमण विधि में सन्निविष्ट नहीं था; क्योंकि उन्होंने पंचवस्तु ग्रन्थ में जो दैवसिक प्रतिक्रमण विधि उल्लेखित की है उसमें 'सिद्धाणं बुद्धाणं' के पश्चात मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन पूर्वक गुरुवन्दन करके तीन स्तुति पढ़ने का ही निर्देश किया है।[84] किन्तु विक्रम की 13वीं शती पर्यन्त श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग की विधि परम्परागत सामाचारी में प्रविष्ट हो चुकी थी। यही कारण है कि आचार्य जिनप्रभसूरि ने विधिमार्गप्रपा में इस विधि का स्पष्ट उल्लेख किया है।

आवश्यक टीका (पृ. 793) का अध्ययन करने से यह भी निश्चित होता है कि विधि-विषयक सामाचारी भेद प्राचीनतम हैं, कारण कि टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्मत विधि के अतिरिक्त अन्य विधि का भी सूचन किया है। अन्य विधि के अनुसार उस काल में पाक्षिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग का प्रचलन नहीं था पर शय्या देवता का कायोत्सर्ग किया जाता था। कोई परम्परा वाले चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय भी शय्या देवता का कायोत्सर्ग करते थे तथा चातुर्मासिक-सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करते थे।[85]

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा के आवश्यक क्रिया सम्बन्धी मूल सूत्रों का सवाल है वहाँ कतिपय विद्वानों के अनुसार इस सम्प्रदाय में साधु परम्परा विरल हो जाने के कारण आवश्यक क्रिया लुप्त होने के साथ-साथ आवश्यक क्रिया के मूल सूत्रों का भी अभाव हो गया है।[86] यद्यपि वट्टकेर रचित मूलाचार में छह आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट रूप से कहा गया है,किन्तु सूत्र सम्बन्धी कोई विवरण नहीं है। दूसरे मूलाचार में आवश्यक का प्रतिपादन करने वाली अधिकांश गाथाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भद्रबाहु रचित निर्युक्ति के समान ही है। इससे प्राचीनकाल में श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय में परस्पर षट् आवश्यकों के सम्बन्ध में किंचिद् एकरूपता थी, ऐसा आभास होता है।

आवश्यक क्रिया सम्बन्धी कुछ निर्युक्ति गाथाएँ आज भी प्रचलन में है। कुछ विद्वानों को इस सम्प्रदाय के आवश्यक क्रिया सम्बन्धी दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनमें एक मुद्रित और दूसरा लिखित है। दोनों में सामायिक और प्रतिक्रमण के पाठ हैं। इन पाठों में अधिकांश भाग संस्कृत है, जो मौलिक नहीं है। जो भाग प्राकृत रूप है उसमें भी निर्युक्ति के आधार से मौलिक सिद्ध होने वाले

आवश्यक सूत्र का अंश अत्यल्प है। जितना मूल भाग है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित मूल पाठ की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक या कहीं-कहीं रूपान्तरित भी हो गया है।[87]

सामान्यतया नमस्कारमंत्र, करेमि भंते, लोगस्स, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, इच्छामिठामि (आलोचना सूत्र), इरियावहि (ईर्यापथिक सूत्र), चत्तारि मंगलं, पगामसिज्झाय (प्रतिक्रमण सूत्र) और वंदित्तु सूत्र के स्थान पर श्रावक धर्म सम्बन्धी बारह व्रतादि में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण रूप गद्य भाग- इतने सूत्र उपर्युक्त द्विविध ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट हस्तप्रति में बृहत्प्रतिक्रमण नाम का एक भाग है, वह श्वेताम्बर आम्नाय प्रसिद्ध पाक्षिकसूत्र से समानता रखता है। इन सभी पाठों का मूल विवरण पाँचवें अध्याय में प्रस्तुत करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि दिगम्बर परम्परा में आवश्यक क्रिया सम्बन्धी कुछ सूत्र पाठ तो उपलब्ध हैं, किन्तु वे श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित मूल पाठ की अपेक्षा किंचिद् भिन्न हैं। दूसरा, मूलाचारगत षडावश्यक का स्वरूप अधिकांशत: आवश्यक निर्युक्ति पर आधारित है।

आवश्यक सूत्र एवं उसका व्याख्या साहित्य

आवश्यक-श्रमण एवं गृहस्थ की महत्त्वपूर्ण क्रिया है अतएव आवश्यक सूत्र जैन साधना का मूल प्राण है। यह दोष परिमार्जन एवं आत्म विशुद्धि का महासूत्र है। कोई साधक धार्मिक साधना के क्षेत्र में कितना भी बढ़ा हुआ हो, किन्तु उसे आवश्यक क्रिया के सूत्रों का अर्थ बोध सहित परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में दोष शुद्धि एवं गुण वृद्धि रूप इस क्रिया का मूलोद्देश्य तद्रूप में फलदायी नहीं हो सकता है।

सामान्यत: यह आगमों के वर्गीकरण में दूसरा मूलसूत्र माना गया है। इस ग्रन्थ में नित्य क्रियानुष्ठान रूप छ: कर्त्तव्यों का उल्लेख है, अत: इसका नाम आवश्यक है। आवश्यक रूप छ: कर्त्तव्यों के नाम निम्न हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वन्दन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।

आवश्यक सूत्र के पूर्वोक्त छ: प्रकार षट् अध्ययन रूप भी है। इस सूत्र का मूल पाठ 100 श्लोक परिमाण हैं तथा गद्य सूत्र 91 और पद्य सूत्र 9 श्लोक परिमाण हैं। प्रत्येक अध्ययन में उस आवश्यक सम्बन्धी सूत्रपाठ दिये गये हैं।

इन आवश्यकों एवं तद्विषयक सूत्र पाठों का विस्तृत वर्णन यथास्थान करेंगे।

इन आगम पाठों के गुरु-गंभीर रहस्यों के उद्घाटन के लिए विविध तरह का व्याख्या साहित्य रचा गया, उस व्याख्या साहित्य को पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं– 1. निर्युक्तियाँ 2. भाष्य 3. चूर्णि 4. संस्कृत टीका एवं वृत्ति 5. लोकभाषा में रचित टब्बा।

निर्युक्ति– जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्य बद्ध टीकाएँ लिखी गई, वे निर्युक्तियाँ कही जाती हैं। निर्युक्ति का अर्थ है– शब्द का सही अर्थ प्रकट करना। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु कौनसा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है। भगवान महावीर के उपदेश काल में कौन सा शब्द किस अर्थ से सम्बद्ध रहा है, इत्यादि तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए सही दृष्टि से अर्थ निर्णय करना और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार जिसके द्वारा सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय होता है वह निर्युक्ति है।[88] आचार्य जिनदास के मतानुसार सूत्र में निर्युक्त अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है।[89] कोट्याचार्य के अभिमत से विषय और विषयी के निश्चित अर्थ का सम्बन्ध जोड़ना निर्युक्ति है।[90] आचार्य भद्रबाहु प्रमुख निर्युक्तिकार माने जाते हैं।

भाष्य– निर्युक्तियों के गंभीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए निर्युक्तियों के समान ही प्राकृत भाषा में जो विस्तृत पद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गई, वे भाष्य कहलाती हैं। निर्युक्ति की व्याख्या शैली गूढ़ एवं संक्षिप्त होती है, जबकि भाष्य अपेक्षाकृत विस्तृत होते हैं। भाष्य मूल सूत्रों एवं निर्युक्तियों दोनों पर लिखे गये हैं। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी– ये दोनों भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध है।

चूर्णि– भाष्यगत तात्त्विक सिद्धान्तों को अथवा विषय को स्पष्टता पूर्वक समझाने के लिए संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में जो गद्यात्मक व्याख्याएँ रची गई वे चूर्णि कही जाती हैं। चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणि महत्तर का नाम प्रसिद्ध है।

टीका– आगमिक अथवा चूर्णिगत विषयों को अत्यन्त सुगमतापूर्वक प्रस्तुत करने के लिए जो संस्कृत भाषा में गद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गई, वे टीका या वृत्ति कही जाती हैं। आचार्यों ने टीका के लिए विविध नामों का प्रयोग किया है जैसे– टीका, वृत्ति, निवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक,

दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पण, टिप्पनक, पर्याय, स्तबक, पीठिका, अक्षरार्थ आदि मूल टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरिजी माने जाते हैं। इनके सिवाय कोट्याचार्य, आचार्य गन्धहस्ती, आचार्य शीलांक, आचार्य अभयदेव, आचार्य मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, वादिवेताल शांतिसूरि, द्रोणाचार्य आदि आचार्यों के नाम भी टीकाकार के रूप में विश्रुत हैं।

संक्षेपत: निर्युक्ति में आगमगत शब्दों की व्याख्या एवं व्युत्पत्ति है। भाष्य में आगम निहित गंभीर विषयों का विस्तृत विवेचन है। चूर्णि में गूढ़ार्थ विषयों को लोक कथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है और टीका में आगम के सूक्ष्म विषयों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है।

आगम, निर्युक्ति और भाष्य साहित्य प्राकृत भाषा में, चूर्णि साहित्य प्राकृत प्रधान संस्कृत मिश्र भाषा में और टीकाएँ संस्कृत गद्य भाषा में निर्मित है। आवश्यकसूत्र पर रचित व्याख्या साहित्य की सूची इस प्रकार है–

1. आवश्यक निर्युक्ति– आचार्य भद्रबाहु रचित इस निर्युक्ति का दूसरा नाम सामायिक निर्युक्ति भी है क्योंकि इसमें प्रमुख रूप से सामायिक आवश्यक की व्याख्या की गई है, शेष पाँच आवश्यकों पर बहुत कम लिखा गया है। तदुपरान्त यह ज्ञातव्य है कि आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति-रचना के क्रम में सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति की रचना की, अत: इसमें उन्होंने अनेक विषयों का प्रतिपादन कर दिया है तथा परवर्ती निर्युक्तियों में अनेक विषयों की व्याख्या के प्रसंग में सामायिक निर्युक्ति में प्रतिपादित विषयों की ओर मात्र संकेत कर दिया गया है।

2. आवश्यकसूत्र पर दो भाष्य मिलते हैं– आवश्यक मूल भाष्य एवं विशेषावश्यक भाष्य। डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं– 1. मूल भाष्य 2. भाष्य 3. विशेषावश्यक भाष्य।

वर्तमान में भाष्य नाम से कोई स्वतंत्र कृति प्राप्त नहीं होती है अत: दो भाष्य ही स्वीकार करना चाहिए। किन्हीं मतानुसार आदि के दो भाष्य अति संक्षेप में हैं और उनकी बहुत सी गाथाएँ विशेषावश्यक भाष्य में संयुक्त हो गई है अत: विशेषावश्यकभाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला है। किसी के अभिमत से मूल भाष्य आकार में लघु है। उसमें प्रसंगवश कुछ मुख्य विषय सम्बन्धी गाथाओं की व्याख्या है लेकिन विशेषावश्यक भाष्य का स्वतंत्र

अस्तित्व है।

वर्तमान में विशेषावश्यकभाष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व है। यह भाष्य मूलत: प्रथम सामायिक आवश्यक पर 3603 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। सामान्यतया इस भाष्य में आगम साहित्य में वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर चिन्तन किया गया है। पुनश्च इसमें ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, नयवाद, कर्म सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित प्रचुर एवं सारभूत सामग्री का संकलन किया गया है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ की गई है इसमें जैन आगमिक मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार आगम के रहस्यों को सुगमतापूर्वक सुबोध रूप से समझने के लिए यह भाष्य अत्यधिक उपयोगी है। इससे परवर्ती आचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य की विचार सामग्री एवं शैली का उदारता पूर्वक अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है।

3. आवश्यकचूर्णि– जिनदासगणिमहत्तर रचित यह चूर्णि मुख्य रूप से निर्युक्ति के अनुसार लिखी गई है। इसमें यत्र-तत्र भाष्य गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। इसमें ऐतिहासिक कथानकों की भरमार है, अत: यह चूर्णि अन्य चूर्णियों से विस्तृत है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अत्यन्त मूल्यवान है। यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

4. स्वोपज्ञटीका– आवश्यक सूत्र पर अनेक टीकाएँ प्राप्त होती हैं जैसे– • कोट्याचार्य कृत टीका • हारिभद्रीय टीका • मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका • मलयगिरि टीका • आवश्यक निर्युक्ति दीपिका • आवश्यक टिप्पणम् आदि। इन टीकाओं का सामान्य निरुपण निम्न प्रकार है–

स्वोपज्ञ टीका– यह संस्कृत टीका विशेषावश्यकभाष्य पर आधारित है। आचार्य जिनभद्र के दिवंगत होने के कारण यह टीका अधूरी ही लिखी गई थी, जिसे कोट्याचार्य ने सम्पूर्ण की।

कोट्याचार्यकृत टीका– यह टीका भी विशेषावश्यकभाष्य पर अवलंबित है। इस टीका में प्रारंभ की गाथाओं का विस्तृत व्याख्यान किया गया है, लेकिन बाद की गाथाओं में संक्षिप्तिकरण है। इस टीका का ग्रंथमान 13700 श्लोक परिमाण है। पं. सुखलालजी ने आचार्य शीलांक का ही अपर नाम

कोट्याचार्य माना है, जबकि डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार आचार्य शीलांक का समय विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी है और कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती ही सिद्ध होता है। इनकी मान्यता में शीलांकसूरि और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।[91]

हारिभद्रीय टीका– आचार्य हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्रथम टीकाकार हैं। यह टीका आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर लिखी गई है। आचार्य हरिभद्र ने इस टीका में मूल भाष्य गाथाओं की भी व्याख्या की है। उन्होंने निर्युक्ति गाथाओं के अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है। साथ ही अनेक स्थलों पर व्याकरण विमर्श भी प्रस्तुत किया है। इसमें प्राकृत गाथाएँ लगभग चूर्णि से उद्धृत हैं। अन्य जगह भी चूर्णि का अंश उद्धृत किया है।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने टीका प्रयोजन के सम्बन्ध में एक श्लोक प्रस्तुत किया है। उससे ज्ञात होता है कि उन्होंने इस टीका से पूर्व एक बृहद् टीका का निर्माण किया था, जो आज हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है। उसके बाद यह वैदूष्य पूर्ण संक्षिप्त टीका लिखी है। यह टीका 22000 श्लोक परिमाण है।

मलधारी हेमचन्द्र टीका– यह विशेषावश्यकभाष्य पर ही विस्तृत एवं गंभीर टीका है। इसमें टीकाकार ने सभी विषयों की विस्तृत व्याख्या की है। इस टीका का अपर नाम शिष्यहितावृत्ति भी है। इसमें प्रमुख रूप से सरल-सुबोध भाषा में दार्शनिक मंतव्यों को स्पष्ट किया गया है। इस टीका की विशेषता है कि स्वयं ग्रंथकार ने अनेक प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान दिया है। वस्तुतः विशेषावश्यकभाष्य जैसे गंभीर ग्रन्थ को पढ़ने में कुंजी के समान है। इसका ग्रंथाग्र 28000 श्लोक परिमाण है।

मलयगिरि टीका– आचार्य मलयगिरि महान टीकाकार के रूप में विश्रुत हैं। उन्होंने कई आगम ग्रंथों पर टीकाएँ रची हैं। इनके द्वारा रचित टीकाओं के अध्ययन से अवगत होता है कि वे केवल आगमों के ही नहीं, अपितु गणित शास्त्र, दर्शन शास्त्र एवं कर्मशास्त्र के भी प्रगाढ़ विद्वान थे। उन्होंने इस टीका में लगभग सभी शब्दों की सटीक एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। विद्वानों के अनुसार ये आचार्य हेमचन्द्र के समवर्ती थे। यह टीका ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति पर लिखा गया है तथा अनेक रहस्यों का उद्घाटक है। इसमें कथाओं

का बहुलांश भाग चूर्णि ग्रन्थ से उद्धृत है फिर भी अनेक कथाएँ जो आचार्य हरिभद्र की टीका एवं चूर्णि में अस्पष्ट है उसे विस्तार देकर स्पष्ट किया गया है। इस टीका में उन्होंने मूल भाष्य गाथाओं की भी व्याख्या की है।

आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका– इस व्याख्या ग्रन्थ के रचयिता आचार्य माणिक्य-शेखरसूरि है। यह टीका ग्रन्थ न होकर उसका संक्षिप्त रूप ही है। आवश्यक निर्युक्ति का सामान्य अर्थ समझने में यह अत्यन्त उपयोगी है। इसमें कथानकों का सार संस्कृत भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शैली में प्रस्तुत है। कुछ कथाएँ तो दीपिका से ही स्पष्ट हो जाती है। ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में नंदी सूत्र के प्रारम्भ की लगभग 50 गाथाओं की व्याख्या है। इसका समय पन्द्रहवीं शती के आस-पास का है। इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार अचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के प्रशिष्य एवं मेरुतुंगसूरि के शिष्य थे।[92]

आवश्यक टिप्पणकम्– यह व्याख्या ग्रंथ आचार्य हरिभद्र वृत्ति पर आधारित है। इस ग्रंथ में महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ दी गई हैं, क्लिष्ट एवं दुर्बोध शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है तथा प्रचुर मात्रा में देशी शब्दों का भी स्पष्टीकरण किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य व्याख्यामूलक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। विस्तार भय से इस विषय को यही विराम देते हैं। जिज्ञासुवर्ग आवश्यक सूत्र सम्बन्धी व्याख्यात्मक साहित्य की जानकारी हेतु निम्न ग्रन्थों का अवलोकन करें–

• जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-3 • जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा–आचार्य देवेन्द्र मुनि • जिनरत्न कोश • जैन विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास आदि।

समीक्षा– जैन विचारणा में सामायिक आदि षड्विध क्रियाओं को अवश्य करने योग्य बतलाया गया है और इन्हें ही आवश्यक कहा है। यदि ऐतिहासिक संदर्भ में अध्ययन करें तो इस विषयक चर्चा अनुक्रमश: नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, आवश्यकसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य, नन्दी चूर्णि, अनुयोग टीका आदि ग्रन्थों में समुपलब्ध होती है।

काल क्रम की दृष्टि से प्रस्तुत उल्लेख सर्वप्रथम नन्दीसूत्र में प्राप्त होता है। नन्दी का एक अर्थ ज्ञान है अत: यह पाँच ज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसमें

श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य इन दो भेदों की चर्चा करते हुए अंगबाह्य श्रुत को दो भागों में विभक्त किया है– 1. आवश्यक और 2. आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक श्रुत को सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान– ऐसे छ: प्रकार का बतलाया है तथा आवश्यक व्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ऐसे दो भेद किए हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि आवश्यक श्रुत के छ: प्रकारों में समस्त करणीय क्रियाओं का समावेश हो जाता है इसलिए अंगबाह्य सूत्रों में आवश्यक सूत्र को प्रथम स्थान दिया गया है।

इसके अनन्तर अनुयोगद्वार सूत्र में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसमें आवश्यक के पर्याय, आवश्यक के निक्षेप, आवश्यक के भेद-प्रभेद आदि का सम्यक निरूपण किया गया है। वस्तुत: इस सूत्र में पृथक्-पृथक् विषयों से सम्बन्धित तेरह विभाग हैं, उनमें प्रथम 'आवश्यक निरूपण' नाम का विभाग है।

तदनन्तर विशेषावश्यकभाष्य, नन्दीचूर्णि, आवश्यक टीका, अनुयोग टीका आदि आगमिक व्याख्या साहित्य में आवश्यक शब्द के पर्याय एवं उसके प्रकारों का व्युत्पत्तिलभ्य, तत्त्व मीमांसीय आदि अर्थ प्राप्त होते हैं। दिगम्बर परम्परा के भगवती आराधना, मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में भी यह चर्चा की गई है।

उपसंहार

जो साधक के लिए अवश्य करणीय है, आवश्यक कहलाता है। जीवन में अनेक आवश्यक कर्म होते हैं, किन्तु यहाँ आवश्यक से अभिप्रेत लौकिक क्रिया नहीं, अपितु लोकोत्तर क्रिया है। दिवस और रात्रि के अंत में श्रमण और श्रावक द्वारा जो अनिवार्य रूप से करने योग्य है उसका नाम आवश्यक है।

आगम में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान– इन छ: प्रकार की क्रियाओं को 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए एवं जीवन की पवित्रता के लिए आवश्यक क्रिया अनिवार्य है।

आवश्यक अनुष्ठान ज्ञान और क्रिया पक्ष का समन्वित प्रयोग है। आवश्यक के सूत्र पाठ याद हों, लेकिन तद्रूप आचरण (क्रिया) न हो तो केवल पाठों के ज्ञान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसी तरह आवश्यक सम्बन्धी कृतिकर्म,कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ गडरिया प्रवाह की भाँति सम्पन्न कर लें और

उनका सम्यक बोध न हो, तो मात्र दैहिक साधना का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अत: सूत्र ज्ञान और तद्रूप क्रियान्विति में ही आवश्यक का साफल्य है।

उपाध्याय यशोविजयजी रचित ज्ञानसार (2/8) में सम्यक क्रिया का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि क्रिया रहित ज्ञान निश्चित रूप से निर्वाण प्राप्ति में असमर्थ है। कोई मार्ग का ज्ञाता होने पर भी गमन क्रिया नहीं करें तो इच्छित स्थल पर नहीं पहुँच सकता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाश रूप है फिर भी तेल पूरने आदि की क्रियाएँ अपेक्षित रहती हैं उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानी के लिए भी समयानुसार स्वभाव रूप कार्य के अनुकूल क्रियाओं की अपेक्षा रहती हैं। जो लोग क्रिया पक्ष का निषेध करते हैं वे मुँह में ग्रास रखे बिना ही तृप्ति पाना चाहते हैं, किन्तु ऐसा कभी भी संभव नहीं है।

इस क्रम में यह भी निर्दिष्ट किया है कि आवश्यक क्रिया रूप गुणीजनों का बहुमान आदि करने से तथा स्वीकृत नियमों के प्रति सचेत रहने से विशुद्ध भावों का रक्षण होता है और अनुत्पन्न शुभ भाव प्रकट होते हैं तथा क्षायोपशमिक भावपूर्वक की जाने वाली क्रिया से पतित भावों की फिर से विशुद्धि एवं वृद्धि होती है। अतएव गुणवृद्धि अथवा उत्पन्न शुभ भाव नष्ट न हो जाए इस उद्देश्य से क्रिया अवश्य करनी चाहिए। वचनानुष्ठान अर्थात अर्थबोधयुक्त सूत्रोच्चारण से असंग क्रिया (मोक्ष प्राप्ति) की योग्यता प्राप्त होती है। इस प्रकार ज्ञानयुक्त क्रिया संसार उच्छेदक और मोक्षदायक होती है।

जैन परम्परा की भांति वैदिक संस्कृति में भी आवश्यक क्रियाओं की अवधारणा है, किन्तु वहाँ उसे 'नित्यकर्म' की संज्ञा दी गई है। यद्यपि अधिकारी भेद की अपेक्षा असमानता भी है। जैन धर्म का आवश्यक कर्म मानव मात्र के लिए एक समान है। किसी भी जाति-वर्ग का अनुयायी सामायिक आदि की आराधना कर सकता है। श्रमण और गृहस्थ दोनों छह आवश्यक का समान अधिकार रखते हैं। इस प्रकार जैन संस्कृति की आवश्यक साधना प्रत्येक मानव के लिए कल्याण का पथ प्रशस्त करती हैं जबकि हिन्दू परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए पृथक-पृथक नित्यकर्म बतलाए गए हैं। ब्राह्मण के लिए छः कर्मों का निर्देश है– दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, अध्ययन करना और अध्ययन करवाना। क्षत्रिय के लिए रक्षा करना आदि, वैश्य के लिए व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि एवं शूद्र के लिए सेवा

आदि करने का निर्देश है।

सन्दर्भ-सूची

1. *अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्।*
   आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 34
2. *पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 122*
3. *आङ्मर्यादाऽभिविधिवाची, आ मर्यादया अभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इदमिति आपाश्रयः। विशेषावश्यकभाष्य टीका, पृ. 354*
4. *जदवस्सं कायव्वं, तेणावस्सयामिदं गुणाणं वा।*
   आवस्सयमाहारो आ मज्जायाभिविहिवाई ।।
   आवस्सं वा जीवं करेइ, जं नाण-दंसण-गुणाणं ।
   संनिज्झ-भावण-च्छायणेहिं, वावासयं गुणओ ।।
   विशेषावश्यकभाष्य, 874-875
5. *ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते..... आवासकानां इत्ययमर्थः।*
   भगवती आराधना, गा. 118 की टीका, पृ. 152
6. *आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति। वही, पृ. 153*
7. *अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादिक्रियानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकम् ।*
   नन्दी मलयगिरिटीका, पृ. 204
8. *आवश्यकं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयप्रसाधकप्रतिनियतकालानुष्ठेययोगपरम्परा-प्रतिसेवन मित्यर्थः।.... मुखवस्त्रिका...मावश्यकमभिधीयते।*
   विशेषावश्यकभाष्य (कोट्याचार्यवृत्ति) पृ. 2
9. *सुण्णमप्पाणं तं पसत्थ भावेहिं आवासेतीति आवासं।*
   अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. 80
10. *समग्रस्यापि गुणग्रामस्यावासकमित्या वासकम् ।*
    अनुयोगद्वार मलयधारी टीका, पृ. 81
11. *गुणानाम् आ समन्ताद्वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम् ।*
    अनुयोगद्वार, पृ. 27
12. *आ-समन्ताद्वश्या इन्द्रियकषायादि भावशत्रवो यस्मात्तदावश्यकम् ।*
    वही, पृ. 81
13. *गुणशून्यमात्मानम् आ-समन्तात् वासयति गुणैरित्यावासकम्।*
    वही, पृ. 27

14. *ण वसो अवसो अवसस्स, कम्ममावस्सयंति बोधव्वा।*
जुत्तित्ति उवायत्ति य, णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ।।
(क) मूलाचार, गा. 515 की वृत्ति
(ख) नियमसार, गा. 142 की टीका
15. *यद्रव्याध्यादिवशेनापि, क्रियतेऽक्षावशेन च।*
आवश्यकमवशस्य, कर्माहोरात्रिकं मुनेः ।।
अनगार धर्मामृत, 8/16
16. *आवस्सयं अवस्स करणिज्जं, धुवनिगग्गहो विसोही च।*
अज्झयणछक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो ।।
(क) अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि 29
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 872
(ग) आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. 35
17. अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. 14
18. अणुओगदाराइं, सू. 28
19. विशेषावश्यकभाष्य। मलधारी टीका, पृ. 354
20. सामायिकादिअध्ययनात्मकत्वादध्ययनषट्कम्। वृजी वर्जने वृज्यन्ते दूरतः परिहियन्ते रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः। वही, पृ. 355
21. जीवकर्मसम्बन्धापनयनाद् न्यायः । वही, पृ. 355
22. आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा– सामाइयं, चउवीसत्थवो, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं।
नन्दी सूत्र, संपा. मधुकरमुनि, सू. 79
23. *सावज्जजोगविरती उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।*
खलियस्स निंदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ।।
अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि, सू. 73
24. पढमे सामादियज्झयणे... तेसिं भवति तधा अत्थपरूवणा।
अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ. 18
25. से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा–नामावस्सयं, ठवणावस्सयं, दव्वावस्सयं, भावावस्सयं। अनुयोगद्वार, सू. 9
26. अनुयोगद्वार–मलधारी हेमचन्द्र टीका, संपा. जंबूविजय, सू. 10 की टीका पृ. 29-30
27. अनुयोगद्वार, सू. 11

28. अनुयोगद्वार, सू. 11 की टीका,पृ. 32
29. वही, सू. 12 की टीका पृ. 35
30. अनुयोगद्वार–जिनदासगणि चूर्णि, संपा. जंबूविजय, सू. 13 की चूर्णि
31. अनुयोगद्वार, सू. 13 की टीका
32. अनुयोगद्वार, पृ. 13
33. अनुयोगद्वार, सू. 14 की टीका
34. अनुयोगद्वार, सू. 14 की चूर्णि
35. वही, सू. 16 की चूर्णि
36. अनुयोगद्वार, सू. 16
37. अनुयोगद्वार–हारिभद्रीय टीका, संपा. जंबूविजय, सू. 17 की टीका, पृ. 54
38. वही, सू. 17 की टीका
39. वही, सू. 18 की टीका पृ. 62
40. अनुयोगद्वार, सू. 19
41. वही, सू. 20
42. अनुयोगद्वार, सू. 20 की टीका, पृ. 65
43. वही, सूत्र 21 की टीका पृ. 69-70
44. अनुयोगद्वार, सू. 22
45. अनुयोगद्वार, सू. 22 की टीका, पृ. 70-71
46. अनुयोगद्वार, सू. 23 की टीका
47. अनुयोगद्वार, सू. 23
48. वही, सू. 24
49. अनुयोगद्वार, सू. 23 की टीका, पृ. 75
50. वही, सू. 25 की टीका, पृ. 75
51. अनुयोगद्वार, सू. 25
52. वही, सू. 26
53. वही, सू. 26 की टीका, पृ. 76
54. वही, सू. 27 की टीका पृ. 76-77
55. अनुयोगद्वार, सू. 28
56. वही, सू. 28 की मलयगिरि टीका, पृ. 78
57. नन्दी सूत्र, सू. 79

58. आवश्यकनिर्युक्ति, समणी कुसुमप्रज्ञा, भूमिका, पृ. 21
59. समदा थवो य वंदण, पडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो, करणीयावासया छप्पि ।।
मूलाचार, 22
60. दर्शन और चिंतन, पृ. 180-182
61. (क) अनुयोगद्वार, सू. 73
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, 29/9-14
62 सामाइएणं सावज्जजोग विरइं जणयइ । वही, 29/9
63. चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ । वही, 29/10
64. वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवइ... दाहिणभावं च णं जणयइ । वही, 29/11
65. पडिक्कमणं वयछिद्दाइं पिहेइ... सुप्पणिहिए विहरइ । वही, 29/12
66. काउस्सग्गेणंऽतीय-पडुप्पन्नं सुहंसुहेणं विहरइ । वही, 29/13
67. वही, 26/46
68. पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूंभइ। वही, 29/14
69. आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
नियमसार, गा. 148
70. बृहत्कल्पभाष्य, 6363-6364, 6361-6362 की टीका
71. आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 1, भूमिका, पृ. 22
72. वही, पृ. 22
73. दर्शन और चिंतन, खं.-2, पृ. 196
74. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. 13-14
75. आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 1, भूमिका, पृ. 20
76. आचारांग टीका, पृ. 56
77. आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 1, भूमिका पृ. 20
78. दर्शन और चिंतन, खं.-2, पृ. 195-196
79. गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः ... तदङ्गबाह्यमिति।
तत्त्वार्थसूत्र, 1/20 का भाष्य
80. वही, 1/20 का भाष्य
81. आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 1, भूमिका, पृ. 20
82. दर्शन और चिंतन, खं.-2, पृ. 197
83. वही, पृ. 197
84. पंचवस्तुक, गा. 488

अध्याय-2

सामायिक आवश्यक का मौलिक विश्लेषण

षडावश्यक में सामायिक का प्राथमिक स्थान है। आवश्यक का प्रारम्भ सामायिक से होता है और पूर्णता प्रत्याख्यान पर होती है। प्रथम और अन्तिम दोनों आवश्यक सावद्य विरति एवं पाप निवृत्ति के द्योतक हैं, अत: सामायिक एक व्रत है। इसके द्वारा मन-वचन और काया को संयमित एवं मर्यादित बनाया जाता है जिसके फलस्वरूप यह आत्मा शनै: शनै: उपशमित एवं आत्म स्थित बन जाती है। परमार्थत: यही सामायिक आवश्यक है। यह आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने का सर्वोत्कृष्ट सोपान है। इसके माध्यम से अनावश्यक एवं अपरिमित आस्रवों का निरोध कर अनियन्त्रित जीवन को व्रत-नियम से सुसज्जित किया जाता है। व्रत आत्म सुरक्षा का अभेद्य कवच है और व्रतनिष्ठ साधक के लिए परकोटे के सदृश है। व्रत रहित खुला जीवन असुरक्षित एवं भयोत्पादक होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं बाह्य जीवन में भी खुली वस्तुएँ असुरक्षित होती हैं जैसे– दूध का पात्र खुला पड़ा हो तो उसमें मक्खी, छिपकली आदि गिरने की संभावना रहती है, इसीलिए उस पर ढक्कन देते हैं। प्रत्येक घर में दरवाजे लगे रहते हैं ताकि हर कोई उसमें घुस न जाएं। प्राय: गाँव या नगर में सुरक्षाकर्मी पुलिस आदि रहती हैं ताकि नगरवासी निर्भय होकर रह सकें, इसी तरह सामायिक व्रत द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुणों का संपोषण एवं वैभाविक दोषों का निर्गमन होता है। व्रत विहीन व्यक्ति के मन में पाप शीघ्र प्रवेश कर जाते हैं इसलिए सामायिक आवश्यक आराधना में स्थान दिया गया है।

सामायिक के विभिन्न अर्थ

सामायिक का अभिप्रेत समता है। समता का अर्थ है– चित्त की स्थिरता, राग-द्वेष रूप अध्यवसायों का शमन और अनुकूल-प्रतिकूल में तटस्थता। स्वयं को विषम भावों से हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है।

• सामायिक शब्द 'सम्' उपसर्ग और गत्यार्थक 'इण्' धातु से निष्पन्न है। संस्कृत व्याकरण के नियमा अनुसार सम् + आय + इक् प्रत्यय के संयोग से सामायिक शब्द की उत्पत्ति होती है।

• 'समय' शब्द आत्मा, सिद्धान्त और काल का वाचक है। यहाँ विवक्षा भेद से तीनों अर्थ अभीष्ट हैं यद्यपि 'आत्मा' अर्थ मुख्य है। 'आय' का शाब्दिक अर्थ है– लाभ। जिसके द्वारा आत्म गुणों का लाभ हो अथवा जिसके द्वारा वीतराग प्रणीत सिद्धान्त (समत्व योग) का अनुसरण किया जाए अथवा जो कार्य नियत समय पर करने योग्य हो, वह सामायिक है।

• सामायिक के साम, सम्म और सम– ये तीन शब्द प्राप्त होते हैं। साम का अर्थ है– 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के समान आचरण करना। सम का अर्थ है– राग-द्वेष जन्य स्थितियों में मध्यस्थ रहना, तराजु की भाँति एक समान अध्यवसाय रखना। सम्म का अर्थ है– आत्मा के साथ एकत्व रूप व्यवहार करना।

• सम् + आय के समय और सामाय– ये दो शब्द भी प्राप्त होते हैं। जैनाचार्यों ने इन्हीं शब्दों के आधार पर सामायिक के अनेक अर्थ बतलाये हैं। सर्वार्थसिद्धि में सामायिक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहा गया है कि सम्–एकीभाव, अय्–गमन अर्थात एकत्व भाव द्वारा बाह्य परिणति से मुड़कर पुनः आत्म दिशा की ओर गमन करना समय है, समय का भाव सामायिक है।[1]

• तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार आय अर्थात जीव हिंसा के हेतुभूत परिणाम, उस आय या अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना समाय है अथवा सम्यक् आय अर्थात आत्मा के साथ एकीभूत होना समाय है उस समाय में स्थित होना अथवा समाय ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। इसका तात्पर्य है कि हिंसादि अनर्थकारी प्रवृत्ति से सतर्क रहना सामायिक कहलाता है।[2]

• चारित्रसार में सामायिक का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ निम्न रूप से बतलाया गया है– सम्यक् प्रकार से प्राप्त होना अर्थात एकान्त रूप से आत्मा में तन्मय हो जाना समय है अथवा मन, वचन एवं शरीर की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग कर आत्मस्वभाव में स्थित हो जाना समय है, समय का भाव ही सामायिक है अथवा समय जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।[3]

• गोम्मटसार के निर्देशानुसार 'सम्' अर्थात एकत्वभाव से, 'आय'

अर्थात आगमन। पर विषयों से निवृत्त होकर उपयोगवान आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करना समाय है अथवा राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा 'सम' है उसमें आय अर्थात उपयोग रूप प्रवृत्ति समाय है। वह समाय जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं।[4]

• सामायिक की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि राग-द्वेष की स्थिति में मध्यस्थ रहना सम है, माध्यस्थ भावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है वह सामायिक है अथवा सम=एकत्व रूप से आत्मा का, आय=लाभ समाय है और समाय का भाव ही सामायिक है। इसका दूसरा निरुक्त इस प्रकार भी किया जा सकता है– हिंसा के हेतुभूत जो आय-स्रोत हैं, उनका त्याग कर प्रवृत्ति को संयत करना समाय है तथा इस प्रयोजन से होने वाला प्रयत्न सामायिक है।[5]

• आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक की व्याख्या अनेक निरुक्तों के माध्यम से की है–

सम अर्थात राग-द्वेष का अभाव, आय अर्थात अयन-गमन, सम की ओर गमन करना समाय है, समाय का भाव ही सामायिक है अथवा सम का लाभ होने से कषायादि की निवृत्ति अथवा सम भाव में तच्चित्त–तद्रूप होना, अथवा सम का प्रयोजन सामायिक है।

तीसरे निरुक्त के अनुसार सम-सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के प्रति, अयन–गमन करना, समाय है तथा उसका भाव सामायिक है।

चौथे निरुक्त के अनुसार सम का आय अर्थात गुणों की प्राप्ति होना समाय है और वही सामायिक है।

पाँचवें निरुक्त के अनुसार साम-सर्व जीवों की मैत्री में, अय-गमन करना अर्थात प्राणी मात्र के प्रति मैत्री स्थापित करना सामायिक है। इसी तरह सम्यग् अय अर्थात सम्यक वर्तन करना है। यहाँ सामाय 'स' और 'म' इन दोनों अक्षरों की वृद्धि होने रूप सामायिक है।

• अन्य निरुक्त के अनुसार साम अर्थात अन्य जीवों को पीड़ा नहीं देना, सम्म अर्थात सम्यक प्रकार से ज्ञानादि नय का परस्पर योजन करना और सम अर्थात माध्यस्थ भाव में वर्तन करना सामाय है। इसमें 'इक्' प्रत्यय जोड़ने पर सामायिक शब्द बनता है।

इस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य में साम, सम्म, सम, समाय, सामाय आदि शब्दों का प्रयोग करके सामायिक की व्याख्या की गई है।[6]

सामायिक की शास्त्रीय परिभाषाएँ

उत्तराध्ययनसूत्र में सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखने को सामायिक कहा गया है।[7] मूलाचार में सामायिक की विविध परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें मुख्यतः समता को सामायिक कहा है। सामान्यतया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है, वह समय है और वही सामायिक है।[8] द्रव्य, गुण और पर्याय के समवाय अर्थात स्वरूप को तथा सद्भाव अर्थात परमार्थ रूप को जानना उत्तम सामायिक है।[9] त्रस-स्थावर रूप सर्व प्राणियों को सिद्ध के समान शुद्ध जानना सामायिक है। दुर्गतिजनक राग-द्वेषादि परिणामों से आत्मा को विकृत न करना परम सामायिक है।[10]

यहाँ जीवन-मरण,लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके इनमें समभाव रखने को भी सामायिक कहा है।[11]

धवला टीका एवं अमितगति श्रावकाचार में सामायिक की यही परिभाषा स्वीकार की गई है।[12] भावपाहुड टीका के अनुसार सर्व जीवों में समान भाव रखना सामायिक है।[13] अमितगतिरचित योगसार में राग-द्वेष रूप बुद्धि का त्याग कर आत्मस्वरूप में लीन होने को सामायिक कहा है।[14]

नियमसार और राजवार्तिक में आत्मस्वभाव में स्थिर होने, श्रुत ज्ञान के द्वारा चित्त को निश्चल रखने एवं सावद्ययोग से निवृत्त होने को सामायिक कहा गया है।[15]

अनगारधर्मामृत में संयम, नियम एवं तप आदि के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करने को सामायिक बतलाया है।[16] कषायपाहुड के उल्लेखानुसार प्रातः, मध्याह्न एवं सायं– इन तीनों सन्ध्याओं में अथवा पक्ष और मास के सन्धि दिनों में अथवा अपने इष्ट समय में बाह्य परिग्रहादि रूप और अन्तरंग राग-द्वेषादि रूप कषाय का निरोध करना सामायिक है।[17] गोम्मटसार में नित्य-नैमित्तिक क्रिया विशेष और सामायिक का प्रतिपादक शास्त्र को भी सामायिक कहा गया है।[18]

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों एवं परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा

जाए तो समता ही सामायिक है। सभी जैनाचार्यों ने समता पर विशेष बल दिया है। आत्मस्थिरता, राग-द्वेष का त्याग, सावद्ययोगनिवृत्ति, आत्मगुणों की वृद्धि वगैरह समत्व भाव के ही द्योतक हैं। अत: राग-द्वेष या अनुकूल-प्रतिकूल के विविध प्रसंग समुपस्थित होने पर आत्म स्वभाव में तटस्थ रहना सामायिक है। भगवद्गीता में समत्व को योग कहा गया है।[19]

निश्चयनय से आत्मा ही सामायिक है और सामायिक का अर्थ है आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना, उसमें तल्लीन होना–यही सामायिक है।[20] इसी अभिप्रेत को स्पष्ट करते हुए आवश्यकनिर्युक्तिकार ने कहा है– जिसकी आत्मा संयम, तप और नियम में संलग्न रहती है वही शुद्ध सामायिक है।[21]

आवश्यकटीका के अनुसार सावद्ययोग (पाप-व्यापार) से रहित, तीन गुप्तियों से युक्त, षड्जीवनिकायों में संयत, उपयोगवान, यतनाशील आत्मा ही सामायिक है।[22]

परमार्थत: आत्मा ही सामायिक है अथवा सामायिक आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम है।

सामायिक का अर्थ गांभीर्य

सामायिक अर्थात राग-द्वेष रहित अवस्था • पीड़ा का परिहार • समभाव की प्राप्ति सर्वत्र तुल्य व्यवहार • ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पालन • चित्तवृत्तियों के उपशमन का अभ्यास • समभाव में स्थिर रहने का अभ्यास • सर्व जीवों के प्रति समान वृत्ति का अभ्यास • सर्वात्मभाव का अभ्यास • 48 मिनट का श्रमण जीवन • संवर की क्रिया एवं आस्रव का वियोग • सद्व्यवहार • आगमानुसारी शुद्ध जीवन जीने का अनुपम प्रयास • समस्थिति • विषमता का अभाव • बन्धुत्वभाव का शिक्षण • शान्ति की साधना • अहिंसा की आराधना • श्रुतज्ञान की सात्त्विक उपासना • अन्तर्दृष्टि का आविर्भाव • उच्चकोटि का आध्यात्मिक–अनुष्ठान • अन्तर्चेतना में निहित स्वाभाविक गुणों का प्रकटीकरण • स्वयं की पर्यायों को स्वयं में अनुभूत करने की सहज क्रिया • ममत्वयोग से हटकर अन्त:करण को समत्वयोग में नियोजित करना • आवश्यक क्रिया का प्रथम चरण • आत्म रिसर्च का सेंटर • जैन दर्शन का प्रारम्भ • संसार समुद्र से तिरने का श्रेष्ठ जहाज • मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं

तटस्थ भावनाओं का झरना • जैनत्व की पहचान • अपूर्व शान्ति प्राप्त करने का संकल्प • पवित्रता का प्रतीक • मानवता के चरम विकास का सर्वोच्च साधन • बच्चों के लिए सुसंस्कार • युवकों के लिए पुरुषार्थ • नारी के लिए श्रृंगार • मानव का आदर्श • शाश्वत आनंद प्राप्त करने का गुप्त मंत्र • आत्मा का स्वास्थ्य • निजानंद की मस्ती • 2880 सैकेण्ड की शांत मनो भूमिका • मुक्ति का राजमार्ग और • समस्त प्राणियों के सुख का आधार है।

सार रूप में कहें तो स्वयं की स्वयं में उपस्थिति होना सामायिक है।

सामायिक के पर्यायवाची

निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र– इन तीनों प्रकार की सामायिकों के समानार्थी शब्दों (निरुक्तियों) का उल्लेख किया है।

सम्यक्त्व सामायिक के सात पर्यायवाची बतलाये हैं– 1. **सम्यग्दृष्टि**– प्रशस्त दृष्टि 2. **अमोह**–अनाग्रह 3. **शोधि**-मिथ्यात्व का विलय 4. **सद्भाव दर्शन**–जिन प्रवचन की उपलब्धि 5. **बोधि**-परमार्थ का बोध 6. **अविपर्यय**– तत्त्व स्वरूप का निश्चय 7. **सुदृष्टि**–यथार्थ समझ।[23]

श्रुतसामायिक के निम्न सात एकार्थवाची कहे गये हैं– 1. **अक्षर** 'न क्षरति, न चलति इत्यक्षरम्' जो नाश को प्राप्त नहीं होता, वह अक्षर कहलाता है। ज्ञान अक्षर रूप होने से जीव का स्वभाव है अत: श्रुतज्ञान स्वयं ज्ञानात्मक है, इस तरह का बोध होना 2. **संज्ञी**– संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का श्रुत। 3. **सम्यक**– सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत 4. **सादि**– जिस श्रुत की आदि हो 5. **सपर्यवसित**– जिस श्रुत का अन्त हो 6. **गमिक**– कुछ विशेषताओं के कारण जित श्रुत (सूत्र) को आदि, मध्य और अवसान में बार-बार कहा जाता हो 7. **अंगप्रविष्ट**– तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा गुम्फित श्रुत। ये सातों पद सप्रतिपक्षी हैं। श्रुतज्ञान के चौदह भेदों में भी उक्त सात पद की गणना की गयी है।[24]

चारित्र सामायिक के दो भेद हैं– (i) देशविरति और (ii) सर्वविरति।

देशविरति सामायिक के छ: पर्याय निम्न हैं– 1. विरताविरत 2. संवृतासंवृत 3. बालपंडित 4. देशैकदेशविरति 5. अणुधर्म और 6. आगार धर्म।[25]

सर्वविरति सामायिक के आठ पर्यायवाची निम्नानुसार हैं–

1. सामायिक– जिसमें सम-मध्यस्थ भाव की आय-उपलब्धि होती है,

वह सामायिक है। आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक नाम पर दमदंत राजर्षि का दृष्टान्त दिया गया है।

2. समयिक– स + मयिक। मया का अर्थ है– दया। अर्थात सर्व जीवों के प्रति दया का भाव रखना समयिक है। इस सामयिक पर मेतार्य मुनि का दृष्टान्त बताया गया है।

3. सम्यग्वाद– सम्यग् – राग-द्वेष रहित, वाद – कथन करना अर्थात राग-द्वेष शून्य होकर यथार्थ कथन सम्यग्वाद है। इस विषय में कालकाचार्य का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

4. समास– सं + आस – सम्यक् प्रकार से स्थित होना अथवा समास के अर्थ हैं– एकत्रित करना, संक्षिप्त करना, संसार सागर से पार होने के लिए आत्म भावों में सुस्थिर होना, पूर्वबद्ध कर्मों का क्षेपण करना समास है। इस सम्बन्ध में चिलातीपुत्र का दृष्टान्त बताया गया है।

5. संक्षेप– द्वादशांगी का सार रूप तत्त्व समझना अथवा चौदह पूर्वों का सार रूप कथन करना संक्षेप है। इस सामायिक पर ऋषि आत्रेय का उदाहरण है।

6. अनवद्य– अनवद्य का अर्थ है– निष्पाप। पाप रहित आचरण करना अनवद्य नामक सामायिक है। शास्त्रों में इस सामायिक के सन्दर्भ में धर्मरूचि अणगार का उदाहरण वर्णित है।

7. परिज्ञा– परि + ज्ञा अर्थात तत्त्व के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानना अथवा हेय-उपादेय का सम्यक् बोध करना परिज्ञा नामक सामायिक है। इस विषय पर इलाचीकुमार का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

8. प्रत्याख्यान– गुरु की साक्षी से हेय प्रवृत्ति का त्याग करना प्रत्याख्यान सामायिक है। इस सामायिक के स्पष्टीकरण हेतु तेतलीपुत्र का उदाहरण है।[26]

उक्त आठों कथानक उत्कृष्ट समता भाव का निर्देशन करते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका आदि में इन कथाओं का विस्तृत विवेचन है।

सामायिक के प्रकार

जैन धर्म के प्रवर्त्तक तीर्थंकर परमात्मा साधना क्षेत्र में प्रवेश करते समय सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करते हैं। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर वे सभी प्राणियों के कल्याण के लिए सर्वप्रथम सामायिक धर्म का ही उपदेश देते

हैं। इसी उपदेश के आधार पर गणधर अपने बुद्धिबल से द्वादशांगी की रचना करते हैं। द्वादशांगी का आरम्भ सामायिकसूत्र से ही होता है। सामान्य साधक अपने अध्ययन क्रम में सबसे पहले सामायिकसूत्र का ही अध्ययन करता है। इस प्रकार सामायिक का सर्वोपरि स्थान है।

जैन विचारधारा में आराधना की तरतमता एवं आराधक की योग्यता की अपेक्षा सामायिक के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं जो निम्न हैं–

द्विविध भेद– पात्र की अपेक्षा सामायिक दो प्रकार की होती है– 1. गृहस्थ की सामायिक और 2. श्रमण की सामायिक। द्रव्य और भाव की अपेक्षा भी सामायिक दो प्रकार की कही गई है–

1. **द्रव्य सामायिक–** सामायिक में स्थिर होने के लिए आसन बिछाना, चरवला, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित करना एवं एक स्थान पर अवस्थित होना यह द्रव्य सामायिक है।

2. **भाव सामायिक–** द्रव्य आराधना पूर्वक आत्मभावों में लीन रहना भाव सामायिक है। परम्परानुसार गृहस्थ की सामायिक 48 मिनट (एक मुहूर्त्त) की होती है। वह अपनी शक्ति एवं स्थिति के अनुसार क्रमशः एक से अधिक सामायिक कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

त्रिविध भेद– आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद किए हैं– 1. सम्यक्त्व सामायिक 2. श्रुत सामायिक और 3. चारित्र सामायिक।

सम्यक्त्व सामायिक का अर्थ सम्यग्दर्शन, श्रुत सामायिक का अर्थ सम्यग्ज्ञान और चारित्र सामायिक का अर्थ सम्यक् चारित्र है। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत– ये दोनों आवश्यक माने गए हैं। सम्यक्त्व के बिना श्रुत सम्यक् नहीं होता तथा इन दोनों के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता।[27]

जैन आचार की दृष्टि से सम्यक्त्व व्रत ग्रहण करना सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक है, बारहव्रत स्वीकार करना देशविरति सामायिक है और दीक्षा अंगीकार करना चारित्र सामायिक है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो आगम साहित्य में सामायिक के त्रिविध भेद की चर्चा लगभग उपलब्ध नहीं होती है, केवल आवश्यकसूत्र पर लिखा गया टीका साहित्य ही इस विषय का प्रतिपादन करता है। इसके परवर्तीकालीन ग्रन्थकारों ने इन्हें व्रत विशेष में समाहित कर लिया है।

चतुर्विध भेद– दिगम्बर परम्परा के भगवती आराधना में सामायिक के चार भेद बतलाए गए हैं– 1. नाम सामायिक 2. स्थापना सामायिक 3. द्रव्य सामायिक और 4. भाव सामायिक।[28]

1. नाम सामायिक– निमित्त की अपेक्षा के बिना किसी व्यक्ति आदि का नाम सामायिक रखना, नाम सामायिक है।

2. स्थापना सामायिक– सर्व सावद्य का त्याग एवं तद्रूप परिणाम रखने वाली आत्मा के द्वारा सामायिक करते समय एकीभूत शरीर का जो आकार होता है उस आकार के समान होने से 'यह वही है' इस प्रकार चित्र, पुस्तक आदि में स्थापना करना, स्थापना सामायिक है।

3. द्रव्य सामायिक– द्रव्य सामायिक मुख्यत: दो प्रकार की होती है– (i) आगम द्रव्य और (ii) नो आगम द्रव्य।

द्वादशांगश्रुत (बारह अंग) के आद्य ग्रन्थ का नाम सामायिक है अर्थात आचारांग का दूसरा नाम सामायिक है। जो इस सामायिक श्रुत के अर्थ का ज्ञाता है, जिसे सामायिक नामक आत्म परिणाम का बोध है, किन्तु वर्तमान में उस ज्ञान रूप से परिणत नहीं है अर्थात उसका उपयोग उसमें नहीं हैं। उस व्यक्ति की आगम द्रव्य सामायिक है।

नोआगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भव्य शरीर और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार की है– (i) सामायिक के ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिक के ज्ञान में कारण है, क्योंकि आत्मा की तरह शरीर के बिना भी ज्ञान नहीं होता है। अत: ज्ञान सामायिक का कारण होने से त्रिकालवर्ती शरीर को नो आगम द्रव्य सामायिक कहते हैं। (ii) चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम विशेष से जो आत्मा भविष्य में सर्वसावद्य योग के त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि-नोआगम द्रव्य सामायिक कहते हैं। (iii) जो चारित्र मोहनीय कर्म की क्षयोपशम अवस्था को प्राप्त है अर्थात जिस जीव के चारित्रमोह का क्षयोपशम हो चुका है वह सामायिक के प्रति कारण है, अत: उसे नोआगम तद्व्यतिरिक्त सामायिक कहते हैं।

4. भाव सामायिक– भाव सामायिक भी दो प्रकार की कही गई है– (i) आगम और (ii) नोआगम। मानसिक विचार रूप सामायिक आगम-भाव सामायिक है और सम्पूर्ण सावद्य योगों से विरक्त आत्मा के परिणाम नोआगम भाव सामायिक है।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत कषायप्राभृत में सामायिक के निम्न चार प्रकार बतलाये हैं– 1. द्रव्य सामायिक 2. क्षेत्र सामायिक 3. काल सामायिक और 4. भाव सामायिक।[29] इन भेदों का स्वरूप आगे बताया जा रहा है–

षड्विध-भेद– अनगार धर्मामृत, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में सामायिक छः प्रकार की बतलायी गयी है– 1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य 4. क्षेत्र 5. काल और 6. भाव।[30]

1. नाम सामायिक– कोई हमें शुभ नाम से बुलाए या अशुभ नाम से, उस नाम का श्रवण कर अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना अथवा सामने वाले के प्रति राग-द्वेष का भाव न आना नाम सामायिक है।

अनगारधर्मामृत के अनुसार किसी मित्र के द्वारा सम्यक् नाम से बुलाए जाने पर उससे राग नहीं करूंगा और शत्रु के द्वारा अप्रशस्त नाम का प्रयोग करने पर द्वेष नहीं करूंगा, क्योंकि मैं वचन के गोचर नहीं हूँ यानी आत्मा शब्द का विषय नहीं है– इस प्रकार का संकल्प करना नाम सामायिक है।[31] अनगार धर्मामृत की टीका में कहा गया है– जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया की अपेक्षा से रहित किसी का नाम सामायिक रखना, नाम सामायिक निक्षेप है तथा अच्छे-बुरे नामों को सुनकर द्वेष नहीं करना नाम सामायिक है। गोम्मटसार में यही परिभाषा दी गई है।[32]

2. स्थापना सामायिक– सामान्यतया आकर्षक वस्तुओं को देखकर राग नहीं करना और घृणित वस्तुओं को देखकर द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। पं. आशाधरजी स्थापना सामायिक का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं– सुन्दर आकार रूप विशिष्ट प्रतिमा को देखकर यह विचार करना कि यह अर्हन्त स्वरूप का स्मरण करवाती है किन्तु मैं उस अरिहन्त स्वरूप नहीं हूँ तब इस प्रतिमा स्वरूप तो हो ही नहीं सकता हूँ। इसलिए मेरी बुद्धि इस प्रतिमा में न तो सम्यक् रूप से अवस्थित है और न उससे विपरीत ही है। इस प्रकार अरिहन्त प्रतिमा के शास्त्रोक्त रूप को देखकर न राग करना और विपरीत स्वरूप को देखकर द्वेष भी नहीं करना, स्थापना सामायिक है।[33]

आचार्य नेमिचन्द्र पूर्व मत का अनुसरण करते हुए यह कहते हैं कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्त्री-पुरुष आदि के आकारों में अथवा उनके चित्रों में राग-द्वेष की बुद्धि नहीं रखना स्थापना सामायिक है अथवा 'यह सामायिक है' इस प्रकार

स्थापित की गई वस्तु स्थापना सामायिक है।[34]

3. द्रव्य सामायिक– स्वर्ण और मिट्टी दोनों प्रकार के पदार्थों में समभाव रखना द्रव्य सामायिक है। दिगम्बर आचार्यों ने कुछ भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जैसे– कषायपाहुड के अनुसार सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है।[35] गोम्मटसार में यही स्वरूप बतलाया गया है। अनगार धर्मामृत में आगम और नोआगम ऐसे दो प्रभेद करते हुए वर्णित किया है कि सामायिक विषयक शास्त्र का ज्ञाता, किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीव और उसका शरीर तथा उनके विपक्षी भावी जीव और कर्म-नोकर्म (यहाँ सामायिक के द्वारा उपार्जित तीर्थंकरत्व आदि कर्म हैं तथा सामायिक विषयक आगम को पढ़ाने वाला उपाध्याय,पुस्तक आदि नोकर्म तद्व्यतिरिक्त हैं) इनमें किसी प्रकार का अच्छा या बुरा अभिनिवेश न करना, द्रव्य सामायिक है।[36]

वस्तुत: शरीर आदि सभी पर द्रव्य हैं। वे स्वद्रव्य के कैसे हो सकते हैं? जो योग का अभ्यासी होता है वह तो स्वद्रव्य में अभिनिवेश (मिथ्या आरोपण या आग्रह बुद्धि) रखता है किन्तु जो उसमें परिपक्व हो जाता है उसके लिए स्वद्रव्य में अभिनिवेश भी त्याज्य है। पद्मोत्तर पंचविंशिका में कहा गया है कि पहुँचे हुए साधक को 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं कर्मों से कष्टित हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक आत्मा निर्विकल्प दशा को उपलब्ध करके मोक्षपद को प्राप्त करता है अत: सभी तरह के विकल्प त्याज्य हैं।

4. क्षेत्र सामायिक– चाहे महल हो या उपवन, समतल भूमि हो या बंजर भूमि, शान्त वातावरण हो या कोलाहल भरा, प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहना, तनावमुक्त रहना, चित्त को शांत रखना क्षेत्र सामायिक है।

प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, निश्चय से उसी में उस द्रव्य का निवास है। बाह्य क्षेत्र तो व्यावहारिक है, वह तो बदलता रहता है, उसके विनाश से आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती, अत: आत्मभावों में स्थिर रहना क्षेत्र सामायिक है।

5. काल सामायिक– शीतकाल हो या उष्ण, अनुकूल स्थिति हो या प्रतिकूल, उसका मन पर कोई आसन नहीं होना अथवा व्याकुल नहीं होना काल सामायिक है।

काल सामायिक करने वाला यह चिन्तन करे कि निश्चय कालद्रव्य तो

अमूर्तिक है। लोक में शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदि को उपचरित व्यवहार से काल कहा जाता है तथा वह ज्योतिषी देवों के गमन आदि से और पौद्गलिक परिवर्तन से जाना जाता है, अत: पौद्गलिक है। पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला होने से मूर्तिक है, जबकि आत्मा अमूर्त्त है इसलिए अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त काल से सम्बद्ध नहीं हो सकता, तब ऋतु आदि का परिवर्तन होने पर आत्मा द्वारा राग-द्वेष कैसे किया जा सकता है? वह तो पुद्गलों का परिवर्तन है, यही काल सामायिक का यथार्थ लक्षण है।

6. भाव सामायिक– शत्रु हो या मित्र, स्वजन हो या अन्यजन, सभी के प्रति एक-सा भाव रखना, समान आचरण करना, हृदय में प्रमोदभाव उत्पन्न होना और आत्मभाव में विचरण करना भाव सामायिक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है और मिथ्यात्व का वमन कर दिया है तथा जो नयवाद द्वारा श्रुत सिद्धांत को पूर्णरूप से कहने में समर्थ है ऐसे पुरुष को बाधारहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामायिक है।[37]

चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने भाव सामायिकधारी को एक विराट् नगर की उपमा दी है। जैसे विराट् नगर जनता, धन, धान्य आदि से समृद्ध तथा विविध वनों और उपवनों से अलंकृत होता है वैसे ही भाव सामायिक करने वाले साधक का जीवन सद्गुणों से सुसज्जित होता है। वह आत्मभाव में विचरण करते हुए सदैव चिन्तन करता है– मैं अजर-अमर हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, जन्म-मरण, मान-अपमान, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ– ये सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। वस्तुत: इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीव के पाँच भावों में केवल एक पारिणामिक भाव स्वाभाविक है, शेष चारों भाव औपाधिक हैं। उनमें औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक– ये तीन भाव तो कर्मजनित होने के कारण मुझसे भिन्न हैं अत: मैं उनमें राग-द्वेष कैसे कर सकता हूँ? क्षायिक भाव केवल ज्ञानादि रूप जीव का यद्यपि स्वभाव है फिर भी कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण उपचार से कर्मजनित कहा जाता है।[38]

इस प्रकार विचार करके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप को प्राप्त करना ही भाव सामायिक है।

यहाँ सामायिक के छः प्रकारों का जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि 'करेमिभंते' के पाठ पूर्वक एक आसन पर बैठना ही सामायिक नहीं है, अपितु प्रतिकूल पदार्थों का संयोग होने पर, प्रतिकूल स्थान मिलने पर, प्रतिकूल प्रसंगों के उपस्थित होने पर द्वेष नहीं करना और अनुकूल संयोग आदि के होने पर राग नहीं करना सामायिक है। इस प्रकार की सामायिक साधना चाहे जब की जा सकती है। वर्तमान युग में द्रव्य सामायिक का प्रचलन विशेष है। आत्म जिज्ञासु साधकों को भाव-सामायिक के प्रति भी जागरूक रहना चाहिए।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो पूर्वोक्त प्रकारों की विस्तृत चर्चा श्वेताम्बर के आवश्यकचूर्णि आदि में एवं दिगम्बर के कषायपाहुड, गोम्मटसार, अनगारधर्मामृत वगैरह ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। तुलना की दृष्टि से देखा जाए तो इन प्रकारों के स्वरूप आदि में परस्पर समानता है।

विविध दृष्टियों से सामायिक

सामायिक समता की साधना है। यह इतनी विराट् एवं व्यापक है कि इस सम्बन्ध में कई ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण रचित विशेषावश्यकभाष्य जो 3600 गाथा परिमाण है, वह सामायिक आवश्यक पर ही लिखा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीय टीका, आवश्यक मलयगिरि टीका, आवश्यक टिप्पणक, आवश्यक अवचूर्णि आदि छह आवश्यक पर लिखे गये व्याख्या ग्रन्थ हैं। केवल सामायिक अध्ययन पर उपव्याख्या ग्रन्थ भी मिलते हैं। कोट्याचार्यकृत टीका एवं मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका मूलतः विशेषावश्यक भाष्य पर लिखी गई है। इनमें सामायिक का विस्तृत एवं गंभीर प्रतिपादन हैं। इस तरह जैन ग्रन्थों में सामायिक विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध होती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आवश्यक निर्युक्ति यद्यपि छः आवश्यक पर लिखी गई है, किन्तु उसकी प्रारम्भिक लगभग सात सौ गाथाएँ सामायिक अध्ययन का ही विवेचन करती हैं अतः इस संख्या परिमाण तक की निर्युक्ति का दूसरा नाम सामायिक निर्युक्ति है। इस विभाग में उपोद्घात निर्युक्ति के माध्यम से सामायिक के छब्बीस द्वारों की व्याख्या की गई है।

मुख्यतः निर्युक्ति के तीन भेद मिलते हैं– 1. निक्षेप निर्युक्ति 2. उपाद्घात निर्युक्ति 3. सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति।[39]

निक्षेप निर्युक्ति में निक्षेप द्वारा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ कथन होता है। निक्षेप और निर्युक्ति में मूल भेद यह है कि निर्युक्ति में सूत्र की व्याख्या होती है और निक्षेप में सूत्र का न्यास मात्र होता है।[40] उपोद्घात निर्युक्ति में उस विषय या शब्द की 26 प्रकार से मीमांसा होती है।[41] तीसरी सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति में अस्खलित, अन्य वर्णों से अमिश्रित, अन्य ग्रन्थों के वाक्यों से अमिश्रित, प्रतिपूर्ण, घोषयुक्त, कंठ और होठ से निकला हुआ, गुरु की वाचना से प्राप्त सूत्र का उच्चारण करना होता है। इससे स्वसमयपद, परसमयपद, बंधपद, मोक्षपद, सामायिकपद और नोसामायिक पद– यह सब जाने जाते हैं।[42]

व्याख्येय सूत्र को व्याख्या-विधि के निकट लाना, जिस सूत्र की जिस प्रसंग में जो व्याख्या करनी हो, उसकी पृष्ठभूमि तैयार करना उपोद्घात कहलाता है। उपोद्घात के अर्थ का कथन उपोद्घात निर्युक्ति है। समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यक भाष्य के आधार पर सामायिक के छब्बीस द्वारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है, जिसके द्वारा सामायिक आवश्यक का आद्योपांत परिचय ज्ञात हो जाता है।[43]

1. **उद्देश–** सामान्य रूप से नाम कथन करना, जैसे– आवश्यक।[44]

2. **निर्देश–** विशेष नाम का निर्देश करना, जैसे– सामायिक।[45]

3. **निर्गम–** उत्पत्ति के मूलस्रोत की खोज करना, जैसे– सामायिक का निर्गम महावीर से हुआ।

4. **क्षेत्र–** वैशाख शुक्ला एकादशी को प्रथम पौरुषी में महासेन वन नामक उद्यान में सामायिक की उत्पत्ति हुई।[46]

5. **काल–** सम्यक्त्व सामायिक और श्रुतसामायिक की उपलब्धि सुषमा-सुषमा, सुषमा आदि छहों कालखण्डों में होती है। देशविरति सामायिक एवं सर्व विरतिसामायिक की उपलब्धि उत्सर्पिणी के दुःषम-सुषमा और सुषम-दुःषमा तथा अवसर्पिणी के सुषम-दुःषमा, सुषम-दुःषमा और दुःषमा इन काल खण्डों में होती है।[47]

महाविदेह क्षेत्र में सदा दुःषम-सुषमा नामक चौथा आरा रहता है। वहाँ चारों सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। तीन लोक के बाहर केवल तिर्यंच होते हैं अतः वहाँ सर्वविरति सामायिक को छोड़कर शेष तीन सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। नन्दीश्वर आदि द्वीपों में विद्याचारण आदि लब्धिधर मुनियों का

आगमन होने के कारण अथवा देवों के द्वारा संहरण होने के कारण वहाँ सर्वविरति सामायिक पूर्वक चारों सामायिक की उपलब्धि हो सकती है।[48]

देवकुरु-उत्तरकुरु आदि अकर्मभूमियों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का अभाव होता है। अत: वहाँ केवल सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक होती हैं।[49] स्पष्टीकरण हेतु तालिका इस प्रकार हैं–

	क्षेत्र	काल	सामायिक
1-2	देवकुरु-उत्तरकुरु	सुषमा-सुषमा	सम्यक्त्व और श्रुत
3-4	हरिवर्ष-रम्यकवर्ष	सुषमा	सम्यक्त्व और श्रुत
5-6	हैमवत-ऐरण्यवत	सुषम-दु:षमा	सम्यक्त्व और श्रुत

6. पुरुष– व्यवहार दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन तीर्थंकर और गणधरों ने किया। निश्चय नय के अनुसार सामायिक का विधिवत अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति सामायिक का कर्त्ता है।[50]

7. कारण– तीर्थंकर परमात्मा तीर्थंकर नामगोत्र का वेदन करने के लिए सामायिक अध्ययन की प्ररूपणा करते हैं। गौतम आदि ग्यारह गणधर ज्ञानवृद्धि के लिए और मंगल भावों की उपलब्धि के लिए सामायिक का श्रवण करते हैं।[51]

8. प्रत्यय– 'मैं केवलज्ञानी हूँ' इस प्रत्यय अर्थात मानसिक विचार से आप्तपुरुष सामायिक का कथन करते हैं। सुनने वालों को यह प्रत्यय होता है कि 'ये सर्वज्ञ हैं' इसलिए वे सुनते हैं।[52]

9. लक्षण– सम्यक्त्व सामायिक का लक्षण है– तत्त्वश्रद्धा। श्रुतसामायिक का लक्षण है– जीव आदि का परिज्ञान। चारित्रसामायिक का लक्षण है– सावद्ययोग से विरति।[53]

10. नय– विभिन्न नयों के अनुसार सामायिक क्या है? नैगम नय के अनुसार सामायिक अध्ययन के उद्दिष्ट शिष्य यदि वर्तमान में सामायिक का अध्ययन नहीं कर रहा है, तब भी वह सामायिक है।

संग्रह नय और व्यवहार नय के अनुसार सामायिक अध्ययन को पढ़ने के लिए गुरु के चरणों में आसीन शिष्य सामायिक है।

ऋजुसूत्र नय के अनुसार अनुयोगपूर्वक सामायिक अध्ययन को पढ़ने वाला शिष्य सामायिक है।

शब्द आदि तीनों नयों के अनुसार शब्द क्रिया से रहित सामायिक में उपयुक्त शिष्य सामायिक है,क्योंकि इनके अनुसार विशुद्ध परिणाम ही सामायिक है।[54]

11. समवतार– किस सामायिक का समवतार किस कारण में होता है? द्रव्यार्थिक नय के अनुसार गुण प्रतिपन्न जीव सामायिक है अतः उसका समवतार द्रव्यकरण में होता है। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक और सर्वविरति सामायिक जीव के गुण हैं अतः इनका समवतार भावकरण में होता है। भावकरण के दो भेद हैं– श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतसामायिक का समवतार मुख्यतः श्रुतकरण में होता है। शेष तीन सामायिकों– सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति का समवतार नोश्रुतकरण में होता है।[55]

12. अनुमत– नय की दृष्टि से कौनसी सामायिक मोक्षमार्ग का कारण है, इसका विचार करना अनुमत कहलाता है।

ज्ञाननय को सम्यक्त्व सामायिक और श्रुतसामायिक दोनों अनुमत हैं। क्रियानय को देशविरति सामायिक और सर्वविरति सामायिक– ये दोनों अनुमत हैं। अन्तिम चारित्र भेद वाली दोनों सामायिक क्रियारूप होने से ये मुक्ति के अनन्तर कारण हैं। सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक इनके उपकारी मात्र होने से गौण हैं।[56]

13. किम्– सामायिक क्या है? द्रव्यार्थिक नय से गुण-प्रतिपन्न जीव सामायिक है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव का वही गुण सामायिक है।[57]

14. कतिविध– सामायिक के कितने प्रकार हैं? सामायिक तीन प्रकार की कही गई है– 1. सम्यक्त्व सामायिक 2. श्रुत सामायिक और 3. चारित्र सामायिक।[58]

15. कस्य– सामायिक का अधिकारी कौन होता है?

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है, उसके सामायिक होती है। जो त्रस और स्थावर सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक होती है।[59] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, पापभीरू, निष्कपट, दान्त, क्षान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधुसंगति में रत– इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सामायिक ग्रहण करने के योग्य होता है।[60]

16. क्व– सामायिक कहाँ होती है?

सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति तीनों लोकों– ऊर्ध्व,

अधो और तिर्यग्लोक में होती हैं। देशविरति सामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यग्लोक में होती है। सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति तिर्यग्लोक के एक भाग– मनुष्य लोक में होती है।[61]

सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक और देशविरतिसामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक अर्थात इन तीनों सामायिक को ग्रहण किए हुए जीव नियमतः तीनों लोकों में होते हैं। सर्वविरति सामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक अधोलोक और तिरछेलोक में नियमतः होते हैं। ऊर्ध्वलोक में इसकी भजना है।[62]

17. केषु– सामायिक किन द्रव्यों में होती है? नैगम नय के अनुसार सामायिक केवल मनोज्ञ द्रव्यों में ही संभव है क्योंकि वे मनोज्ञ परिणाम के कारण बनते हैं। शेष नयों के अनुसार सब द्रव्यों में सामायिक संभव है।[63]

18. कथम्– सामायिक की प्राप्ति कैसे होती है? श्रुतसामायिक की प्राप्ति मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा दर्शनमोह के क्षयोपशम से होती है। सम्यक्त्वसामायिक की प्राप्ति दर्शनसप्तक के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होती है। देवविरति सामायिक की प्राप्ति अप्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है। सर्वविरतिसामायिक की प्राप्ति प्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है।[64]

19. कियच्चिरम्– सामायिक की स्थिति कितने समय तक रहती है? सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की लब्धि की दृष्टि से उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छासठ सागरोपम की है। देशविरति सामायिक और सर्वविरति सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि की है।[65]

तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले विजय आदि पाँच अनुत्तर विमानों में दो बार उत्पन्न होने पर अथवा बाईस सागरोपम की स्थिति वाला बारहवाँ अच्युत नामक देवलोक में तीन बार उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व और श्रुतसामायिक की स्थिति छियासठ सागरोपम की होती हैं। इन देव-भवों के मध्य में होने वाले मनुष्य भव की स्थिति जोड़ने पर वह कुछ अधिक छियासठ सागरोपम की हो जाती है।

सम्यक्त्व, श्रुत एवं देशविरति– इन तीन सामायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और सर्वविरतिसामायिक की स्थिति एक समय है। उपयोग की अपेक्षा चारों सामायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है।[66]

20. कति– सामायिक के प्रतिपत्ता (प्राप्त जीव) कितने हैं? सम्यक्त्व सामायिक एवं देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता एक काल में उत्कृष्टतः क्षेत्र पल्योपम के असंख्येय भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने हैं। देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता से सम्यक्त्व सामायिक के प्रतिपत्ता असंख्येय गुण अधिक होते हैं। जघन्यतः एक या दो प्रतिपत्ता उपलब्ध होते हैं अर्थात कम से कम एक या दो जीव उक्त दोनों सामायिक से युक्त होते हैं। श्रुत सामायिक को प्राप्त जीव श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उत्कृष्टतः उतने होते हैं। जघन्यतः एक या दो होते हैं। सर्वविरति सामायिक को प्राप्त जीव उत्कृष्टतः सहस्र पृथक् (दो से नौ हजार) तथा जघन्यतः एक अथवा दो होते हैं।[67]

21. अंतर– जीव द्वारा सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करने के बाद उसके परित्याग के जितने समय पश्चात पुनः उसकी प्राप्ति होती है, उसे अंतरकाल कहते हैं। श्रुतसामायिक के प्रतिपत्ता का अंतर काल (सामायिक की पुनःप्राप्ति का व्यवधान काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्टतः अनंतकाल है। शेष तीन सामायिक के प्रतिपत्ता का अंतरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्टतः देशोन अपार्ध पुद्गलपरावर्त्तन जितना है। यह अंतरकाल एक जीव की अपेक्षा से है, नाना जीवों की अपेक्षा से अंतरकाल नहीं होता।[68]

यहाँ ज्ञातव्य है कि श्रुतसामायिक का जघन्य और उत्कृष्ट अंतरकाल मिथ्या अक्षरश्रुत की अपेक्षा से है। कोई बेइन्द्रिय आदि जीव श्रुत प्राप्त कर मृत्यु के पश्चात पृथ्वी आदि में उत्पन्न होता है तो वहाँ अन्तर्मुहूर्त्त रहकर पुनः बेइन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो श्रुत प्राप्त करता है। उसके अन्तर्मुहूर्त्त का अंतरकाल होता है। जो बेइन्द्रिय आदि जीव मरकर पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि एकेन्द्रिय योनि में पुनः पुनः उत्पन्न हो तो वहाँ अनंतकाल तक रहता है। तत्पश्चात बेइन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो श्रुत प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षा अनंतकाल का उत्कृष्ट अंतर कहा गया है।

यह अनंतकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त्त जितना होता है। सम्यक्श्रुत सामायिक का अंतरकाल सम्यक्त्व आदि सामायिक जितना ही है।[69]

22. विरह-अविरहकाल–

विरहकाल– जिस काल में सामायिक का प्रतिपत्ता (प्राप्त जीव) कोई

नहीं होता, वह उसका विरहकाल है। श्रुतसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक की प्रतिपत्ति का विरहकाल उत्कृष्टत: सात अहोरात्र, देशविरति सामायिक का बारह अहोरात्र और सर्वविरति सामायिक का पन्द्रह अहोरात्र है। इसके पश्चात किसी न किसी जीव की सामायिक की प्रतिपत्ति अवश्य होती है। श्रुतसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक की प्रतिपत्ति का विरहकाल जघन्यत: एक समय तथा देशविरति और सर्वविरति सामायिक का विरहकाल जघन्यत: तीन समय है।[70]

अविरहकाल– सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक एवं देशविरतिसामायिक को प्राप्त जीव आवलिका के असंख्येय भाग समयों तक निरंतर एक या दो आदि मिलते हैं, तत्पश्चात उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है। चारित्रसामायिक को प्राप्त जीव का अविरहकाल आठ समय तक होता है। उस समय में एक, दो आदि प्रतिपत्ता मिलते हैं, तत्पश्चात उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है। सामायिक चतुष्क का जघन्यत: अविरहकाल दो समय का होता है।[71]

23. भव– सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक को प्राप्त जीव क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उत्कृष्ट उतने भव करते हैं तथा जघन्यत: एक भव करते हैं। तत्पश्चात मुक्त हो जाते हैं। चारित्रसामायिक को प्राप्त जीव उत्कृष्ट आठ भव तथा जघन्यत: एक भव करते हैं। श्रुतसामायिक को प्राप्त जीव उत्कृष्टत: अनंत भव तथा सामान्य रूप से एक भव करते हैं जैसे– मरूदेवी माता।[72]

24. आकर्ष– एक या अनेक भवों में सामायिक कितनी बार उपलब्ध होती है? सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देशविरति सामायिक एक भव में सहस्रपृथक्त्व (2000 से 9000) बार तक उपलब्ध हो सकती है। सर्वविरति सामायिक एक भव में शतपृथक्त्व (200 से 900) बार तक उपलब्ध हो सकती है। यह उत्कृष्ट आकर्ष का उल्लेख है। न्यूनतम आकर्ष एक भव में एक बार होता है।

अनेक भवों की अपेक्षा सम्यक्त्वसामायिक और देशविरतिसामायिक उत्कृष्टत: असंख्येय हजार बार उपलब्ध होती है, सर्वविरति सामायिक दो हजार से नौ हजार बार उपलब्ध होती है तथा श्रुतसामायिक अनंत भवों में अनन्त बार उपलब्ध होती है।[73]

25. स्पर्श– सामायिक का कर्त्ता कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है? निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने सामायिक का क्षेत्रस्पर्शना की दृष्टि से भी विचार किया है। सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरति सामायिक से सम्पन्न जीव केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुतसामायिक और सर्वविरति सामायिक से युक्त जीव इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, तब वह लोक के सप्त चतुर्दश 7/14 भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्व सामायिक और श्रुतसामायिक से उपपन्न जीव छठीं नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा से वह लोक के पंच चतुर्दश 5/14 भाग का स्पर्श करता है। देशविरति सामायिक से सम्पन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो 5/14 भाग का स्पर्श करता है। यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्विचतुर्दश 2/14 आदि भागों का स्पर्श करता है।[74]

भावस्पर्शना की दृष्टि से श्रुतसामायिक संव्यवहार राशि के सब जीवों द्वारा स्पृष्ट है। सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरति सामायिक सब सिद्धों द्वारा स्पृष्ट है, क्योंकि इन दोनों सामायिक को प्राप्त किए बिना कोई भी जीव सिद्ध नहीं बन सकता। सब सिद्धों को बुद्धि से कल्पित असंख्येय भागों में विभक्त करने पर यह कहा जा सकता है कि देशविरति सामायिक असंख्येय भाग न्यून सिद्धों के द्वारा स्पृष्ट है। कोई-कोई जीव देशविरति सामायिक का स्पर्श किए बिना भी मुक्त हो जाते हैं जैसे– मरूदेवी माता।[75]

26. निरुक्त– सामायिक के कितने निरुक्त (पर्याय) होते हैं? सम्यक्त्व सामायिक के सात, श्रुत सामायिक के चौदह, देशविरति सामायिक के छह और सर्वविरति सामायिक के आठ पर्यायवाची नाम हैं।[76]

प्रस्तुत अध्याय में मुख्य रूप से सामायिक आवश्यक अभिप्रेत है। यद्यपि श्रमण एवं नित्य सामायिक करने वाले गृहस्थ की अपेक्षा इसमें पूर्वोक्त सामायिक के चारों प्रकारों का अन्तर्भाव हो जाता है। अत: चतुर्विध सामायिक का अनेक द्वारों के माध्यम से वर्णन किया गया है।

सामायिक और ज्ञान

विशेषावश्यकभाष्य में मति आदि पंच ज्ञान की अपेक्षा चतुष्क सामायिक का वर्णन इस प्रकार है–

• मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीव में सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति युगपत होती है, किन्तु देशविरति और सर्वविरति सामायिक की भजना है अर्थात हो भी सकती है और नहीं भी।

• अवधिज्ञान में सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक की प्राप्ति एक साथ होती है अर्थात अवधिज्ञानी जीव पहले से ही उक्त तीनों सामायिक से युक्त होते हैं।

• मन:पर्यवज्ञान में देशविरति सामायिक को छोड़कर शेष तीन सामायिक की प्राप्ति होती है।

• भवस्थ केवली सम्यक्त्व और चारित्र दोनों सामायिक से युक्त होते हैं।[77]

सामायिक और कर्मस्थिति

संसारी जीव कर्मप्रकृतियों की तरतमता के आधार पर कब, कितनी सामायिक प्राप्त कर सकता है? आवश्यकनिर्युक्ति में बताया गया है कि जिस जीव में आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति हो, उस समय वह सामायिक चतुष्टयी में से एक भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकता।

जब जीव में आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों की स्थिति अंत: कोटाकोटी सागरोपम परिमाण रहती है, तब वह चारों में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकता है।[78]

सामायिक और संज्ञी-असंज्ञी

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार भव्य और संज्ञी (व्यक्त मनवाले) जीव सम्यक्त्व आदि चारों में से किसी भी सामायिक को प्राप्त कर सकते हैं। असंज्ञी, नोसंज्ञी (सिद्ध) और अभव्य– ये तीनों जीव किसी भी सामायिक को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।[79]

यद्यपि सिद्ध जीव सम्यक्त्व सामायिक से पूर्वप्रतिपन्न होते हैं किन्तु सम्यक्त्व वर्जित तीन सामायिक संसारी जीवों के ही संभव है। सामायिक त्रय के साहचर्य के कारण सम्यक्त्व सामायिक को भी संसारी जीवों से सम्बन्धित मानकर सिद्धों में उसका निषेध किया गया है। असंज्ञी जीवों में भी सास्वादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक पूर्व प्रतिपन्न होते हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी-भवस्थ केवली सम्यक्त्वसामायिक और चारित्रसामायिक से पूर्व प्रतिपन्न होते हैं।[80]

सामायिक और आहारक पर्याप्तक

आहारक और पर्याप्तक जीव की अपेक्षा सामायिक प्रतिपत्ति इस प्रकार है– आहारक और पर्याप्तक जीव चारों में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। उनमें पूर्व प्रतिपन्न की अपेक्षा चारों सामायिक हो सकती है।[81]

• अन्तराल गति (विग्रहगति) के समय अनाहारक अवस्था में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और श्रुत दो सामायिक हो सकती है। • केवली समुद्घात की अनाहारक अवस्था तथा शैलेशी अवस्था में पूर्व प्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और चारित्र सामायिक होती है। • अपर्याप्त अवस्था में पूर्व प्रतिपन्न की अपेक्षा सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक होती है।[82]

सामायिक और आयुष्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार संख्यात वर्ष की आयु वाले जीव चारों ही सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में सम्यक्त्व सामायिक और श्रुतसामायिक वैकल्पिक है।[83]

सामायिक और गति

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता इन चारों गतियों में नियम से सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक होती है। सर्वविरति सामायिक केवल मनुष्य गति के जीवों में तथा देशविरति सामायिक मनुष्य एवं तिर्यञ्च दोनों गति के जीवों में होती है।[84]

सामायिक चारित्र एवं गुप्ति में अन्तर

सामायिक निवृत्ति मूलक साधना है अतएव कोई जिज्ञासु साधक कहे कि 'सामायिक निवृत्ति प्रधान होने के कारण गुप्ति रूप है' ऐसा मानना चाहिए? इसके प्रत्युत्तर में टीकाकार कहते हैं कि समत्व साधना गुप्ति रूप नहीं है, क्योंकि सामायिक चारित्र में मानसिक प्रवृत्ति का सद्भाव होता है,जबकि गुप्ति पूर्णतः निवृत्तिरूप होती है। यही दोनों में भेद है।[85]

सामायिक चारित्र और समिति में भेदाभेद?

पूर्व विवेचन के अनुसार सामायिक चारित्र को प्रवृत्तिरूप स्वीकार किया जाए तो इसमें समिति का लक्षण प्राप्त होता है अर्थात सामायिक को समिति रूप कहना चाहिए। किन्तु टीकाकार के अभिमत से ऐसा नहीं है, क्योंकि

सामायिक व्रत में समर्थ एवं उसके पालक व्यक्ति को ही समिति धर्म में प्रवृत्ति करने का उपदेश दिया जाता है। अत: सामायिक चारित्र कारण है और समिति इसका कार्य है।[86] समाहारत: सामायिक आंशिक समिति रूप और आंशिक गुप्ति रूप साधना है।

सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में मुख्य अन्तर के कारण

यह सुविदित है कि श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में दूसरी व्रत नामक प्रतिमा है और तीसरी सामायिक नाम की प्रतिमा है। यहाँ प्रश्न होता है कि व्रत प्रतिमा में बारह व्रतों के अन्तर्गत सामायिक नाम का व्रत कहा गया है वही सामायिक व्रत तीसरी प्रतिमाधारी के लिए बतलाया गया है तब इन दोनों में विशिष्टता क्या है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि व्रत प्रतिमा की सामायिक सातिचार (दोषजन्य) होती है और सामायिक प्रतिमा की निरतिचार। दूसरा अन्तर यह है कि व्रत प्रतिमा में तीनों काल सामायिक करने का नियम नहीं है, जबकि सामायिक प्रतिमा में मुनियों के मूलगुण आदि की भाँति तीनों काल सामायिक करने का विधान है। जैसा कि सागार धर्मामृत में कहा गया है– जिस श्रावक की बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन, निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तरगुणों के समूह के अभ्यास से विशुद्ध है, ऐसा श्रावक प्रात:काल, मध्यकाल एवं सायंकाल– इन तीनों कालों में परीषह, उपसर्ग आदि के होने पर भी साम्य परिणाम को धारण करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।[87]

तीसरी विशिष्टता यह है कि व्रत प्रतिमाधारी कभी सामायिक करता है और कारणवश कभी नहीं भी करता है, फिर भी उसका व्रत खंडित नहीं होता। क्योंकि वह इस व्रत को सातिचार पालन करता है, परन्तु तीसरी सामायिक प्रतिमा का पालन करने वाले श्रावक के लिए त्रिकाल सामायिक करना आवश्यक है, अन्यथा उसका व्रत खण्डित हो जाता है।[88]

सामायिक आवश्यक की मौलिकता

सामायिक मोक्षप्राप्ति का प्रमुख अंग है। सिद्ध अवस्था में भी सामायिक सदैव प्रवर्त्तित रहती है। जैन ग्रन्थों में सामायिक की उपयोगिता को दर्शाने वाले अनेक उद्धरण हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण इसके माहात्म्य को बतलाते

हुए कहते हैं कि षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि शेष पाँच आवश्यक एक अपेक्षा से सामायिक के ही भेद हैं, क्योंकि सामायिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्रधान गुण माना गया है।[89] उन्होंने सामायिक को चौदह पूर्वों का अर्थपिण्ड कहा है।[90]

सामायिक एक पापरहित साधना है। सामायिक काल में चित्तवृत्ति शान्त रहने से नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। इस समय यथासंभव विश्वकल्याण की कामना की जाती है फलत: आत्म स्वभाव में सुस्थिर बन श्रेष्ठ ध्यान द्वारा परमात्म पद को उपलब्ध कर लेता है। आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने पूर्व कथन को ही स्पष्ट करते हुए कहा है कि सामायिक कुशल-शुद्ध आशय रूप है, इसमें मन, वचन और शरीर रूप सब योगों की विशुद्धि हो जाती है। अत: परमार्थ दृष्टि से सामायिक एकान्त, पापरहित है।[91] उनके अनुसार सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरणी आदि घाति कर्मों का पूर्णरूप से क्षयकर लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[92]

आचार्य हरिभद्रसूरि यह भी कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या किसी अन्य मत का अनुयायी हो, जो भी समभाव में स्थित होगा, समत्ववृत्ति का आचरण करेगा, वह नि:सन्देह मोक्ष को प्राप्त करेगा।[93]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि 'न हि साम्येन विना ध्यानम्' साम्ययोग के बिना ध्यान-साधना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया जा सकता।[94] चूर्णिकार जिनदासगणी कहते हैं कि आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन है– सामायिक। सामायिक का लक्षण है– समभाव। जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है वैसे ही सामायिक सब गुणों की आधार भूमि है। समभाव विशिष्ट लब्धियों की प्राप्ति में हेतुभूत हैं तथा इससे सब पापों पर अंकुश लग जाता है।[95]

हेमचन्द्राचार्य इसके महत्त्व को रूपायित करते हुए यह भी कहते हैं कि तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाला समभाव रूपी जल में अवगाहन करने वाले साधक की राग-द्वेष रूपी अग्नि सहज ही नष्ट हो जाती है। समत्व के अवलम्बन से जो कर्म अन्तर्मुहूर्त्त में क्षीण हो सकते हैं वे तीव्र तपस्या से करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं हो सकते। जैसे दो वस्तु परस्पर में चिपकी हुई हो, तो बांस आदि की सलाई से पृथक् की जाती है उसी प्रकार परस्पर बद्ध आत्मा और कर्म को

मुनिजन समत्व भाव की साधना से पृथक् कर देते हैं। योगीजन समभाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह दृष्टि तिमिर का नाश करके अपनी आत्मा में परमात्मा को देखने लगते हैं अर्थात आत्मानुभूति कर लेते हैं।[96] इस प्रकार जैन-साधना में सामायिक का अद्वितीय स्थान सिद्ध होता है।

आचारांगसूत्र में समभाव को धर्म एवं समभाव की साधना में प्रवृत्त जीव को श्रमण कहा गया है।[97] उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगीरूप जिनवाणी का सार बताया है।[98] जिस प्रकार पुष्पों का सार गंध है, दूध का सार घृत है, तिल का सार तेल है, इक्षुखण्ड का सार रस है, उसी प्रकार साधना का सार समता है। यदि पुष्प से गंध, दूध से घृत, तिल से तेल निकल जाए, तो निस्सार बन जाते हैं वैसे ही साधना से सामायिक निकल जाए, तो साधना निस्सार हो जाती है। समता के अभाव में उपासना उपहास रूप है।

जैनाचार्यों ने सामायिक आवश्यक को आद्यमंगल माना है। विश्व में जितने भी द्रव्यमंगल हैं वे अमंगल के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं, किन्तु सामायिक ऐसा भावमंगल है, जो कभी भी अमंगलरूप नहीं हो सकता। इस तरह समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है।[99]

जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि इस विराट् संसार में परिभ्रमण करने वाला जीव यदि एक बार भी भाव सामायिक ग्रहण कर लें तो वह सात-आठ भव से अधिक संसारगर्त्त में परिभ्रमण नहीं करता।

दिगम्बर साहित्य के अनुसार सामायिक करता हुआ गृहस्थ भी साधु तुल्य हो जाता है इसलिए बहुत बार सामायिक करना चाहिए।[100] धवला टीका में सामायिक क्रिया की मूल्यवत्ता दर्शाते हुए कहा गया है कि सामायिक चारित्र में संयम के सभी अंगों का समावेश है और वह सामायिक पाठ में उच्चरित 'सर्वसावद्ययोग' पद से स्वीकार किया गया है। यदि यहाँ संयम के किसी एक भेद की मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि ऐसे स्थान पर 'सर्व' शब्द के प्रयोग करने में विरोध आता है।[101] इस कथन से यह सुसिद्ध है कि जिसने संयम के सम्पूर्ण भेदों– व्रत, समिति, गुप्ति, परीषह, आदि को अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेद रूप से एक यम को धारण करने वाला जीव सामायिक शुद्धि-संयत कहलाता है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार कहता है कि सामायिक के समय आरम्भजन्य समस्त

प्रकार की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है, इस कारण उस समय गृहस्थ भी मुनि तुल्य हो जाता है।[102] सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि सामायिक स्थित साधक के द्वारा अमुक देश और अमुक काल की सीमा निश्चित करने से उस समय तक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है, इससे वह नियतकाल के लिए महाव्रती के तुल्य माना जाता है।[103]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि सामायिक दशा को प्राप्त करने वाले श्रावक के जीवन में चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी समस्त पाप व्यापार का परिहार करने से महाव्रत होता है।[104] चारित्रसार में लिखा गया है कि विषय और कषाय से निवृत्त होकर सामायिक करने वाला गृहस्थ महाव्रती होता है।[105]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि सामायिक स्थित गृहस्थ को महाव्रती कहा जाए तो उसके लिए सम्पूर्ण संयम का प्रसंग प्राप्त होगा? किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उसके संयमधर्म का घात करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म का उदय प्रवर्त्तमान रहता है। दूसरे,जैसे राजकुल में चैत्र को सर्वगत उपचार से कहा जाता है उसी प्रकार सामायिकव्रती को महाव्रती उपचार से कहा जाता है।[106]

अनगारधर्मामृत में भी इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सामायिक व्रत के पालक देशविरति श्रावक का चित्त भी हिंसा आदि सब पापों में अनासक्त रहता है यद्यपि संयम घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होता है इसलिए उसे उपचार से महाव्रत मान लिया जाता है।[107] आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय मन्द होने से चारित्र मोहरूप परिणाम अतिमन्द हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उसका अस्तित्व जानना भी कठिन होता है। उसी अपेक्षा से महाव्रत की कल्पना की जाती है। अत: सामायिक गृहस्थ श्रावक के लिए भी आवश्यक है।[108] वस्तुत: सामायिक पाँच महाव्रतों को परिपूर्ण करने का कारण है अतएव उसे प्रमादरहित और एकाग्रचित्त पूर्वक प्रतिदिन नियम से करना चाहिए।

सामायिक की उपादेयता को पुष्ट करने वाला एक तथ्य यह भी है कि सामायिक चारित्र सभी तीर्थंकरों के समय अवस्थित रहता है, जबकि शेष चार चारित्र की अवस्थिति आवश्यक नहीं है। मूलाचार में कहा गया है कि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकर सामायिक चारित्र का उपदेश देते हैं किन्तु प्रथम तीर्थंकर

ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी पाँच महाव्रतों का उपदेश करते हैं। तात्पर्य है कि प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में पाँचों चारित्र होते हैं और मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में प्रमुख रूप से सामायिक चारित्र ही होता है। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों के समय सामायिक चारित्र निश्चित रूप से अवस्थित रहता है।[109]

इसका कारण बतलाते हुए उल्लिखित किया है कि बाईस तीर्थंकरों के शिष्य ऋजुप्राज्ञ अर्थात सरल एवं बुद्धिमान होने से उनके लिए सर्वसावद्य योग के त्याग रूप एक सामायिक चारित्र ही पर्याप्त होता है जबकि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के शिष्य ऋजु जड़-सरल स्वभावी और अज्ञानी तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के शिष्य वक्रजड़– कुटिल परिणामी और जड़स्वभावी होने के कारण संयम शुद्धि हेतु छेदोपस्थापना आदि शेष चारित्र के परिपालन की आवश्यकता रहती है।[110]

आचार्य शुभचन्द्र ने सामायिक की आवश्यकता क्या है? इसका हृदयप्रभावी चित्रण करते हुए कहा है कि राग-द्वेष और मोह के अभाव में समताभाव प्रकट होता है, इसके द्वारा ही मोक्ष के कारणभूत ध्यान की सिद्धि होती है। मोह रूपी अग्नि को उपशांत, संयम रूपी लक्ष्मी को प्राप्त तथा राग रूपी वृक्ष का समूलतः उच्छेदन करने के लिए सामायिक का आलम्बन आवश्यक है।

आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं जिस पुरुष का मन सजीव और निर्जीव तथा इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के द्वारा मोहदशा को प्राप्त नहीं होता है, वह साम्य है और वही समत्वयोग को प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में समत्वयोग से ही परमात्मपद की प्राप्ति सम्भव है। व्यक्ति समत्वयोग का आलम्बन लेकर ही अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध करता है तथा जीव और कर्म को पृथक् करता है। वस्तुतः जिसका समभाव रूपी जल शुद्ध है और ज्ञान ही नेत्र हैं, ऐसे सत्पुरुष का ही अनन्तज्ञान रूपी लक्ष्मी वरण करती है। इस जीव के साथ अनादिकाल से बद्ध राग-द्वेष रूपी वन मोहरूपी सिंह से रक्षित है, इसे समभावरूपी अग्नि की ज्वाला ही दग्ध करने में समर्थ है। जब व्यक्ति के जीवन में मोहरूपी कीचड़ सूख जाता है तब रागादि के बन्धन भी दूर हो जाते हैं फलतः उसके चित्त में जगत-पूज्य समभाव रूपी लक्ष्मी निवास करने लगती है।

समभाव की साधना से आशारूपी बेल नष्ट हो जाती है, अविद्या विलीन हो जाती है और वासनारूपी सर्प मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जो कर्म करोड़ों वर्षों तक तप आदि करने पर भी नष्ट नहीं होते, उन्हें समभावरूपी भूमिका पर आरूढ़ मुनि पलक झपकने जितने काल में नष्ट कर देता है। इस प्रकार समत्वयोग की शक्ति महान है।

आचार्य शुभचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जैन जगत में शास्त्रों का जो विस्तार है, वह मात्र समत्व की महिमा को प्रकट करने के लिए है। समत्व भाव से भावित आत्मा को जो आनन्दानुभूति होती है, उसका स्वरूप ज्ञात करके ही ज्ञानीजन समत्वयोग का अवलम्बन लेते हैं। अतः जो व्यक्ति आत्मशांति या आत्मविशुद्धि को चाहता है, वह स्वयं को समभाव से अधिवासित करें।

समभाव की प्राप्ति कैसे होती है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि जब आत्मा औदारिक, तैजस व कार्मण– इन तीन शरीरों के प्रति रागादि भाव का त्याग करती हैं और समस्त परद्रव्यों और पर पर्यायों से अपने विलक्षण स्व-स्वरूप का निश्चय करती हैं, तभी साम्यभाव में अवस्थित होती है। जो समभाव में स्थित है, वही अविचल सुख और अविनाशी पद को प्राप्त करता है इस प्रकार समस्त साधना का मूल केन्द्र समत्व साधना ही है।

ज्ञानार्णव में इसके महत्त्व को दर्शाते हुए यह भी कहा गया है कि समत्व योगी के प्रभाव से परस्पर वैरभाव रखने वाले क्रूर जीव भी जन्मगत शत्रुभाव को भूल जाते हैं तथा पारस्परिक ईर्ष्याभाव को छोड़कर मित्र बन जाते हैं।

जिस प्रकार वर्षा के होने पर वन में लगा हुआ दावानल समाप्त हो जाता है उसी प्रकार समत्व योगियों के प्रभाव से जीवों के क्रूरभाव भी शान्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार शिशिर ऋतु के समय अगस्त्य तारे के उदय होने पर जल निर्मल हो जाता है वैसे ही समत्व युक्त योगियों के सान्निध्य से मलिन चित्त भी निर्मल हो जाता है। समत्वयोगी का मानसिक बल अत्यन्त दृढ़ होता है। कदाच् अचल पर्वत भी चलायमान हो जाये, किन्तु साम्यभाव में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त अनेक उपसर्गों से भी विचलित नहीं होता है।[111]

यदि गृहस्थ भूमिका की अपेक्षा इसका मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि गृहस्थ-धर्म के बारह व्रत अपने-अपने स्वरूप में उत्कृष्ट हैं यद्यपि सामायिक व्रत

का महत्त्व सर्वाधिक है। इसका कारण यह है कि जब तक सम-भाव की उत्पत्ति न हो, राग-द्वेष की परिणति कम न हो तब तक उग्र तप एवं जप आदि की साधना कितनी ही क्यों न की जाए, उससे आत्म-विशुद्धि संभव नहीं होती। अतः अहिंसा आदि ग्यारह व्रत इसी समभाव के द्वारा जीवन्त रहते हैं। गृहस्थ-जीवन में अभ्यास की दृष्टि से दो घड़ी तक सामायिक व्रत किया जाता है तथा मुनि जीवन में यह यावज्जीवन के लिए धारण किया जाता है। तदनन्तर छठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक एकमात्र सामायिक व्रत की ही साधना की जाती है। मोक्ष अवस्था में जहाँ साधना समाप्त होती है वहाँ समभाव पूर्ण हो जाता है और समभाव की पूर्णता का नाम ही मोक्ष है।[112]

तीर्थंकर परमात्मा दीक्षा लेते समय सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते हैं[113] तथा केवलज्ञान के पश्चात भी वे जन सामान्य के समक्ष सर्वप्रथम इस महान् व्रत का उपदेश करते हैं।[114]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के आगे प्रयुक्त 'सम्यक्' शब्द समभाव का ही द्योतक है, क्योंकि समत्व के अभाव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी सम्यक् नहीं बनते हैं। इसी तरह सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात– इन पाँच प्रकार के चारित्र में भी सामायिक चारित्र इसलिए प्रधान है कि इन सभी में सामायिक चारित्र अन्तर्निहित है। सामायिक चारित्र के अभाव में शेष का परिपालन होता ही नहीं है।

सामायिक पारसमणि के समान है, जिसके संस्पर्श (आचरण) से अनादिकालीन मिथ्यात्व आदि की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाती है। ज्ञानियों की दृष्टि में सामायिक मूल्यवान रत्न के समान है। रत्न को जितना तराशा जाए, उसमें उतना ही अधिक निखार आता है, उसी प्रकार मानसिक-वाचिक एवं कायिक सावद्य व्यापारों को जितना-जितना दूर किया जाए, उतना-उतना आत्म प्रकाश बढ़ता है।

सामायिक की तुलना में यह भी कहा गया है कि व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्णमुद्रा का दान करें और कोई एक सामायिक करें, इसमें एक सामायिक करने वाले का महत्व अधिक आंका गया है। कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि कोई ऐसी लाख मुद्राओं का दान लाख वर्ष तक करता रहे, तो भी एक सामायिक की बराबरी नहीं हो सकती है।[115]

इसी क्रम में कहा गया है कि करोड़ों जन्म तक निरन्तर उग्र तपश्चरण करने वाला साधक जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उन कर्मों को समता भावपूर्वक सामायिक करने वाला साधक मात्र अल्प क्षणों में नष्ट कर डालता है।[116]

जैन धर्म में सामायिक को मोक्ष का निकटतम या साधकतम कारण स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जाएंगे, उन सभी जीवों के मुक्ति का आधार सामायिक था, है और रहेगा।[117]

यह भी निर्दिष्ट है कि चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे,चारित्र पाले, परन्तु समता भाव रूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न कभी भविष्य में होगा।

सामायिक को समता का क्षीरसमुद्र भी कहा है। जो इसमें स्नान करता है, वह श्रावक भी साधु के समान हो जाता है।

जैन आचार्यों ने इसे शुद्ध यौगिक क्रिया के रूप में मान्य किया है। यौगिक क्रिया मुख्य रूप से चार प्रकार की वर्णित हैं– 1. मंत्र योग 2. लय योग 3. राज योग और 4. हठ योग। ये चारों योग अभ्यास एवं सद्गुरु के उपदेश से सिद्ध होते हैं। इनमें से सामायिक व्रत को राज योग के समतुल्य माना है।

पाठकगण! सामायिक के महत्त्व को हृदयस्थ कर संकल्प करें कि उन्हें किसी भी स्थिति में सामायिक की आराधना अवश्य करनी है। देवता भी इस व्रत को स्वीकार करने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं और भावना करते हैं कि 'यदि एक मुहूर्त्त भर के लिए भी सामायिक व्रत प्राप्त हो जाए, तो यह देव जन्म सफल हो जाए।' लेकिन चारित्रमोह के उदय के कारण वे किसी प्रकार का व्रत स्वीकार नहीं कर सकते हैं। भौतिक दृष्टि से देवता की दुनियाँ कितनी ही मूल्यवान हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य गति ही श्रेष्ठतम है अतएव सामायिक करने का अधिकार मानव को ही है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामायिक का प्रासंगिक स्वरूप

सामायिक आत्म स्थित होने एवं कषाय उपशमन करने की विशिष्ट क्रिया है। यदि इसके मानसिक एवं वैयक्तिक प्रभाव के विषय में चिंतन करें तो यह समभाव में आने का साधन विशेष है। सामायिक के द्वारा मन की विशुद्धि, क्रोधादि कषायों की निर्मलता और आन्तरिक भावों का शोधन होता है। मन

शान्त हो तो वह भौतिक विकास एवं बौद्धिक विकास का कारण बनता है। स्वयं को सावद्य कार्यों से निवृत्त करने पर अन्य जीवों के प्रति 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की भावना विकसित होती है। अनावश्यक कार्यों से निवृत्ति मिलने पर शक्ति एवं समय दोनों की बचत होती है।

यदि प्रबंधन के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता देखी जाए तो सामायिक-समय प्रबंधन, भाव प्रबंधन, शक्ति प्रबंधन, समाज प्रबंधन आदि में सहयोगी है। एक स्थान पर बैठकर साधना करने से मन-वचन-काया की एकाग्रता सधती है, एकाग्रता प्रत्येक कार्य में सहायक होती है तथा समय एवं शक्ति आदि की बचत करती है। मानसिक तनाव को दूर करने का यह सर्वश्रेष्ठ उपाय है तथा तनाव रहित स्वस्थ मन से प्रत्येक कार्य स्फूर्ति एवं ताजगी के साथ किया जा सकता है। समस्त विश्व के प्रति सद्भाव का विकास होने से 'सवि जीव करूं शासन रसी, ऐसी भाव दशा मन उल्लसी' जैसे सद्भावों का प्रबंधन होता है। समभाव के द्वारा पक्षपात वृत्ति आदि को न्यून कर समाज के विकास प्रबंधन में यह सहायक हो सकती है। इसी प्रकार स्व प्रबंधन, अध्यात्म प्रबंधन आदि में भी सामायिक साधना फलवती बन सकती है।

आधुनिक युग की अपेक्षा देखें तो यह सर्वाधिक रूप से प्रासंगिक है। आज हर एक इन्सान अशान्ति, असुरक्षा, टेन्शन आदि से मुक्त होने का मार्ग खोज रहा है। उसके लिए तीर्थंकर पुरुषों द्वारा उपदिष्ट सामायिक धर्म सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, जिसके प्रयोगात्मक स्वरूप द्वारा संसार में व्याप्त अशांति, तनाव, हिंसक प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

यह वैश्विक शांति और आध्यात्मिक विकास की अतुलनीय साधना है। इसका तात्कालिक फल है– संवर (पाप निरोध), माध्यमिक फल है– दशांगी सुख एवं चरम फल है– मोक्ष।

सामायिक से होने वाले लाभ

सामायिक एक विशुद्ध साधना है।

- गृहस्थ जीवन में इस सामायिक व्रत का बार-बार अभ्यास करने से आत्मा सर्वविरति अर्थात चारित्रधर्म की योग्यता प्राप्त करती है।
- अहर्निश कम-से-कम एक सामायिक करने से स्वाध्यायवृत्ति, संतोषवृत्ति एवं समतावृत्ति का उत्तम अभ्यास होता है। इस सामायिक साधना के

माध्यम से चित्तवृत्तियों के उपशमन का, मध्यस्थभाव में स्थिर रहने का, समस्त जीवों के प्रति समानवृत्ति का और सर्वात्मभाव का भी अभ्यास होता है।

• सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की भाँति एकदम शान्त रहती है, इससे नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

• आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, साधक उनकी भी निर्जरा कर लेता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने लिखा है– सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

• वह विषय-कषाय और राग-द्वेष से विमुक्त हुआ सदैव समभाव में स्थित रहता है।

• सामायिक अभ्यासी के अन्तर्मानस में विरोधी को देखकर न क्रोध की ज्वाला भड़कती है और न ही हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता रहता है। वह न तो निन्दक से डरता है, न ही ईर्ष्याभाव से ग्रसित होता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और वियोग– दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल है।

• समता का अभ्यास होते-होते मानसिक एवं वैचारिक बीमारियाँ भी दूर होती है।

• इससे नैष्ठिक बल बढ़ता है।

• अनगारधर्मामृत में कहा गया है कि सामायिक के प्रभाव से एकादशांग का अध्येता और द्रव्य चारित्रधारी अभव्य भी नौवें ग्रैवेयक विमान में जन्म लेता है।[118]

• रत्नसंचयप्रकरण के अनुसार त्रियोग की शुद्धि पूर्वक एवं बत्तीस दोष रहित सामायिक करने से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।[119]

सामायिक उपकरणों का स्वरूप एवं प्रयोजन

सामायिक साधना में मुख्यतया आसन, चरवला एवं मुखवस्त्रिका का उपयोग होता है। इनका सामान्य वर्णन निम्नानुसार है–

आसन– शास्त्रीय परिभाषा में इसे काष्ठासन कहते हैं। इसका एक अन्य नाम पादप्रोंछन भी है। वर्तमान में यह आसन के नाम से रूढ़ है। आसन ऊन का होना चाहिए। सूती या टेरीकोट आदि का आसन निषिद्ध माना गया है।

ऊनी-वस्त्र में संचय का गुण होता है, अतएव ऊनी आसन पर बैठकर साधना करने से जो शक्तियाँ जागृत होती हैं वे साधक के अपने दायरे में ही सीमित रहती है। जिससे साधक संचित शक्तियों के माध्यम से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ऊनी वस्त्र बाह्य अशुद्धियों को ग्रहण नहीं करता तथा सूक्ष्म जीव आदि भी इससे संस्पर्शित होकर प्राणनाश को प्राप्त नहीं होते। भूमि में गुरुत्वाकर्षण का गुण होने के कारण बिना आसन साधना करने से अर्जित शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। इस प्रकार आसन का प्रयोजन आत्मिक एवं भावनात्मक शक्तियों का संग्रह करना है।

दूसरा प्रयोजन यह है कि साधना के लिए बिना आसन बैठने पर अन्य व्यक्ति यह समझ नहीं पाएगा कि वह सामायिक में बैठा हुआ है या ऐसे ही बैठा है। यह ज्ञात न होने पर अव्रती उससे अनावश्यक वार्तालाप कर सकता है अथवा बिना आसन के वह स्वयं भी सामायिक को विस्मृत कर सकता है, इधर-उधर आ-जा सकता है, इत्यादि कई दोषों की संभावनाएँ बनी रहती है। इसलिए आसन पर बैठकर सामायिक करनी चाहिए।

गृहस्थ-श्रावक का आसन लगभग डेढ़ हाथ लम्बा और सवा हाथ चौड़ा होना चाहिए।

मुखवस्त्रिका– इसका सीधा सा अर्थ है– मुख पर लगाने का वस्त्र। मुखवस्त्रिका का प्रयोग मुख्यत: जीवरक्षा एवं आशातना से बचने के लिए किया जाता है, जैसे–स्वाध्याय करते समय पुस्तक पर थूकादि के छींटे न लग जाएं, गुरु भगवन्त से धर्मचर्चा करते समय उन पर थूक आदि न उछल जाए, सूत्रादि का उच्चारण करते समय थूक आदि से स्थापनाचार्य की आशातना न हो जाए। संपातिम त्रस जीव जो सर्वत्र उड़ते रहते हैं, वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें प्रत्यक्ष में देखना असंभव है। खुले मुँह बोलने पर व्यक्ति की उष्ण श्वास उन जीवों के लिए प्राणघाती बन सकती है, अत: जीवरक्षा और आशातना से बचने के लिए मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं। दूसरा अनुभूतिजन्य कारण यह है कि इसे मुख के आगे रखने पर व्यक्ति सावद्य, कठोर या अप्रियवचन नहीं बोल सकता है। यह इस उपकरण का निसर्गज प्रभाव है।

सामान्यतया मुखवस्त्रिका, हित-मित-परिमित बोलने का संदेश देती है और गृहीत व्रत में स्थिर रहने का आह्वान करती है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार इसे मुख से चार अंगुल दूर रखना चाहिए। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में इसे मुख पर बांधते हैं। दिगम्बर परम्परा में मुखवस्त्रिका का उपयोग ही नहीं होता है।

मुखवस्त्रिका 16 अंगुल लम्बी और 16 अंगुल चौड़ी होनी चाहिए।

चरवला– चर + वला– इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न है। चर अर्थात चलना, फिरना, उठना आदि गतिशील क्रियाएँ, वला अर्थात पूंजना, प्रमार्जना। सामायिक सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया प्रमार्जना पूर्वक होनी चाहिए। प्रमार्जना करने से जीव रक्षा होती है। जीव रक्षा द्वारा अहिंसा का पालन होता है तथा अहिंसा का पालन करना ही यथार्थ धर्म है। अतएव चरवला का उपयोग जीव रक्षा के लिए होता है। सामायिकव्रती को खमासमण, वंदन, सज्झाय, आदि आदेश के निमित्त या अन्य आवश्यक कार्यों के लिए उठना-बैठना हो, तब वह चरवले द्वारा पाँव एवं आसन की प्रमार्जना अवश्य करें। हमें प्रत्यक्षतः जीव न भी दिखाई दें तो भी यतना पूर्वक प्रवृत्ति करना जिनाज्ञा है।

चरवला ऊन के गुच्छों से बनता है। इसका परिमाण बत्तीस अंगुल कहा गया है। इसमें 24 अंगुल की डण्डी और 8 अंगुल ऊन की फलियाँ होनी चाहिए।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की सभी परम्पराओं में आसनादि उपकरणों का प्रयोजन एवं परिमाण एक समान स्वीकारा गया है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में चरवले का प्रयोजन और उसकी उपयोगिता तो उसी रूप में स्वीकार्य है किन्तु माप आदि के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता है।

सामायिक के दोष

सामायिक व्रत स्वीकार कर लेने के बाद भी ज्ञात-अज्ञात में बत्तीस दोषों के लगने की संभावनाएँ रहती हैं। उनमें दस मन सम्बन्धी, दस वचन सम्बन्धी और बारह काया सम्बन्धी दोष लगते हैं। साधक को इन दोषों से रहित सामायिक करनी चाहिए, वही शुद्ध सामायिक कही गई है। सामायिक से सम्बन्धित दोष निम्न हैं–

मन सम्बन्धी दस दोष

1. अविवेक– सामायिक के प्रयोजन और स्वरूप के ज्ञान से वंचित रहकर सामायिक करना।

2. यशोवांछा– स्वयं को यश मिले, अपनी वाह-वाह हो ऐसे प्रयोजन से सामायिक करना।

3. लाभ– सामायिक करूंगा तो धन लाभ होगा, अन्य भौतिक लाभ भी होंगे– इस भाव से सामायिक करना।

4. गर्व– 'मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ' 'मेरी बराबरी कौन कर सकता है?' इत्यादि गर्व पूर्वक सामायिक करना।

5. भय– मैं अपनी जाति में ऊँचे घराने का व्यक्ति हूँ, यदि सामायिक न करूँ, तो लोग क्या कहेंगे? इस प्रकार लोक-निन्दा के भय से सामायिक करना।

6. निदान– प्रतिफल की कामना से सामायिक करना। जैसे– धन, स्त्री, व्यापार आदि में खास लाभ प्राप्त करने के संकल्प पूर्वक सामायिक करना।

7. संशय–'मैं जो सामायिक करता हूँ उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? सामायिक करते-करते इतने दिन हो गए, फिर भी कुछ फल नहीं मिला' इस प्रकार सामायिक फल के सम्बन्ध में संशय रखते हुए सामायिक करना।

8. रोष– क्रोधपूर्वक सामायिक करना।

9. अविनय दोष– सामायिक के प्रति अविनय या अनादर भाव रखते हुए सामायिक करना।

10. अबहुमान– आन्तरिक-उत्साह के बिना या किसी दबाव के कारण सामायिक करना।

उक्त दस दोष मन के द्वारा लगते हैं।[120]

वचन सम्बन्धी दस दोष

1. कुवचन– सामायिक में असभ्य, अपमानजनक, कुत्सित, वीभत्स शब्द बोलना।

2. सहसाकार– बिना सोचे-विचारे मन में जैसा आए, वैसे वचन बोलना।

3. स्वच्छंद– शास्त्र-सिद्धान्त के विरुद्ध कामवृद्धि करने वाले वचन बोलना।

4. संक्षेप– सूत्रपाठ आदि का उच्चारण पूर्णतया न कर उसे आधा-अधूरा बोलना।

5. कलह– सामायिक में कलह पैदा करने वाले शब्द बोलना।

6. विकथा– वह वार्त्ता जो चित्त को अशुभ भाव या अशुभ ध्यान की ओर प्रवृत्त करती हो, विकथा कहलाती है। विकथा चार प्रकार की होती है–

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा। सामायिक में विकथा करना।

7. **हास्य–** सामायिक में किसी की मजाक-मसखरी करना, कटाक्ष वचन बोलना, कौतूहल करना, जान-बूझकर ऊँची-नीची आवाज में बोलना आदि।

8. **अशुद्ध–** सामायिक के सूत्रपाठों या अन्य स्वाध्याय आदि के सूत्रों को जल्दी-जल्दी बोलना, उच्चारण पर ध्यान न देना आदि।

9. **निरपेक्ष–** सूत्र-सिद्धान्त की उपेक्षा करना अथवा बिना समझे उल्टी-पुल्टी बातें प्रस्तुत करना।

10. **मुणमुण–** सामायिक के पाठादि का स्पष्ट उच्चारण नहीं करना, सूत्रपाठों को गुनगुनाते हुए बोलना अर्थात नाक से आधे अक्षरों का उच्चारण कर जैसे-तैसे पाठोच्चारण करना।

ये दस दोष वचन द्वारा लगते हैं।[121]

काया सम्बन्धी बारह दोष

1. **कुआसन–** सामायिक में पैर पर पैर चढ़ाकर अभिमान पूर्वक बैठना।

2. **चलासन–** अस्थिर और झूलते आसन पर बैठना अथवा बैठने की जगह पुनः-पुनः बदलना।

3. **चलदृष्टि–** सामायिक में इधर-उधर देखना, दृष्टि को स्थिर नहीं रखना।

4. **सावद्यक्रिया–** सामायिक में बैठने के बाद हिंसाजनक कार्यों को स्वयं करना या दूसरों से करवाना।

5. **आलंबन–** दीवार या पलंग आदि का अवलंबन (सहारा) लेकर बैठना।

6. **आकुंचनप्रसारण–** निष्प्रयोजन हाथ-पैर लम्बे करना।

7. **आलस्य–** सामायिक में बैठे हुए आलस्य करना, अगड़ाई लेना।

8. **मोडन–** सामायिक में बैठे-बैठे हाथ और पैरों की अंगुलियाँ चटकाना, दबाकर आवाज करना।

9. **मल–** शरीर का मैल निकालना।

10. **विमासन–** गाल पर हाथ रखकर शोकग्रस्त की तरह बैठना अथवा बिना पूँजे शरीर खुजलाना।

11. **निद्रा–** सामायिक में नींद के झटके लेना या सो जाना।

12. **वैयावच्च–** सामायिक में दूसरों से सिर या पैर दबवाना, मालिश करवाना।[122]

सामायिक के उक्त बत्तीस दोष कुछ नामान्तर के साथ रत्नसंचयप्रकरण में भी उल्लिखित हैं।[123]

सामायिकव्रती को निम्न चार दोषों का भी अवश्य वर्जन करना चाहिए– 1. अविधिदोष 2. अतिप्रवृत्ति–न्यूनप्रवृत्तिदोष 3. दग्धदोष 4. शून्यदोष।

1. **अविधिदोष–** शास्त्रोक्त विधिपूर्वक सामायिक नहीं करना।

2. **अतिप्रवृत्ति-न्यून प्रवृत्ति दोष–** सामायिक में रहते हुए जो कुछ करना चाहिए, उसमें अधिक या न्यून प्रवृत्ति करना।

3. **दग्धदोष–** सामायिकव्रत में रहते हुए इहलोक-परलोक, सांसारिक तथा भौतिक सुख की चर्चा करना।

4. **शून्यदोष–** सामायिक में सजग नहीं रहना, उपयोग अस्थिर रखना।[124]

सामायिकव्रती को इन दोषों की सम्यक जानकारी अवश्य होनी चाहिए, तभी वह इन दोषों से बच सकता है।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोषों का विवेचन किया जाए तो आगम ग्रन्थों, टीका साहित्यों एवं पूर्वकालीन ग्रन्थों में लगभग कहीं भी बत्तीस दोषों का वर्णन नहीं है मात्र शुद्ध सामायिक करने का निर्देश मिलता है। पूर्वोक्त दोषों का वर्णन अर्वाचीन संकलित ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन दोषों से सम्बन्धित प्राकृत गाथाएँ भी प्राप्त हुई हैं, किन्तु वे गाथाएँ किस ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं इसका कोई सूचन नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सामायिक सम्बन्धी बत्तीस दोषों का वर्णन आगमिक नहीं है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो श्वेताम्बर की सभी परम्पराएँ उक्त दोषों को स्वीकार करती हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में इन दोषों की विस्तृत चर्चा का अभाव है।

सामायिकव्रती की आवश्यक योग्यताएँ

सामायिक एक अन्तर्मुखी साधना है अतएव इसके लिए लिंग, वय, वर्ण, जाति या राष्ट्र की मर्यादाएँ बाधक नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस साधना का अधिकारी माना गया है यद्यपि इसे फलदायी बनाने के लिए सामायिक व्रतधारी में कुछ योग्यताएँ होना आवश्यक है। जिस प्रकार रोगोपशमन के लिए केवल औषधि का सेवन करना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसके अनुकूल पथ्य का पालन भी करना होता है। उसी तरह सामायिक पापनाश की अमोघ औषधि है, परन्तु इसके सेवन के साथ-साथ तदनुकूल न्याय-नीति पूर्वक धनार्जन करना,

चित्तवृत्ति को शान्त रखना, सभी जीवों को आत्मवत समझना, गुणीजनों को देखकर हर्षित होना, दीन-दु:खियों के प्रति करूणा भाव उत्पन्न करना वगैरह सम्यक् पथ्य का आचरण करना भी अत्यावश्यक है। दूसरे, इस साधना में प्रवेश करने से पहले मन, वचन एवं शरीर को सुसंस्कृत बना लेना भी आवश्यक है, इसी उद्देश्य से बारह व्रतों में सामायिक का स्थान नौवाँ है। इसके पूर्ववर्ती आठ व्रत साधक के सांसारिक वासनाजन्य क्षेत्र को मर्यादित करने एवं सामायिक की योग्यता प्रकट करने के लिए हैं। जो व्यक्ति अहिंसा आदि आठ व्रतों को सम्यक् रूप से स्वीकार करते हुए सामायिक साधना के महल में प्रवेश करता है, वह इसका साक्षात फल प्राप्त करता है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, पापभीरू, निष्कपट, क्षान्त, दान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ और साधु संगति में रत–इन गुणों से सम्पन्न गृहस्थ सामायिक करने के योग्य होता है।[125]

अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट है कि जिस व्यक्ति की आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है तथा जो त्रस और स्थावर, सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है उसे ही सामायिक व्रत होता है।[126]

प्रचलित परम्परा में निम्न योग्यताएँ भी सामायिकधारी के लिए आवश्यक मानी गई हैं जैसे–

• सामायिक इच्छुक देशविरति या सर्वविरति का पालन करने वाला होना चाहिए।

• निरन्तर सामायिक का अभ्यासी एवं सामायिक के प्रति पुरुषार्थ करने वाला होना चाहिए।

• देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाला होना चाहिए।

• पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का धारक होना चाहिए।

इससे ध्वनित है कि सामायिक की फलप्राप्ति के इच्छुक सामायिकव्रती को यदि सामान्य व्रत का भी अभ्यास न हो, तो वह सामायिक जैसी उत्कृष्ट साधना कैसे कर सकता है? इस दृष्टि से भी सामायिक व्रती को उक्त गुणों से युक्त होना चाहिए।

सामायिक का प्रारंभ कर्त्ता कौन?

सामायिक का प्रथम उपदेशक कौन है? इस सम्बन्ध में विचार करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा है कि व्यवहार दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन

तीर्थंकर और गणधर पुरुषों ने किया है। निश्चयदृष्टि से सामायिक का अनुष्ठान करने वाला ही सामायिक का कर्त्ता है क्योंकि सामायिक का परिणाम उस अनुष्ठाता से भिन्न नहीं रहता है।[127] इससे स्पष्ट है कि सामायिक का वास्तविक कर्त्ता सामायिक करने वाला ही है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं।[128]

सामायिक में चिन्तन योग्य भावनाएँ

जो साधक सामायिक करने के लिए तत्पर है, वह 48 मिनट के काल में समभाव की वृद्धि हेतु 10 मिनट आत्मा का विचार करे। जैसे- मैं कहाँ से आया हूँ, मैं कहाँ जाऊँगा, मैं क्या लेकर आया हूँ, क्या लेकर जाऊँगा, मेरे देव कौन हैं, मेरे गुरु कौन हैं, मेरा धर्म कौनसा है, मेरा कुल क्या है, मेरे कर्त्तव्य कौनसे हैं? 10 मिनट महामंत्र नवकार का जाप करें, 10 मिनट तीर्थयात्रा की भावना करें, 10 मिनट स्वाध्याय करें और अन्तिम 8 मिनट कायोत्सर्ग अथवा स्वाध्याय करें। इस प्रकार सामायिक के श्रेष्ठकाल को पूर्णत: सफल बनाएँ।

मन चंचल है यदि इसे सही मार्ग में न जोड़ा जाए तो समभाव के स्थान पर राग-द्वेष के झंझावात आ सकते हैं, अत: भावनाओं को उक्त रीति से सतत जोड़े रखना चाहिए। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार सामायिक व्रत में उपस्थित श्रावक इस प्रकार का शुभ ध्यान करें- मैं अनित्य, दु:खमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ, मोक्ष इससे भिन्न है।[129] यह मेरी आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य गुण से सम्पन्न है। कषाय आदि इसकी वैभाविक परिणति है। यह जन्म-मृत्यु, रोग-जरा, सर्दी-गर्मी, रूप-स्पर्श आदि से रहित है- इस तरह स्वभाव दशा का मनन करें। अनित्य आदि बारह एवं मैत्री आदि चार भावनाओं का चिन्तन करें। अरिहन्त आदि पंच परमेष्ठी स्वरूप का ध्यान करें।[130]

सामायिक की उपस्थिति किन जीवों में?

कौनसे जीव किस सामायिक के आराधक हो सकते हैं? आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक के अधिकारी चारों गतियों के जीव हो सकते हैं। सर्वविरतिसामायिक के अनुष्ठाता केवल मनुष्य तथा देशविरतिसामायिक के अधिकारी मनुष्य और तिर्यंच- दोनों होते हैं। ये सामायिक के स्तर जीवों की तरतम योग्यता के आधार पर बतलाए गए हैं।[131]

सामायिक का उद्देश्य

आवश्यकनिर्युक्तिकार के अनुसार सामायिक एकमात्र पूर्ण और पवित्र अनुष्ठान है। यह गृहस्थ के अन्यान्य धर्मों में प्रधान है, परम है, आत्महितकारी और मोक्षप्रदाता है अतः इसकी आराधना सावद्ययोग से बचने के लिए की जाती है।[132]

सामायिक की साधना का मुख्य ध्येय समभाव है। समभाव को समत्व, समता, उदासीनता या मध्यस्थता कहते हैं। समभाव को प्राप्त करने वाला साधक भाव समाधि में प्रवेश करता है और अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति अर्थात मुक्तिपथ का वरण भी कर लेता है। इस प्रकार समभाव का परिणाम निराबाध सुख, परम आनंद और आत्मिक शान्ति है।

साध्य-साधक और साधना का परस्पर सम्बन्ध

प्रत्येक अनुष्ठान की सिद्धि साध्य, साधक और साधना– इन तीनों की योग्यता एवं शुद्धि पर अवलंबित है। यदि साध्य योग्य न हो तो उसके लिए की गई साधना निष्फल है। यदि साधक योग्य न हो, तो वह समुचित साधना कर नहीं सकता। यदि साधना सम्यक् न हो, तो सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अतएव कार्यसिद्धि के लिए साध्य, साधक और साधना की योग्यता (विशुद्धि) होना जरूरी है।

मोक्ष प्राप्त करना साध्य है, व्रत का पालन करने वाला साधक है और सामायिक साधना है। सामायिकधारी को साध्य, साधक एवं साधना का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

सामायिक में चित्त शांति के उपाय

साधना की सिद्धि में मन की चंचलता प्रमुख बाधक तत्त्व है। सामायिक साधना में मन की स्थिरता बनी रहे, तद्हेतु कुछ उपाय कहे गए हैं यथा– 1. वातावरण निर्मल हो, क्योंकि वातावरण का प्रभाव अधिक असरकारक होता है 2. आसन स्थिर हो– शरीर को अधिक हिलाए-डुलाए बिना एक आसन में बैठने का प्रयास हो 3. अनानुपूर्वी का पठन हो– यह मन स्थिर करने का सरलतम उपाय है 4. नमस्कारमंत्र का जाप हो 5. स्वाध्याय हो– धार्मिक-ग्रन्थों का पठन या श्रवण हो 6. कायोत्सर्ग की साधना हो और 7. ध्यान हो।

ये उपाय चित्त को स्थिर बनाए रखते हैं। असल में, सामायिक करने वाले

व्यक्ति को सामायिक में स्वाध्याय-जाप आदि ही करने चाहिए। ये सामायिक के कृत्य भी हैं।[133]

समता का तात्त्पर्यार्थ

समता का आध्यात्मिक अर्थ है– मन की शांति। जो व्यक्ति समताभाव में है, वह हर स्थिति में तटस्थ रहता है। समता मन को निश्चल-स्थिर रखती है। उसकी अन्तर्रुचि लोकरंजन में न होकर आत्मरंजन की ओर होती है। जो समत्व को प्राप्त कर लेता है, वह व्यक्ति शांत प्रकृति का होता है। समतावान किसी के हृदय को पीड़ा नहीं पहुँचाता है। समतावंत व्यक्ति की मनोवृत्ति सदैव संसार के प्रति उदासीन रहती है। वह हमेशा आसक्त-भावों का स्वामी होता है। उसका प्रत्येक कार्य न्याय-नीतिपूर्ण और प्रामाणिक होता हैं। वह स्वभावदशा में मग्न रहता है। प्रशंसा सुनकर न तो वह हर्षित होता है और न ही निंदा सुनकर दु:खी, इसीलिए ज्ञानी महर्षियों ने समता को मुक्ति का साधन, आत्मकल्याण का मूलाधार कहा है, अत: आत्मार्थियों को समभाव की वृद्धि करने का प्रयास करना चाहिए। सामायिक द्वारा समभाव की साधना सरल बनती है।

समता का एक अर्थ आत्मस्थिरता है। आत्मस्थिरता से तात्पर्य आत्म भाव में लीन रहना, सम्यक् चारित्र रूप वर्तन करना है। आत्म-स्थिरता रूप चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा है– सिद्ध अवस्था में स्थूलक्रिया रूप चारित्र तो नहीं होता है; परन्तु आत्मस्थिरता रूप निश्चय चारित्र अवश्य रहता है। इसके अभाव में वहाँ शून्य के बिना कुछ नहीं रहेगा।[134] सार रूप में समता गुण इतना महान है कि वह कर्ममुक्त आत्मा के लिए भी अपरिहार्य है।

सामायिक शुद्धि के प्रकार

जैनाचार्यों ने द्रव्य सामायिक सम्बन्धी छ: प्रकार की शुद्धियाँ बताई हैं। सामायिक अंगीकार करते समय इन शुद्धियों का होना अनिवार्य माना गया है। ये शुद्धियाँ सामायिक व्रत को सफल बनाने में निमित्तभूत बनती हैं, अत: प्रत्येक साधक को निम्न छ: प्रकार की शुद्धि पूर्वक सामायिक करनी चाहिए–

1. द्रव्य शुद्धि– वस्त्र एवं उपकरण का शुद्ध होना द्रव्यशुद्धि है। उपासकदशासूत्र एवं उसकी टीकाओं में वस्त्रशुद्धि के विषय में यह निर्देश प्राप्त होता है कि सामायिक में सामान्य वेश-भूषा और आभूषण आदि का त्याग

करना चाहिए। उस युग में मात्र अधोवस्त्र (धोती) ही सामायिक की वेशभूषा थी, जबकि वर्तमान में उत्तरीय (ऊपर ओढ़ने का वस्त्र) भी ग्रहण किया जाता है। कुछ लोग अपनी सुविधानुसार पगड़ी, कोट, कुरता, पाजामा आदि पहने हुए भी सामायिक कर लेते हैं,जो शास्त्रविरुद्ध है। वस्त्रशुद्धि के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वस्त्र गंदे न हों, चटकीले-भड़कीले न हों, मल-मूत्र के लिए उपयोग किए हुए न हों, सादे हों और लोकविरुद्ध न हों।

आसन, चरवला, मुखवस्त्रिका, माला आदि द्रव्य उपकरण कहे जाते हैं। इन उपकरणों शुद्धि के विषय में यह ध्यान रखना जरूरी है कि जो अधिक हिंसा से निर्मित न हों, सौन्दर्य की बुद्धि से न रखे गए हों, संयम की अभिवृद्धि में सहायक हो, जिनके द्वारा जीवरक्षा भलीभाँति की जा सकती हो, वह द्रव्य-उपकरण शुद्धि है।

वर्तमान में द्रव्यशुद्धि विचारणीय है। कई साधक सामायिक में कोमल रोएं वाले गुदगुदे आसन रखते हैं अथवा सुन्दरता के लिए रंग-बिरंगे फूलदार आसन बना लेते हैं, किन्तु इस तरह के आसनों की सम्यक् प्रतिलेखना नहीं की जा सकती, अत: आसन सादा होना चाहिए। कुछ बहनें मुखवस्त्रिका का गहना बनाकर ही रख देती हैं, गोटा लगाती हैं, सलमे से सजाती हैं, धागा डालती हैं। ऐसा करने से सामायिक का शान्त वातावरण कलुषित होता है, अत: मुखवस्त्रिका सादी-सफेद-स्वच्छ होनी चाहिए। माला सूत की होनी चाहिए। प्लास्टिक या लकड़ी की माला अशुद्ध मानी गई है। उन मालाओं पर किया गया जाप प्रभावकारी नहीं होता है।

2. क्षेत्र शुद्धि– क्षेत्र शुद्धि से तात्पर्य सामायिक-योग्य उत्तम स्थान है। जिन स्थानों पर बैठने से चित्त चंचल न बनता हो, विषय-विकार उत्पन्न न होते हों, क्लेश होने की संभावना न हों, मन स्थिर रहता हो, वह क्षेत्र शुद्ध है। पौषधशाला, उपाश्रय, एकान्तस्थल आदि शुद्ध क्षेत्र माने गए हैं। सामान्यतया घर की अपेक्षा उपाश्रय में सामायिक करना अधिक उचित है। उपाश्रय आत्मसाधना का श्रेष्ठ माध्यम है। उपाश्रय शब्द के तीन अर्थ हैं– प्रथम अर्थ के अनुसार उप–उत्कृष्ट, आश्रय-स्थान अर्थात जो उत्कृष्ट स्थान है वह उपाश्रय है। घर केवल आश्रयभूत होता है जबकि उपाश्रय धर्म साधना के द्वारा इहलोक और परलोक रूप जन्म जन्मान्तर को सफल करने वाला उपयुक्त स्थान होने से उत्कृष्ट आश्रय है।

द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार उप-उचित, आश्रय-स्थान अर्थात जो उचित स्थान है वह उपाश्रय है। निश्चयदृष्टि से प्रत्येक आत्मा के लिए उसकी आत्मा ही उचित आश्रय स्थल है।

तृतीय परिभाषा के अनुसार उप-समीप, आश्रय-स्थल अर्थात जहाँ आत्मा अपने विशुद्ध भावों के पास पहुँच सके, उसका आश्रय ले सके, वह उपाश्रय है। इनके सिवाय भी जहाँ मन स्थिर बनता हो, विधायक सोच उत्पन्न होती हो, वह सभी क्षेत्र सामायिक के लिए शुद्ध क्षेत्र हैं।

3. काल शुद्धि– जैन मुनि की सामायिक सर्वकालिक होती है अत: उसकी सामायिक के विषय में कालशुद्धि का प्रश्न नहीं हो सकता है, लेकिन गृहस्थ-साधक के लिए इसकी काल-मर्यादा निश्चित की गई है। काल का अर्थ समय है। योग्य समय पर सामायिक करना कालशुद्धि है जैसे- प्रात:काल, सायंकाल, गृह का आवश्यक कार्य निपट गया हो, हर्षकाल, पर्वकाल आदि। इन कालों में की गई सामायिक काल की अपेक्षा शुद्ध मानी गई है। अपने निमित्त से पारिवारिक कार्य रुकता हो, क्लेश बढ़ता हो, चित्त अशान्त बनता हो, धर्म की निन्दा होती हो, उस समय सामायिक लेकर बैठ जाना अशुद्धकाल है।

बहुत से साधक जब मन चाहे तब सामायिक करने बैठ जाते हैं। ऐसी सामायिक पूर्ण फलदायी नहीं होती है अत: दशवैकालिकसूत्र के अनुसार 'काले कालं समायरे'- जिस कार्य का जो समय हो, उस समय वही कार्य करना चाहिए, यही काल शुद्धि है। सामान्यतया, सामायिक साधना का काल दिवस एवं रात्रि की दोनों सन्धि वेलाएँ मानी गई है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इस मत का समर्थन किया है। दिगम्बर परम्परा में त्रैकालिक सामायिक का भी विधान है। वस्तुत: दोनों सन्धिकालों में सामायिक करना जघन्य नियम है। अधिकतम कितनी की जाए, यह साधक की क्षमता पर निर्भर है। यद्यपि आगम साहित्य में समय की अवधि का विधान नहीं है, तथापि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर के परवर्तीकालीन ग्रन्थों में सामायिक व्रत की समयावधि एक मुहूर्त्त (48 मिनट) स्वीकारी गई है।

4. मन:शुद्धि– मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना मन:शुद्धि है। यह सभी जानते हैं कि मन का कार्य विचार करना है। फलत: आकर्षण, विकर्षण, कार्य

अकार्य आदि सब कुछ विचारशक्ति पर ही निर्भर हैं और तो क्या, हमारा सारा जीवन ही विचाराधीन है। विचारों पर ही हमारा जन्म, मृत्यु, उत्थान, पतन आदि सब कुछ निर्भर है। विचारों का वेग तीव्रतम है। आधुनिक विज्ञान कहता है कि प्रकाश की गति एक सैकेण्ड में 1,80,000 मील है, विद्युत की गति 2,88,000 मील है, जबकि विचारों की गति 22,65,120 मील है।

प्रश्न हो सकता है कि तीव्रगामी मन को नियंत्रित कैसे करें? मन पवन से भी सूक्ष्म है। मन की गति बड़ी विचित्र है। जैन ग्रन्थों में कहा गया है– 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' अर्थात मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। इसका समाधान यही है कि व्यक्ति संकल्पशक्ति के बल पर मन को नियंत्रित कर सकता है।

5. वचन शुद्धि– सामायिक साधना की सफलता के लिए वचन शुद्धि भी अनिवार्य मानी गई है। जहाँ तक हो, मौन रखना, यदि न बन सके तो उचित, सीमित, परिमित बोलना ही वचनशुद्धि है। घर गृहस्थी की बातें करना, अनावश्यक धर्मचर्चा (तर्क-वितर्क) करना, किसी की निन्दा-चुगली करना, वचन की अशुद्धि है।

6. काय शुद्धि– यहाँ कायशुद्धि का अभिप्राय देह शुद्धि से है, न कि शरीर को सजा-धजाकर रखने से। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य आचार का भार शरीर पर। मनुष्य द्वारा उठने-बैठने में, खड़े होने में, अंगों को हिलाने-डुलाने में विवेक रखना काय शुद्धि है।

सामायिक करते समय भूमि की शुद्धता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। जिस प्रकार शुद्धभूमि में वपन किया गया बीज फलदायक होता है, उसी प्रकार सामायिक की साधना भी फलवती बनती है।

डॉ. सागरमलजी जैन ने सामायिक साधना के लिए चार शुद्धियों का उल्लेख किया है– 1. कालशुद्धि 2. क्षेत्रशुद्धि 3. द्रव्यशुद्धि और 4. भावशुद्धि। इनमें प्रारम्भ की तीन शुद्धियाँ पूर्वोक्त ही है। अन्तिम भाव शुद्धि मन शुद्धि के तुल्य है। वस्तुतः द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि साधना के बहिरंग तत्त्व हैं और भाव विशुद्धि साधना का अंतरंग तत्त्व है। यहाँ भाव शुद्धि से तात्पर्य मन शुद्धि है। मन की विशुद्धि ही सामायिक साधना का सार है।

आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के निर्देशानुसार चित्त विशुद्धि के लिए दो

बातें आवश्यक है- 1. अशुभ विचारों का परित्याग करना और 2. शुभ विचारों को आश्रय देना। जैन विचारणा में आर्त्त और रौद्र- ये दो अशुभ विचार (अप्रशस्त ध्यान) माने गये हैं। प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग न हो जाए, अप्रिय वस्तु आदि का संयोग न हो जाए, सम्भावित और अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता करना आर्त्त विचार है तथा दूसरों को दुःख देने का संकल्प करना रौद्र विचार है। सामायिक व्रती को इन अप्रशस्त विचारों को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। इनके स्थान पर मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्थ भावना का चिन्तन करना चाहिए।[135]

दिगम्बर साहित्य में सामायिक की सफलता हेतु निम्न सप्तविध शुद्धियाँ अनिवार्य कही गई हैं- 1. क्षेत्र शुद्धि 2. काल शुद्धि 3. आसन शुद्धि 4. विनय शुद्धि 5. मन:शुद्धि 6. वचन शुद्धि और 7. काय शुद्धि।[136] इनका स्वरूप पूर्ववत ही जानना चाहिए।

उक्त शुद्धियों के सन्दर्भ में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि जैन आगमों में इस प्रकार का अलग से कोई विवरण नहीं है। यह व्यवस्था परवर्ती आचार्यों की है। यद्यपि द्रव्य सामायिक की अपेक्षा से शुद्धियाँ सभी परम्पराओं में अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकारी गई हैं।

सामायिक आसन का रहस्य

योग के आठ अंगों में आसन का तीसरा स्थान है। यहाँ आसन से अभिप्राय बैठने के तरीके से है। कुछ लोग स्वाभाविक रूप से बहुत ही अव्यवस्थित बैठते हैं, थोड़ी देर भी स्थिर होकर नहीं बैठ सकते। अस्थिर आसन मन की दुर्बलता और चंचलता का द्योतक है। मननीय तो यह है कि जो व्यक्ति दो घड़ी (48 मिनट) के लिए भी अपने शरीर को नियंत्रण में नहीं रख सकता, वह अयोगी दशा को कैसे उपलब्ध कर सकता है? जबकि प्रत्येक साधना का चरम लक्ष्य निर्विकल्प सिद्ध अवस्था को संप्राप्त करना है। स्थिर आसन-लक्ष्य प्राप्ति का परम उपाय है। योग्य आसन से रक्तशुद्धि होती है। परिणामतः देह स्वस्थ और निरोगी रहता है। देह के निरोग रहने से विचार-शक्ति को वेग मिलता है। दृढ़ आसन का मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, एतदर्थ सामायिक में सिद्धासन अथवा पद्मासन आदि किसी भी अनुकूल-सुखद आसन पूर्वक बैठना चाहिए। आसन के विभिन्न प्रकार हैं उनमें सामायिक के लिए पर्यंकासन उत्तम

माना गया है। इसे सुखासन भी कहते हैं। लोकभाषा में इसे पालथी मारकर बैठना भी कहा जाता है। इस प्रकार सामायिक में साधक को आसन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

दिगम्बर परम्परा में सामायिक योग्य आसन, क्षेत्र, दिशा आदि का उल्लेख करते हुए यही कहा गया है कि इस समय पर्यंकासन या कायोत्सर्ग आसन हो, कटिभाग सीधा एवं निश्चल रहे, दृष्टि नासाग्र पर स्थित हो, नेत्र न अधिक खुले हों न मूंदे हुए हो, अप्रमत्त-प्रसन्न चित्त हो। भूमि निर्जीव एवं छिद्ररहित हो तथा स्वयं काष्ठशिला पर अवस्थित हो।

समत्व की आराधना के लिए पर्वत, गुफा, वृक्ष कोटर, नदी पुल, श्मशान, जीर्णोद्यान, शून्यागार, पर्वत शिखर, सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल आदि तीर्थस्थल, चैत्यालय आदि क्षेत्र उत्तम हैं।[137]

सामायिक की दिशा पूर्व या उत्तर ही क्यों?

सामायिक करते समय दिशा का ध्यान रखना भी आवश्यक है। यह साधना पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके करनी चाहिए। इन दिशाओं का विशिष्ट महत्त्व है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी कहा है– पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर सामायिक ग्रहण करना चाहिए अथवा जिस दिशा में तीर्थंकर विचरण कर रहे हों या जिनालय हो, तो उस दिशा की ओर मुख करके सामायिक ग्रहण करना चाहिए।[138]

जैनाचार्यों ने इससे अधिक कुछ नहीं कहा है, किन्तु वैदिक विद्वान् सातवलेकरजी ने इन दिशा के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। पूर्व का एक नाम 'प्राची' है। यह 'प्र' उपसर्ग एवं गत्यार्थक 'अञ्च्' धातु से निष्पन्न है। 'प्र' उपसर्ग प्रकर्ष, आधिक्य, आगे, सम्मुख– इन अर्थों का वाचक है तथा 'अञ्च्' धातु बढ़ना, प्रगति करना, चलना, पूजा-सत्कार आदि अर्थों का बोधक है। इस प्रकार पूर्व दिशा का अभिप्रेत है– आगे बढ़ना, उन्नति करना, प्रगति करना, अभ्युदय को प्राप्त करना आदि।[139] इन अर्थों के आधार पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके सामायिक करने का प्रयोजन यह है कि सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, इससे पूर्व दिशा उदय मार्ग की सूचना देती है, स्वयं की तेजस्विता को निखारने की प्रेरणा करती है तथा मानव मात्र को स्व सामर्थ्य के अनुसार अभ्युदय करने का संकेत करती है।

उत्तर दिशा– उत्–उच्चता से, तर-अधिक अर्थात उत्तर दिशा उच्च भाव की द्योतक है। मानव का हृदय बायीं तरफ होने से वह उत्तर दिशा की ओर है। मनुष्य के देह में हृदय का स्थान सर्वोच्च माना गया है। वह आत्मा का केन्द्र स्थान है। यह कहावत है– 'जो जैसे हृदय का होता है वह वैसा बनता है।' यदि हृदय में उच्च भावनाएँ हों, तो वह उच्च बनता है। लौकिक दृष्टि से भी व्यक्ति के पास श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति-भावना का जो हिस्सा है, वह हृदय में है तथा हृदय उत्तर-दिशा की ओर रहा हुआ है। इस तरह उत्तर दिशा विराट् स्वरूप को धारण करने का संदेश देती है।

उत्तर दिशा के महत्त्व के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है– दिशासूचक यन्त्र। यह कुतुबनुमा में विद्यमान है। इस यन्त्र में लोहचुंबक की एक सूचिका होती है, जो हमेशा उत्तर दिशा की ओर ही घूमती रहती है। वह लोहसूचिका जड़ है, फिर भी उत्तर दिशा की ओर ही चलती रहती है, अत: मानना होगा कि उत्तर दिशा की ओर ऐसी कोई आकर्षण शक्ति है, जो लोहचुंबक को अपनी ओर खींचती जाती है। मानवीय खान-पान, हलन-चलन, रहन-सहन आदि पर उत्तर या दक्षिण दिशा का विशेष प्रभाव पड़ता है। उत्तर दिशा में स्वर्ग है ऐसी जन मान्यता है इसका रहस्य यह हो सकता है कि जैसे हृदय बायीं ओर होने से वह उत्तर दिशा की ओर है, उत्तम विचार हृदय में ही उठते हैं। जहाँ विचार उत्तम होते हैं वहाँ व्यक्ति सुखानुभूति करता है। स्वर्ग यह ऐन्द्रिक सुख का प्रतीक माना गया है अत: उत्तर दिशा में स्वर्ग की कल्पना की जाती है।

उत्तर दिशा का दूसरा नाम ध्रुवदिशा भी है क्योंकि प्रसिद्ध ध्रुव नामक नक्षत्र उत्तरदिशा में स्थित है तथा उत्तर दिशा के केन्द्रीय स्थल पर स्थिर दिखाई देता है। इस प्रकार जहाँ पूर्व दिशा प्रगति, अभ्युदय, गतिशीलता का संदेश देती है वहीं उत्तरदिशा स्थिरता, दृढ़ता, निश्चयात्मकता एवं अचल आदर्श का प्रतीक है। जीवन व्यवहार में गति के साथ स्थिरता, दौड़ भाग के साथ शान्ति और स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है। केवल गति या स्थिरता जीवन को पूर्ण नहीं बना सकते, परन्तु दोनों का सुमेल हो, तो व्यक्ति उच्चता के आदर्श शिखर पर स्थापित हो सकता है।[140]

जैन संस्कृति ही नहीं, वैदिक-संस्कृति में भी पूर्व और उत्तर दिशा को श्रेष्ठ कहा गया है। दक्षिण दिशा यम की और पश्चिम दिशा वरुण की बतलायी है।

ये दोनों देव क्रूर प्रकृति के माने गये हैं, जबकि पूर्व दिशा देवताओं की और उत्तर दिशा मनुष्यों की कही गई है।[141]

अत: सामायिक पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख होकर करनी चाहिए।

सामायिक का सामान्य काल दो घड़ी ही क्यों?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि सामायिक की काल मर्यादा दो घड़ी ही क्यों? संभवत: यह काल मर्यादा गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं और मनुष्य की चित्तशक्ति को लक्ष्य में रखकर निश्चित की गई है। सामायिक का काल इतना लंबा न हो कि दैनिक उत्तरदायित्व और कार्यों से निवृत्त होकर उतने समय के लिए भी अवकाश पाना गृहस्थों के लिए मुश्किल हो जाए। तदुपरान्त सामायिक में स्थिरकाय होकर एक आसन पर बैठना अत्यावश्यक है। भूख, तृषा, शौचादि व्यापारों को लक्ष्य में रखकर और देह भी अकड़ न जाए, उसे ध्यान में रखकर यह काल मर्यादा निश्चित की गई है। सामायिक में बैठने वालों को सामायिक के प्रति उत्साह होना चाहिए, शरीर के लिए वह दंड या भाररूप नहीं बनना चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार काल का अविभाज्य सूक्ष्मतम अंश समय है। असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। 67, 77, 216 आवलिका का एक मुहूर्त्त होता है। एक मुहूर्त्त में 48 मिनट होते हैं सामायिक की काल मर्यादा के पीछे दूसरा आगमिक नियम यह है कि साधारण व्यक्ति अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक एक विचार, एक भाव या एक ध्यान पर स्थिर रह सकता है। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद निश्चित रूप से विचारों में परिवर्तन आता है। अत: एक धारा रूप विचारों की दृष्टि से सामायिक का काल 48 मिनट रखा गया है।

इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा भी है कि 'अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं'– चित्त किसी भी एक विषय पर एक मुहूर्त्त तक ही ध्यान कर सकता है।[142]

आधुनिक मानस शास्त्री और शिक्षा शास्त्रियों ने भी इस बात का समर्थन किया है। इस काल मर्यादा के पीछे तीसरा हेतु यह है कि यदि गृहस्थों के लिए ऐसी कोई काल मर्यादा रखी न होती, तो इस क्रिया विधि का कोई गौरव नहीं रहता और अनवस्था प्रवर्तमान होती। निश्चित काल मर्यादा न होने पर कोई दो घड़ी सामायिक करता, तो कोई घड़ी भर ही, तो कोई पाँच-दस मिनिटों में ही किनारा कर लेता है, अत: कम से कम सामायिक करने की वृत्ति बढ़ती जाए,

एक-दूसरे का अनुकरण भी होने लगे और अंत में सामायिक के प्रति अभाव भी उत्पन्न न हो इस दृष्टिकोण से भी सामायिक का कालमान निश्चित होना आवश्यक प्रतीत होता है। तदुपरांत वैयक्तिक क्रिया विधियों में एकरूपता बनी रहे और सामान्य जनसमुदाय में वाद-विवाद, संशय आदि को स्थान न मिले, यह भी आवश्यक है अतः इन दृष्टियों से भी सामायिक की काल मर्यादा मनोवैज्ञानिक सिद्ध होती है।

जहाँ तक आगम साहित्य का सवाल है वहाँ आगम प्रधान एवं व्याख्या प्रधान ग्रन्थों में इस विषयक कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता है। सामायिक पाठ में भी काल मर्यादा के लिए 'जावनियमं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, 'मुहूर्त्त' आदि का नहीं। यद्यपि जैनाचार्यों ने पूर्वोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए 'दो घड़ी' की काल मर्यादा निश्चित की है इस बात का सर्वप्रथम उल्लेख योगशास्त्र में पढ़ने को मिलता है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आर्त्त और रौद्र ध्यान तथा सावद्य व्यापारों का त्याग कर एक मुहूर्त्त पर्यन्त समभाव में स्थित रहना सामायिक व्रत है।[143]

इस मत का समर्थन करते हुए जिनलाभसूरि ने आत्मप्रबोध में लिखा है कि– इस सावद्ययोग के प्रत्याख्यान रूप सामायिक का मुहूर्त्तकाल शास्त्र-सिद्धान्तों में नहीं हैं, लेकिन किसी भी प्रत्याख्यान का जघन्य काल नवकारसी के प्रत्याख्यान के समान एक मुहूर्त्त का होना चाहिए।[144] स्पष्टार्थ है कि जिस प्रकार दस प्रत्याख्यानों में नमस्कार सहित अर्थात नवकारसी के काल का पौरूषी आदि के समान उल्लेख नहीं है। नवकारसी का प्रत्याख्यान करते समय मुख्य रूप से इतना ही पाठ बोला जाता है कि 'जब तक प्रत्याख्यान पूर्ण करने के लिए नमस्कारमन्त्र न पढ़ूं, तब तक अन्न-जल का त्याग करता हूँ।' परन्तु पूर्व परम्परा से इसके लिए मुहूर्त्त भर का काल माना जाता रहा है। मुहूर्त्त से अल्पकाल के लिए नवकारसी का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता, अतएव सामायिक के लिए भी इसी तरह समझना चाहिए।

यहाँ प्रसंगवश यह कहना भी जरूरी है कि जो लोग दो या तीन सामायिक एक साथ ग्रहण करते हैं, उनकी वह सामायिक काल की अपेक्षा उचित नहीं है। पौषध व्रत और देशावगसिक व्रत की बात अलग है, क्योंकि इन व्रतों का काल पूर्व से ही अधिक बताया गया है, किन्तु सामायिक एक-एक करके ग्रहण करना

चाहिए। वर्तमान में दो या तीन सामायिक एक साथ लेने का विशेष प्रचलन है, वह कितना सार्थक और उचित है, विद्वानों के लिए गवेषणीय है?

सामायिक के सम्बन्ध में यह भी समझने योग्य है कि सामायिक ग्रहण का पाठ उच्चारित करने के बाद से एक मुहूर्त्त (48 मिनट) गिनना चाहिए और उतना समय पूर्ण होने पर सामायिक पूर्ण करने की विधि करनी चाहिए। मुहूर्त्त में से एक समय या एक क्षण भी कम हो तो अन्तर्मुहूर्त्त माना जाता है।

सामायिक कब करनी चाहिए?

सामायिक, साधना क्षेत्र की प्राथमिक भूमिका है अतः इसके अभाव में गृहस्थ एवं श्रमण दोनों साधकों की साधनाएँ पूर्ण नहीं हो सकती, परन्तु आत्मविकास की दृष्टि से दोनों की सामायिक में अन्तर है। गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक होती है और साधु की यावत्कालिक-जीवन पर्यन्त के लिए होती है। यद्यपि लक्ष्य की अपेक्षा दोनों की सामायिक समरूप है।

श्रमण की सामायिक के विषय में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि कब करना चाहिए? किन्तु गृहस्थ की यह साधना नियतकालिक होने से इस सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है।

सामान्यतया सामायिक काल के सम्बन्ध में दिनोंदिन अनियमितता बढ़ती जा रही है। जिसे जब समय मिले, तभी कर लेता है। कोई प्रातःकाल तो कोई मध्याह्न, तो कोई शरीर को विश्राम देने हेतु अकाल वेला में भी सामायिक लेकर नींद के लटके लेते रहते हैं। कुछ गृहस्थ अपनी सुविधा को ध्यान में रखते हुए यह तर्क भी देते हैं कि 'यह तो धर्म क्रिया है, जब जी चाहे, तभी कर लेनी चाहिए। समय के बंधन में पड़ने से क्या लाभ?'

इस प्रकार के कुतर्क अधर्म को ही पुष्ट करते हैं। अतः जन-सामान्य के लिए यह ज्ञातव्य है कि आप्तपुरुषों ने धर्म साधना को नियमित समय में करने पर विशेष बल दिया है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, भिक्षाचर्या आदि आवश्यक क्रियाओं के लिए भी समय का प्रावधान है, यदि असमय में की जाए तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। धार्मिक क्रियाएँ तो मानव मन को और अधिक नियंत्रित करती है अतः इनके लिए समय का पाबंद होना अति आवश्यक है।

यह उचित है कि जो साधक सामान्य स्थिति से बहुत ऊपर उठ चुका है

वह कालबद्ध नहीं होता, उसके लिए हर समय ही साधना का काल है। जैसे-साधु हर क्षण सामायिक स्वरूप में रहता है किन्तु यहाँ साधारण व्यक्ति का प्रश्न है और उसके लिए नियमितता आवश्यक है।

उपाध्याय अमरमुनि ने कहा है– समय की नियमितता का मन पर जादुई प्रभाव होता है। उच्छृंखल मन को यों ही अनियन्त्रित छोड़ देने से वह और भी अधिक चंचल हो उठता है। लौकिक जीवन में भी देखते हैं कि रोगी को समय पर औषधि दी जाती है, गुरुकुलों एवं शैक्षणिक स्थानों पर अध्ययन के लिए निश्चित समय होता है, साधारण व्यक्ति स्वयं के भोजन, शयन, व्यापार आदि का समय भी निश्चित रखते हैं। अधिक क्या कहें, दुर्व्यसन करने वाला मनुष्य भी नियत समय पर दुर्व्यसन करता है, जैसे अफीम खाने वाले व्यक्ति को ठीक नियत समय पर अफीम की याद आ जाती है और यदि उस समय न मिले, तो उसका चित्त चंचल हो उठता है। इसी प्रकार सदाचार के कर्त्तव्य भी निश्चित काल में किये जाने चाहिए। साधक को समय का अभ्यासी होना चाहिए।[145]

अब प्रश्न होता है कि सामायिक कब करनी चाहिए? यदि इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक पृष्ठों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाए तो श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी मौलिक ग्रन्थ में यह चर्चा स्पष्ट रूप से की गई हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। हाँ! यह साधना न्यूनतम एवं अधिकतम कितने समय तक की जा सकती है? इसका उल्लेख तो स्पष्ट है, परन्तु वह कब करनी चाहिए? इसका प्रामाणिक सन्दर्भ देखने में नहीं आया है।

जहाँ तक दिगम्बर साहित्य का प्रश्न है वहाँ उभय संधिकाल एवं त्रिकाल दोनों पक्ष उपलब्ध होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सामायिक के लिए दिवस एवं रात्रि की दोनों सन्धि वेलाएँ स्वीकार की है[146] जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न– इन तीनों कालों में छह-छह घड़ी सामायिक करने का निर्देश दिया गया है।[147] आचार्य कुन्थुसागरजी ने बोधामृतसार में भी प्रातः, मध्याह्न और सायं ऐसे तीन कालों में सामायिकव्रत करने का विधान किया है।[148] यों तो उपासकदशांगसूत्र के कुण्डकोलिक अध्याय में मध्याह्न में भी सामायिक करने का निर्देश है। यद्यपि यह विवाद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्वरूपतः दोनों सन्धिकालों में सामायिक करना निम्नतम सीमा है।

उपरोक्त प्रमाणों से सुस्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों ने मुख्य रूप से प्रातःकाल एवं सायंकाल को सामायिक के लिए उपयुक्त माना है। इसके पीछे यह हेतु दिया जाता है कि प्रभातकाल का प्राकृतिक वातावरण इतना सुरम्य और मनोहर होता है कि उस छटा को देखने वाला आनन्द विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। परिणामतः मानसिक एकाग्रता में अभिवृद्धि होती है, जो सामायिक जैसी साधना के लिए अत्यन्त जरूरी है। इसके सिवाय प्रातःकाल में एकान्त, शान्ति, प्रसन्नता आदि की सहज रूप से अनुभूति होती है। इस समय के वातावरण में हिंसा और क्रूरता नहीं होती, अन्य व्यक्तियों के साथ किसी तरह का सम्पर्क न होने के कारण असत्य भाषण, कटु व्यवहार, कलह, संघर्ष, दुर्भाव आदि का अवसर भी प्राप्त नहीं होता, लुटेरे आदि चौर्यकर्म से निवृत्त हो जाते हैं, कामी पुरुष कामवासना से निवृत्ति पा लेते हैं। इस प्रकार हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन आदि दुष्कार्यों का अभाव होने से वायुमण्डल परिशुद्ध होता है। अतः सामायिक की पवित्र क्रिया के लिए यह समय सर्वसम्मत एवं सर्वोत्तम है। यदि प्रभातकाल में न हो सके, तो सायंकाल भी दूसरे समयों की अपेक्षा शान्त माना गया है।

समत्व, सम्यक्त्व और सामायिक में भेद या अभेद?

सम् और सम्यक् दोनों अव्यय शब्द हैं। शम् अव्यय से मत्वर्थक अच् प्रत्यय होने पर 'सम' यह अकारान्त शब्द बनता है फिर 'सम्' में 'तव' प्रत्यय जोड़ देने पर समत्व और गमनार्थक 'अय्' धातु एवं 'इक्' प्रत्यय का योग करने पर सामायिक शब्द प्रतिफलित होता है। इस प्रकार 'सम्' पद से समत्व और सामायिक ये दो शब्द निष्पन्न होते हैं तथा 'सम्यक्' में 'त्व' प्रत्यय संयुक्त करने पर सम्यक्त्व शब्द बनता है।

जैन दर्शन में समत्व, सम्यक्त्व और सामायिक ये तीनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं, फिर भी अर्थ की अपेक्षा से आंशिक भेद है।

चित्त का विक्षोभों या तनावों से रहित होना समत्व है, समत्व युक्त चित्त सम्यक्त्व है और जिसके द्वारा समत्व भाव की प्राप्ति हो, वह सामायिक है। सामायिक साधन है, समत्व साधना है और सम्यक्त्व साध्य है। वस्तुतः सामायिक की साधना ही समत्व की साधना है और उसकी फलश्रुति सम्यक्त्व

है। प्रायः समत्व और सामायिक दोनों एक ही अर्थ के वाचक बनते हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे चित्तवृत्ति का समत्व कहते हैं जैन परम्परा में उसे सामायिक कहा गया है। अतः चित्तवृत्ति के समत्व की साधना ही सामायिक की साधना है, क्योंकि जिससे समत्व की प्राप्ति या लाभ हो, उसे ही सामायिक कहते हैं। दूसरे, मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे चित्तवृत्ति का समत्व कहते हैं उसे दर्शन के क्षेत्र में 'समाधि' भी कहा जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति का समत्व, सामायिक और समाधि– तीनों एक अर्थ का भी सूचन करते हैं। विशेषता यह है कि समत्व की उपलब्धि के लिए सजग होकर पुरुषार्थ करना सामायिक है और इस दृष्टि से समत्व साध्य है और सामायिक साधन है। फिर भी यहाँ साध्य और साधन में द्वैत भाव नहीं है, क्योंकि समत्व के बिना सामायिक नहीं होती और सामायिक की साधना बिना समत्व की उपलब्धि नहीं होती है। यद्यपि सम्यक् बोध की अपेक्षा समत्व और सामायिक में साध्य-साधन भाव है। समत्व की प्राप्ति होना समाधि है। इसी तरह समत्व और सम्यक्त्व में आधार-आधेय सम्बन्ध है। जो समत्व से युक्त हो, उसे ही सम्यक् कहा जा सकता है। जब तक चित्तवृत्ति में समत्व नहीं आता तब तक आचार या विचार सम्यक् नहीं हो सकते। समत्व पूर्ण विचार ही सम्यक् विचार है और समत्वपूर्ण आचार ही सम्यक् आचार है। संक्षेप में कहें तो समत्व की अभिव्यक्ति ही सम्यक्त्व है।

यद्यपि समत्व आधार है और सम्यक्त्व आधेय है। यह अनुभूतिजन्य तथ्य है कि जहाँ राग-द्वेष हो वहाँ तनाव होगा ही, अतः राग-द्वेष का अभाव ही समत्व का परिचायक है। सम्यक्त्व का एक अर्थ सत्य या उचितता भी है, किन्तु जो विषमभाव से युक्त हो वह न तो सत्य हो सकता है और न ही उचित। अतएव मानना होगा कि सम्यक्त्व के लिए समत्व आवश्यक है।

हम देखते हैं कि साधना की दृष्टि से समत्व-सम्यक्त्व एवं सामायिक तीनों समान अर्थ के बोधक हैं और परस्पर में एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं, किन्तु व्यवहारतः इनमें साध्य-साधन एवं आधार-आधेय सम्बन्ध हैं। दूसरा समत्व की उपस्थिति में ही सम्यक्त्व और सामायिक– ये दोनों कर्म सार्थकता प्रदान करते हैं। समत्व के अभाव में सम्यक्त्व-सम्यक्त्व नहीं रहता और सामायिक-सामायिक रूप नहीं रहती है। अतः सम्यक्त्व और सामायिक– इन दोनों के लिए समत्व शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

व्यवहार सामायिक भी अर्थकारी है?

समभाव ही सामायिक है। समभाव का अर्थ है– बाह्य विषयों से दूर हटकर आत्म स्वरूप में स्थिर होना, लीन होना। आत्मा का काषायिक विकारों से पृथक् किया हुआ अपना शुद्ध स्वरूप ही सामायिक है और उस शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही सामायिक का फल है। भगवतीसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ फल है। इस परिभाषा के अनुसार जब तक साधक स्व-स्वरूप में अवस्थित रहता है तब तक ही सामायिक है और ज्यों ही क्रोधादि कषाय या रागादि विषय रूप संकल्प-विकल्पों से युक्त बनता है त्यों ही सामायिक से शून्य हो जाता है।

इस प्रकार सामायिक के निश्चय स्वरूप को जानने वाले कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि आत्मपरिणति रूप शुद्ध सामायिक करना बहुत मुश्किल है। मन चंचल है, वह हरपल इधर-उधर भागता-दौड़ता रहता है, शरीर को स्थिर कर एक जगह बैठ भी जायें, तब भी मनोयोग न होने से पूर्ण सामायिक नहीं हो सकती। अतः इस तरह की सामायिक–क्रिया एक प्रकार से व्यर्थ ही है, तब तो मन के स्थिर होने पर ही सामायिक करनी चाहिए।

उपाध्याय अमरमुनि ने इसके समाधान हेतु महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किए हैं।[149] वे कहते हैं निश्चय सामायिक के स्वरूप का वर्णन कर उस पर बल देने का यह भाव नहीं, कि अन्तरंग साधना अच्छी तरह से न हो, तो बाह्य साधना भी छोड़ दी जाए। बाह्य साधना भी आन्तरिक साधना के लिए अतीव आवश्यक है। सर्वथा शुद्ध निश्चय सामायिक तो साध्य है, उसकी प्राप्ति शुद्ध व्यवहार साधना करते-करते आज नहीं, तो कालान्तर में कभी न कभी होगी ही। शुद्ध सामायिक अभ्यास पर आश्रित है। कोई चाहे कि मण भर का पत्थर एक ही बार में उठा लें, अशक्य है। किन्तु प्रतिदिन क्रमशः सेर, दो-सेर, तीन-सेर आदि का पत्थर उठाते-उठाते, कभी एक दिन वह भी आ जाता है कि जब संकल्पी व्यक्ति मण भर का पत्थर एक साथ उठा सकता है। एक-एक कदम बढ़ाने वाला दुर्बल यात्री भी एक दिन अंतिम मंजिल पर पहुँच जाता है। इस तरह निश्चय सामायिक की प्राप्ति व्यवहार सामायिक पर ही आधारित है,कोई भी साधक पहली बार में ही निश्चय सामायिक नहीं कर सकता। हाँ पात्रता की अपेक्षा अभ्यासकाल में तरतमता हो सकती है। जैसे कोई साधक अल्प समय

में शुद्ध सामायिक की प्राप्ति कर सकता है तो किसी आत्मा को इस स्थिति तक पहुँचने में अधिकतम समय भी लग सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि अभ्यास के बिना, बाह्य साधना के बिना सहसा आभ्यंतर साधना में प्रवेश करना असंभव ही है।

जहाँ तक मन की चंचलता का प्रश्न है, उस विषय में घबराने की आवश्यकता नहीं है। मन स्थिर न भी हो, तब भी आप टोटे (घाटे) में नहीं रहेंगे। शरीर और वचन नियंत्रण का लाभ तो मिलेगा ही। यद्यपि मन, वचन और शरीर– इन तीनों शक्तियों को सावद्य क्रिया से निवृत्त रखने पर ही पूर्ण सामायिक होती है, किन्तु मन पर नियंत्रण न रख पाने के कारण सामायिक का सर्वथा नाश भी नहीं होता है। यदि तीनों योगों को सावद्य क्रिया में संलग्न कर दिया जाए, तो ही सामायिक का सर्वथा नाश संभव है अन्यथा मनसा भंग अतिचार लगता है, अनाचार नहीं। अतिचार का अर्थ– 'दोष' है और दोष की शुद्धि आलोचना एवं पश्चात्ताप आदि से हो जाती है। विवक्षा भेद से यह मानना भी ठीक है कि मानसिक शांति के बिना सामायिक पूर्ण नहीं, अपूर्ण है, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि पूर्ण न मिले तो अपूर्ण को छोड़ दिया जाए? लौकिक जीवन में भी देखते हैं कि व्यापार में हजार का लाभ न भी हो, तो भी सौ, दो सौ का लाभ कहीं छोड़ा नहीं जाता है। आखिर, है तो लाभ ही, हानि तो नहीं है न! यदि रहने के लिए सात मंजिल का महल न मिले, तब तक झोपड़ी ही सही। कोई यह सोच ले कि मुझे सात मंजिल का महल मिलेगा, तब ही रहूंगा, तो इस प्रकार के विचार उसके स्वयं के लिए ही कष्टकारी होंगे। साथ ही उसकी गणना मूर्ख की कोटि में की जायेगी। अन्यथा झोपड़ी में रहने से भी सर्दी-गर्मी से बचाव, वर्षा आदि से बचाव आदि कई प्रकार के सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। इस तरह व्यवहार सामायिक भी एक बहुत बड़ी साधना है। निश्चय के पीछे व्यवहार को छोड़ देना कहाँ की समझदारी है? व्यवहार के माध्यम से कम से कम स्थूल पापाचारों से तो जीवन बचा हुआ रहेगा न?

सामायिक आवश्यक की ऐतिहासिक अवधारणा

जैन धर्म का सामायिक धर्म अत्यन्त विराट् एवं व्यापक है। वह आत्मा का धर्म है, अत: इसकी आराधना किसी भी जाति, देश, मत या पंथ का व्यक्ति कर सकता है। निर्ग्रन्थ धर्म में सामायिक व्रत की उपासना हेतु विशुद्ध परिणति को

महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि माता मरुदेवी को हाथी पर बैठे हुए ही समभाव द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो गई। इलायची बांस पर चढ़ा हुआ नाच रहा था। सहसा उसके अन्तर्जीवन में समत्व की नन्हीं-सी लहर पैदा हुई, वह इतनी फैली कि उसे अन्तर्मुहूर्त्त में बांस पर खड़े-खड़े ही केवलज्ञान हो गया। यह सामायिक का चमत्कार है। इसलिए यह मानना होगा कि सामायिक किसी अमुक वेश-विशेष में नहीं होती, उसका प्रादुर्भाव समभाव में, माध्यस्थभाव में से होता है। अतः राग-द्वेष के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है और यह मध्यस्थता अन्तर्चेतना की ज्योति है। भगवतीसूत्र में इसी चर्चा को लेकर महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हैं, जो द्रव्यलिंग की अपेक्षा भावलिंग को अधिक महत्त्व देते हैं।

किसी व्यक्ति को जैन श्रावक की विशिष्टतर दीक्षा स्वीकार करनी हो या करवानी हो, उसके लिए छः मासिक सामायिक व्रत का आरोपण किया जाता है। जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक ग्रहण की अपेक्षा से दो तरह के विधान हैं–

1. **षाण्मासिक सामायिक आरोपण विधि–** इसके माध्यम से छः माह तक उभय सन्ध्याओं में सामायिक करने की प्रतिज्ञा करवायी जाती है और 2. **सामायिक ग्रहणविधि–** इसमें श्रावक अपनी सुविधानुसार सामायिक ग्रहण करता है।[150]

प्रस्तुत अध्याय में सामायिक आवश्यक का तात्पर्य सविधि सामायिक ग्रहण करने से है। अतः यहाँ उसी सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

यदि सामायिक आवश्यक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो जहाँ तक प्राचीन आगम ग्रन्थों का सवाल है उनमें सूत्रकृतांगसूत्र, भगवतीसूत्र, उपासकदशासूत्र, अंतकृद्दशासूत्र, अणुत्तरोपपातिकसूत्र और विपाकसूत्र में सामायिकव्रत स्वीकार किया गया; सामायिक (आचारांग) आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया; सात शिक्षाव्रतों (इनमें सामायिकव्रत का भी अन्तर्भाव है) को अंगीकार किया; इस तरह की चर्चाएँ तो उपलब्ध होती हैं किन्तु विधि-विधान का किंचित निर्देश भी दृष्टिगत नहीं होता है।

भगवतीसूत्र में वर्णन आता है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्य वैश्यपुत्र कालास नामक अणगार ने भगवान महावीर से कहा– "स्थविर सामायिक को नहीं जानते, सामायिक का अर्थ नहीं जानते।" तब भगवान ने

उसे कहा– "हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक का अर्थ जानते हैं।" कालास अणगार द्वारा पुन: प्रश्न करने पर प्रभु महावीर ने कहा– "आत्मा हमारा सामायिक है और आत्मा हमारे सामायिक का अर्थ है।"[151]

ज्ञाताधर्मकथासूत्र[152] में उल्लेख है कि अणगार मेघ ने श्रमण भगवान महावीर के तथारूप[153] स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, इसके सिवाय कोई चर्चा नहीं है।[154] उपासकदशासूत्र में यह वर्णन है कि आनन्द श्रावक ने श्रमण भगवान महावीर के समीप पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत ऐसे बारहव्रत रूप श्रावक धर्म को स्वीकार किया।[155] इस कथन से सामायिकव्रत स्वीकार करने का उल्लेख तो मिल जाता है, किन्तु किस विधिपूर्वक स्वीकार किया, इसकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। अन्तकृद्दशासूत्र में सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढ़ने का उल्लेख है।[156]

अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र भी सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्ययन का ही विवेचन करता है। विपाकसूत्र में वर्णित है कि सुबाहुकुमार ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत सम्बन्धी बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया।[157]

इन आगमगत उद्धरणों का अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि उनमें मात्र सामायिक अंगीकार करने की चर्चा है, किन्तु सामायिक व्रत किस प्रकार अंगीकृत किया जाये या करना चाहिए, तत्सम्बन्धी कोई सूचन नहीं है। दूसरे, जिन आगमों में 'सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया' ऐसा निर्देश है, वहाँ सामायिक शब्द दो अर्थों का सूचक है प्रथम तो आचारांगसूत्र का और द्वितीय समत्व धर्म का। इस सूत्र में मुख्यरूप से आत्म धर्म (समता) की चर्चा की गई है इसीलिए आचारांगसूत्र को सामायिक शब्द से भी सम्बोधित किया है। वस्तुत: यह भाव सामायिक का प्रतिपादक सूत्र है।

जहाँ तक आगमेतरकालीन निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि परक साहित्य में सामायिक की विस्तृत चर्चा पढ़ने को मिलती है। मूलत: आवश्यकनिर्युक्ति सामायिक अध्ययन पर ही लिखी गई है। इसमें सामायिक का स्वरूप, सामायिक के भेद, सामायिक अधिकारी की योग्यता, सामायिक कहाँ, सामायिक स्थिति, सामायिक की उपलब्धि, सामायिक कब कितनी बार? इत्यादि विषयों को लेकर 26 द्वारों का विवेचन किया गया है।[158] विशेषावश्यक भाष्य यह भी सामायिक आवश्यक

पर निर्मित है। इसे सामायिक भाष्य भी कहते हैं। इसमें सामायिक स्वरूप की विविध रूपों में चर्चा की गई है, किन्तु सामायिक ग्रहण करने के लिए अन्य कौन-कौनसी क्रियाएँ की जाती हैं? उसका स्वरूप अनुपलब्ध है। इस भाष्य पर 1. स्वोपज्ञ टीका 2. कोट्याचार्यकृत टीका 3. मलधारी हेमचन्द्रकृत टीकाएँ भी मिलती हैं। उनमें भी प्रमुख रूप से सामायिक आवश्यक का ही प्रतिपादन है। इसके सिवाय जिनदासकृत चूर्णि भी सामायिक आवश्यक पर विशेष प्रकाश डालती है।[159]

इसी तरह टीका ग्रन्थों का अवलोकन किया जाए तो सामायिक के प्रकारों, अधिकारों एवं उपायों आदि का निरूपण तो प्राप्त हो जाता है किन्तु तत्सम्बन्धी विधि का सूचन प्राप्त नहीं होता है। इससे सुनिश्चित है कि विक्रम की 7वीं-8वीं शती तक सामायिक विधि का एक सुव्यवस्थित विकास नहीं हो पाया था। इससे आगे बढ़ते हैं, तो आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों से लेकर 10वीं-11वीं शती तक के ग्रन्थों में भी यह विधि सुगठित रूप से उपलब्ध नहीं होती है। यद्यपि हरिभद्रसूरिकृत एवं हेमचन्द्रसूरिकृत श्रावकधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में सामायिकव्रत को लेकर काफी कुछ कहा गया है, किन्तु तत्सम्बन्धी विधि-विधान का उनमें अभाव है।

ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर सामायिक विधि का क्रमबद्ध स्वरूप पूर्णिमागच्छीय तिलकाचार्यकृत सामाचारी[160] एवं खरतरगच्छीय विधिमार्गप्रपा- इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[161] इसके अनन्तर अभयदेवसूरिकृत पंचाशकवृत्ति, विजयसिंहाचार्यकृत वंदित्तुसूत्रचूर्णि, हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्रटीका, कुलमंडनसूरिकृत विचारामृतसंग्रह, मानविजयजीकृत धर्मसंग्रह आदि कुछ ग्रन्थों में करेमिभंते सूत्र को लेकर अवश्य विचार किया गया है।

उक्त आधार पर कहा जा सकता है कि सामायिक का एक सुनियोजित स्वरूप सर्वप्रथम तिलकाचार्य सामाचारी और विधिमार्गप्रपा में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि सुबोधा सामाचारी एवं आचार दिनकर 'षाण्मासिक सामायिक आरोपणविधि' की चर्चा अवश्य करते हैं, किन्तु सामायिक किस क्रम एवं आलापक पूर्वक ग्रहण करनी चाहिए? उसका कोई निर्देश नहीं है। अतएव सामायिक विधि के सम्बन्ध में तिलकाचार्यकृत सामाचारी और जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा- दोनों सामाचारी ग्रन्थ विशिष्ट स्थान रखते हैं।

जैन धर्म की विभिन्न परम्पराओं में सामायिक ग्रहण एवं पारण विधि

खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में सामायिक ग्रहण की विधि यह है–[162]

सामायिक ग्रहण से पूर्व की विधि– • सर्वप्रथम सामायिक ग्रहण करने का इच्छुक श्रावक या श्राविका शुद्ध वस्त्र पहनें।

• फिर पौषधशाला (उपाश्रय) में, साधु के समीप में अथवा घर के एकान्तस्थान में चौकी आदि ऊँचे आसन पर पुस्तक की स्थापना करें। यदि गुरु के सान्निध्य में सामायिक ले रहे हों तो अलग से स्थापना करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वहाँ गुरु के स्थापनाचार्य होते ही हैं।

• फिर बैठने की जगह का चरवले द्वारा प्रमार्जन करें।

स्थापनाचार्य की स्थापना विधि– • फिर कटासन (ऊनी वस्त्र खण्ड) को अपने समीप रखकर एवं घुटने के बल बैठकर, बाएं हाथ में मुखवस्त्रिका ग्रहण करें और दाहिने हाथ को पूर्वस्थापित पुस्तक आदि के सम्मुख करके तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें। फिर 'शुद्धस्वरूप' का पाठ बोलकर पुस्तक आदि में आचार्य की स्थापना करें। यदि गुरु के स्थापनाचार्य हों, तो पूर्वोक्त विधि नहीं करनी चाहिए।

गुरुवन्दन विधि– • उसके बाद स्थापनाचार्य के सम्मुख दो खमासमणपूर्वक अर्द्धावनत मुद्रा में 'सुहराईसूत्र' बोलें। फिर दाएं हाथ को नीचे स्थापित करते हुए एवं बाएं हाथ को मुखवस्त्रिकासहित मुख के आगे रखते हुए मस्तक झुकाकर 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' बोलें।

सामायिक ग्रहण विधि– • तदनन्तर एक खमासमण पूर्वक वंदन करके **'इच्छा. सदि. भगवन्! सामाइय मुँहपति पडिलेहूं?' 'इच्छं'** कहकर सामायिक ग्रहण करने हेतु नीचे बैठकर पच्चीस बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें और पच्चीस बोलपूर्वक शरीर की प्रतिलेखना करें • तदनन्तर पुनः एक खमासमण पूर्वक वन्दन करके **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं संदिसावेमि'–** हे भगवन्! आपकी आज्ञा पूर्वक सामायिक ग्रहण करता हूँ। पुनः दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं ठामि'–** हे भगवन्! आपकी अनुमतिपूर्वक सामायिकव्रत में स्थिर होता हूँ, इस प्रकार सामायिक करने की अनुमति ग्रहण करें। • उसके बाद पुनः एक खमासमण पूर्वक वन्दन

करें। फिर खड़े होकर दोनों हाथों में चरवला एवं मुखवस्त्रिका ग्रहण कर किंचिद् मस्तक झुकाते हुए तीन नमस्कारमन्त्र बोलें और तीन बार उच्चारणपूर्वक सामायिकदंडक बोलें। यदि गुरु हो, तो उनके मुख से सामायिकदंडक उच्चरें सामायिक पाठ निम्नोक्त है-

करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ- हे भगवन्! मैं दो करण तीन योगपूर्वक सावद्य-योग (हिंसामय व्यापार प्रवृत्ति) का यथानियम त्याग करता हूँ और आत्मभावरूप सामायिक साधना में स्थिर होता हूँ। हे भगवन्! सामायिक साधना में स्थिर होने के साथ ही अतीतकृत सावद्य कार्यों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उस पाप-व्यापार से निवृत्त करता हूँ।

ईर्यापथिक प्रतिक्रमण विधि- • तदनन्तर एक खमासमणसूत्र पूर्वक इरियावहि; तस्स; अन्नत्थसूत्र बोलकर चार नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। • उसके बाद वर्षावास का समय हो, तो एक खमासमणपूर्वक 'बइसणं संदिसावेमि' पुनः एक खमासमण देकर 'बइसणं ठामि' बोलकर आसन पर बैठने का आदेश ग्रहण करें। यदि चातुर्मास के अतिरिक्त आठ मास का समय हो, तो पूर्ववत दो खमासमणपूर्वक 'पाउंछणं संदिसावेमि' 'पाउंछणं ठामि' कहकर पादप्रोंछन का आदेश लें। वर्तमान में 'पाउंछणं' का आदेश लेने की परम्परा नहींवत है।

• उसके पश्चात पूर्ववत दो खमासमण पूर्वक क्रमशः 'सज्झायं संदिसावेमि' 'सज्झायं करेमि' कहकर स्वाध्याय करने की अनुज्ञा ग्रहण करें और स्वाध्याय रूप में आठ नमस्कारमन्त्र का स्मरण करें। यहाँ तक सामायिकग्रहण की विधि पूर्ण हो जाती है।

विधिमार्गप्रपा में सामायिकव्रत को लेकर कुछ विशेष निर्देश भी हैं। जैसे कि यदि शीतकाल हो, तो पंगुरणं (ऊनी शाल ओढ़ने) का आदेश लेना चाहिए। वर्तमान में यह परम्परा समाप्त प्रायः है। पौषधव्रत में यह आदेश आज भी लिया जाता है। यदि सायंकाल में सामायिक ग्रहण करनी हो, तो प्रथम स्वाध्याय का आदेश लें, फिर कटासन का आदेश लेना चाहिए।

यहाँ प्रात:कालीन एवं सायंकालीन सामायिक की अपेक्षा 'सज्झाय' और 'कटासन' इन दो आदेशों में क्रम परिवर्तन का जो निर्देश किया गया है उसका मुख्य कारण क्या हो सकता है? यह विद्वद्जनों के लिए अन्वेषणीय है। विधिमार्गप्रपा में यह भी सूचित किया गया है कि यदि कोई गृहस्थ सामायिक या पौषधव्रत ग्रहण करके बैठा हुआ हो, उसे सामायिक या पौषधग्रहण किया हुआ अन्य व्यक्ति हाथ जोड़ें, तो उन्हें 'वंदामो' शब्द बोलना चाहिए। जो सामायिक या पौषध व्रत में नहीं है उनके द्वारा हाथ जोड़कर वंदन किया जाए तो उन्हें व्रती के द्वारा 'सज्झायं करेह'- ऐसा कहना चाहिए। वर्तमान में पौषधव्रती को सुखपृच्छा तो की जाती है किन्तु प्रत्युत्तर में 'सज्झायं करेह' यह बोलने की प्रणाली नहींवत है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में प्रतिक्रमण करने से पूर्व जब सामायिक ग्रहण करते हैं, उस समय 'कटासन' और 'सज्झाय' का आदेश लेने से पूर्व एक खमासमणसूत्र पूर्वक- 'मुँहपत्ति पडिलेहूँ?' बोलकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं। इसमें भी यह नियम है कि जिसने चौविहार उपवास किया हो, वह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन न करें, जिसने तिविहार उपवास किया हो अर्थात पानी पीया हो, वह मुखवस्त्रिका का पडिलेहण कर गुरु को द्वादशावर्त्तवन्दन करे। उसके बाद गुरुमुख से दिवसचरिम या पाणहार आदि के प्रत्याख्यान ग्रहण करे। फिर शेष विधि सम्पन्न करते हैं। यह विधि सायंकालीन प्रत्याख्यान ग्रहण करने से ही सम्बन्धित है। इस विधि में चौविहार-उपवासी, तिविहार-उपवासी एवं भोजनग्राही की अपेक्षा से जो विधि भेद बतलाया गया है, वह गीतार्थों के लिए अन्वेषणीय है। यह विधि अर्वाचीन ग्रन्थों के आधार से कही गई है।

सामायिक पारने की विधि– • सामायिक की अवधि पूर्ण होने पर यदि बिजली आदि का प्रकाश शरीर पर पड़ा हो या गमनागमन सम्बन्धी किसी प्रकार का दोष लगा हो, तो सर्वप्रथम 'ईर्यापथिक प्रतिक्रमण' करें।

• फिर एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

• फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं पारावेह'**– हे भगवन्! आपकी आज्ञापूर्वक सामायिक पूर्ण करूँ? ऐसा कहें। यदि गुरु महाराज हों, तो 'पुणोवि कायव्वो'-सामायिक की साधना पुनः करनी

चाहिए – ऐसा बोलें। तब शिष्य 'यथाशक्ति' कहें। यह परम्परा वर्तमान में है, विधि ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

• तदनन्तर पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं पारेमि'** – हे भगवन्! आपकी आज्ञापूर्वक सामायिक पूर्ण करता हूँ– ऐसा बोलें। तब गुरु उपस्थित हों, तो 'आयारो न मोतव्वो'– तुम्हें समतामय आचार का त्याग नहीं करना चाहिए– ऐसा कहें। इसके प्रत्युत्तर में सामायिक पारने वाला श्रावक 'तहत्ति' शब्द कहे। यह परम्परा भी वर्तमान में है।

• उसके बाद दोनों हाथ जोड़कर तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें। फिर दाएं हाथ को नीचे और बाएं हाथ को मुख के आगे रखकर तथा मस्तक को भूमितल पर स्पर्शित करके 'भयवंदसण्णभद्दोसूत्र' बोलें।[163]

तदनन्तर यदि पुस्तक आदि की स्थापना की हो, तो दाएं हाथ की उत्थापन मुद्रा बनाकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलें और पंच परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक पुस्तक आदि को उत्थापित करें।

तपागच्छ परम्परा में सामायिकग्रहण एवं सामायिकपारण–विधि लगभग पूर्ववत जाननी चाहिए। विशेष अन्तर यह है कि • इनमें पुस्तक आदि की स्थापना करते समय एक नमस्कारमन्त्र और 'पंचिंदियसंवरणोसूत्र' बोलते हैं। • खरतरगच्छ में पहले सामायिक दंडक का उच्चारण करते हैं, फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं जबकि तपागच्छ में पहले ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं, फिर सामायिक दंडक उच्चरते हैं। • खरतर परम्परा में सामायिकदंडक का उच्चारण करने से पूर्व नमस्कार मन्त्र एवं सामायिकदंडक तीन-तीन बार बोलते हैं, जबकि तपागच्छ परम्परा में मन्त्र एवं दंडक एक बार बोलते हैं। • खरतर सामाचारी के अनुसार सामायिक पूर्ण करते समय 'भयवंदसण्णभद्दोसूत्र' बोला जाता है[164] किन्तु तपागच्छ परम्परा में 'सामाइयवयजुत्तो' का पाठ बोलते हैं और सामायिक लेने की विधि अन्त में 'सज्झाय' का आदेश लेकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं। शेष विधि-नियम लगभग समान ही हैं।

सायंकाल में प्रतिक्रमण की सामायिक पूर्ण करते समय ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने के बाद 'चउक्कसाय'का चैत्यवंदन कर सामायिक पूरी करते हैं।

अचलगच्छ परम्परा में सामायिक ग्रहण एवं सामायिक पारण-विधि का स्वरूप निम्न प्रकार है[165]– • सर्वप्रथम नमस्कारमन्त्र एवं 'पंचिंदियसूत्र' पूर्वक

पुस्तक आदि की स्थापना करते हैं।[166] • फिर पूर्ववत गुरुवन्दन करते हैं। • उसके बाद गमनागमन की आलोचना का आदेश लेकर 'गमनागमन' का पाठ बोलते हैं। • फिर एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामायिक संदिसाहुं'** कहकर सामायिक का आदेश लेते हैं। • पुनः एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामायिक ठावा तीन नवकार गिणुंजी'**- ऐसा कहकर उत्कटासन मुद्रा में बैठकर एवं दाएं हाथ को नीचे स्थापित कर तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं। • फिर खड़े होकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! जीवराशि खमाऊँजी'** कहकर गुरु हों, तो उनकी अनुमतिपूर्वक पाठ बोलते हैं।[167] • फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! अढार पापस्थानक आलोऊंजी'**- ऐसा कहकर अनुमतिपूर्वक अठारह पापस्थानक का पाठ बोलते हैं। • तदनन्तर एक खमासमणपूर्वक उत्कटासन में बैठकर **'इच्छा. संदि.! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, धारूँ जी'**- ऐसी अनुमति प्राप्तकर यह सूत्रपाठ बोलते हैं।[168] • उसके बाद खड़े होकर मन में एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं। फिर अर्द्धावनत होकर गुरु न हों, तो स्वयं ही एक बार सामायिक दंडक का उच्चारण करते हैं। इनमें 'बइसणं' 'सज्झाय' 'पंगुरणं' के आदेश नहीं लिए जाते हैं और मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना भी नहीं की जाती है। मुखवस्त्रिका के स्थान पर उत्तरासंग का छेड़ा (दुपट्टे की एक तरफ की किनारी) प्रतिलेखित करते हैं। मुखवस्त्रिका द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सभी क्रियाएँ वस्त्र छेड़ा से करते हैं। वर्तमान में मुखवस्त्रिका रखने लगे हैं।

• सामायिक पूर्ण करते समय सर्वप्रथम ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण करते हैं। फिर पूर्ववत दो खमासमण द्वारा **'सामायिक पारूँ' 'सामायिक पार्युं'**- ये दो आदेश लेते हैं। • उसके बाद उत्कटासन में बैठकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं। फिर अनुमति लेकर सामायिक पारने का पाठ कहते हैं।[169] • तत्पश्चात तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं और दो खमासमण देकर गुरु से सुखशाता पूछते हैं।

पायच्छंदगच्छ में सामायिकग्रहण एवं सामायिकपारण विधि तपागच्छीय सामाचारी के अनुसार जाननी चाहिए। केवल सामायिक लेते समय **'पडिलेहणं संदिसावेमि' 'पडिलेहणं करेमि'**-ये दो आदेश लेकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं, शेष सर्वविधि समान ही है।[170]

त्रिस्तुतिक परम्परा में सामायिकग्रहण एवं सामायिकपारण विधि का क्रम इस प्रकार है– • पूर्ववत पुस्तक आदि की स्थापना करते हैं। • फिर ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण करते हैं। • फिर द्वादशा वर्त्त रूप दो वांदणा देते हैं। • फिर खमासमणसूत्र पूर्वक सुहराई एवं अब्भुट्ठिओमिसूत्र बोलते हैं। फिर मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित कर **'सामायिक संदिसावेमि' 'सामायिक ठामि'**– इस आदेश पूर्वक एक बार नमस्कारमन्त्र एवं एक बार 'करेमिभंतेसूत्र' कहते हैं। • पुनः ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके 'बइसणं' आदि के चार आदेश लेते हैं। फिर अन्त में स्वाध्याय हेतु तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं। सामायिकपारण-विधि तपागच्छीय परम्परा के समान ही है।[171]

स्थानकवासी परम्परा में सामायिकग्रहण एवं पारणविधि निम्नानुसार है– • इसमें वस्त्र, भूमि आदि की शुद्धि पूर्ववत समझनी चाहिए। गुरुवन्दनसूत्र के स्थान पर तीन बार तिक्खुत्तोपाठ बोलते हैं, फिर खड़े होकर एक बार नमस्कारमन्त्र बोलते हैं। • उसके बाद एक बार आलोचनासूत्र (इरियावहिपाठ), एक बार तस्सउत्तरी का पाठ, फिर इरियावहि के दो पाठ ध्यान में बोलते हैं। • ध्यान पूर्ण होने पर 'णमोअरिहंताणं' बोलते हैं।[172]

• फिर एक बार कायोत्सर्गशुद्धि का पाठ, एक बार उत्कीर्त्तनसूत्र (लोगस्स का पाठ), एक बार प्रतिज्ञासूत्र (करेमिभंते का पाठ), दो बार शक्रस्तव बोलते हैं। शक्रस्तव कहते समय बायाँ घुटना ऊँचा करके, अंजलिबद्ध दोनों हाथों को उस पर रखते हैं। इतनी विधि सामायिक ग्रहण करते हुए की जाती है। • सामायिक पूर्ण करते समय एक बार नमस्कारमन्त्र, एक बार आलोचनासूत्र (इच्छाकारेणं का पाठ) एक बार तस्सउत्तरी का पाठ बोलकर दो लोगस्ससूत्र का विधिपूर्वक ध्यान करते हैं। • फिर एक बार कायोत्सर्गशुद्धि का पाठ, एक बार लोगस्ससूत्र का पाठ, दो बार शक्रस्तव का पाठ, एक बार समाप्तिसूत्र कहकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं।[173]

तेरापंथी परम्परा में सामायिकग्रहण एवं पारणविधि लगभग स्थानकवासी आम्नाय के समान ही हैं।[174]

दिगम्बर परम्परा में सामायिक के पूर्व कुछ क्रियाएँ होती है जैसे कि प्रत्येक दिशा में नौ बार या तीन बार नमस्कारमंत्र का स्मरण करते हैं, फिर इर्यापथ शोधन पूर्वक पूर्वादि क्रम से चारों दिशाओं में तीन आवर्त्त और एक

शिरोनति करते हुए श्लोक बोलकर वन्दना करते हैं। • फिर वन्दनामुद्रा में बैठकर प्रतिज्ञा करते हैं। वह प्रतिज्ञापाठ इस प्रकार है–

तीर्थंकरकेवलि–सामान्यकेवलि-समुद्घातकेवलि–उपसर्गकेवलि मूककेवलि अन्तःकृतकेवलिभ्यो नमो नमः। तीर्थंकरोपदिष्ट-श्रुताय नमो नमः। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारकाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योनमो नमः

जम्बूद्वीपे, भरतक्षेत्रे, आर्यखण्डे, भारतदेशे... प्रान्ते... नगरे १००८ श्री जिन चैत्यालयमध्ये, अद्यवीरनिर्वाण ... मैं सामायिक के कालपर्यन्त के लिए समस्त पापों का त्याग करता हूँ।[175]

• उसके बाद सामायिकग्रहण के लिए पवित्रभूमि पर आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर-दिशा की ओर मुख करके खड़े होते हैं। अंजलिबद्ध हाथ जोड़कर बारह आवर्त्त,[176] चार शिरोनति[177] दो निषद्या और मन, वचन, काया की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म करते हैं।[178] • उसके बाद प्रतिज्ञा करते हैं–

'अथपौर्वाह्णिक, मध्याह्णिक, अपराह्णिक काले घटिकाद्वयपर्यन्तं सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मि'।

तदनन्तर स्वाध्याय-ध्यान आदि में प्रवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद अमितगति विरचित सामायिक पाठ बोलते हैं।

सामायिकसूत्र : एक विश्लेषण

सामायिक निवृत्ति प्रधान साधना है, यद्यपि इसका बाह्य स्वरूप द्रव्यप्रधान है अतः इस क्रिया में प्रवेश करते समय कुछ सूत्रपाठ बोले जाते हैं। सामान्यतया नमस्कारमंत्र, खमासमणसूत्र, गुरुवंदनसूत्र, सामायिकदंडक, ईर्यापथिकसूत्र, आगारसूत्र, चतुर्विंशतिस्तव आदि सूत्रपाठ सभी परम्पराओं में लगभग समान हैं। इन सूत्रों में 'करेमि भंते' यह मूल सूत्र है, इसे प्रतिज्ञासूत्र कहते हैं। आराधक इस पाठ का उच्चारण करने के तुरन्त बाद समभाव में स्थिर हो जाता है अतएव द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत सूत्र का विस्तृत वर्णन किया जाएगा। आराधकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए शेष सूत्रों का परिचय 'प्रतिक्रमण आवश्यक' के अधिकार में कहेंगे।

'करेमि भंते' सूत्र में छः आवश्यक कैसे

सामायिक आदि छहों आवश्यक परस्पराश्रित हैं। यदि सामायिक आवश्यक का विधिपूर्वक एवं भावपूर्वक अनुपालन करते हैं तो उसकी सभी

क्रियाएँ स्थूल या सूक्ष्म रूप से छहों आवश्यकों में समाविष्ट हो जाती है। सामायिक प्रतिज्ञासूत्र में छ: आवश्यक निम्न रूप से अन्तर्निहित हैं–

1. 'करेमि.....सामाइयं' –समता पूर्वक सामायिक करने का संकल्प करता हूँ, यह सामायिक आवश्यक है।

2. 'भन्ते.....भदन्त.....भगवान'– तीर्थंकर परमात्मा का उपकार स्मरण, उत्कीर्त्तन करना, यह चतुर्विंशति आवश्यक है।

3. 'तस्स भंते'– गुरु के बहुमान (वन्दन) पूर्वक सावद्य योग रूप प्रवृत्ति का निषेध करता हूँ, यह वन्दन आवश्यक है।

4. 'पडिक्कमामि.....'– पाप कार्यों से निवृत्त होता हूँ अथवा पापजन्य व्यापार से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त करता हूँ, यह प्रतिक्रमण आवश्यक है।

5. 'अप्पाणं..... वोसिरामि'– मैं आत्मा को उस पाप रूप व्यापार से हटाता हूँ, यह कायोत्सर्ग आवश्यक है।

6. 'सावज्जं.....जोगं.....पच्चक्खामि'– पाप रूप प्रवृत्ति का त्याग (निषेध) करता हूँ, यह प्रत्याख्यान आवश्यक है।

जैन अनुयायियों को इस सूत्र के निहितार्थ पर गहराई से पुनर्विचार कर इस दिशा में शीघ्रमेव प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि सामायिक द्वारा छहों आवश्यकों का स्वयमेव परिपालन हो जाता है।

'करेमि भंते' सूत्र का विशिष्टार्थ एवं तात्पर्यार्थ

इस सूत्र का मूल नाम सामायिक सूत्र है। इस सूत्र का आरम्भ 'करेमि भंते' पद से होने के कारण यह 'करेमिभंते सूत्र' इस नाम से भी प्रसिद्ध है तथा सामायिक क्रिया में मुख्य और महापाठ रूप होने से 'सामायिक दंडक' के नाम से भी पहचाना जाता है।

करेमि– ग्रहण करता हूँ, स्वीकार करता हूँ।

जैन सूत्रों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि किसी शिष्य के हृदय में उत्तम कार्य करने का भाव पैदा हो जाए तो उसे गुरु के समक्ष प्रकट करें और उनकी आज्ञानुसार तद्योग्य प्रवृत्ति शुरू करें। इस तरह विनय सामाचारी का पालन करना, आध्यात्मिक जीवन की आराधना का आवश्यक अंग है। अत: प्रत्येक धार्मिक क्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व विनय प्रदर्शित करना जरूरी है।

यहाँ 'करेमि' पद का अर्थ 'करता हूँ' इतना ही नहीं है, बल्कि 'करने की

इच्छा करता हूँ' यह अधिक उचित है। अस्तु, इस प्रथम पद के अर्थ में विनय गुण का योग्य उपचार है।

भंते– हे पूज्य! यह पद गुरु के आमंत्रण रूप है, क्योंकि आवश्यक आदि सर्व प्रकार के धर्मानुष्ठान में उनकी आज्ञा जरूरी है।[179]

'भंते' शब्द पूज्यभाव का बोधक है। 'भंते' शब्द के भदन्त, भवांत और भयांत– ऐसे तीन संस्कृत रूप बनते हैं। भदन्त का अर्थ– कल्याणवान अथवा सुखवान है, भवांत का अर्थ है– भव अर्थात संसार का अन्त करने वाला, भयांत का अर्थ है– भय अर्थात त्रास का अन्त करने वाला। गुरु की शरण में पहुँचने के बाद भव और भय का कहीं अस्तित्व नहीं रहता।[180]

'भंते' का अर्थ भगवान भी होता है। यदि यह सम्बोधन वीतराग परमात्मा के लिए माना जाए, तब भी उचित है। सद्गुरु उपस्थित न हो, तब तीर्थंकर परमात्मा को साक्षी बनाकर अपना धर्मानुष्ठान शुरू कर देना चाहिए। अरिहंत हमारे हृदय की सब भावनाओं के द्रष्टा है, अतः उनकी साक्षी से धर्म साधना करना आध्यात्मिक क्षेत्र को परिपुष्ट करने हेतु अमोघ अमृत मन्त्र के तुल्य है।

सामाइयं– सामायिक-समभाव की साधना।

सामायिक-समय, समाय या सामाय पद का तद्धित रूप है। इसमें स्वार्थक 'इकण्' प्रत्यय जुड़कर यह शब्द सिद्ध हुआ है। इससे निम्न अर्थों का बोध होता है–

सामायिक अर्थात सद्वर्तन, शास्त्रानुसारी शुद्ध जीवन जीने का प्रयत्न, विषमता का अभाव उत्पन्न करने वाली क्रिया, सर्व जीवों के प्रति मित्रता या बंधुत्व भाव रखने का प्रयास, राग और द्वेष को जीतने का परम पुरुषार्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की स्पर्शना, शांति की आराधना, अहिंसा की उपासना आदि सभी अर्थ व्यवहार दृष्टि पर आधारित हैं। तत्त्वतः समभाव में स्थिर रहना सामायिक है।

सावज्जं जोगं पच्चक्खामि– सावद्य–पापयुक्त, योग–व्यापार का त्याग करता हूँ।

मन, वचन और काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति योग कहलाती है। शुभ प्रवृत्ति पुण्य रूप और अशुभ प्रवृत्ति पाप रूप होती है। यहाँ 'योग' शब्द से पाप रूप प्रवृत्ति का ग्रहण है। कुछ लोग मानते हैं कि सामायिक करते समय जीव रक्षा का

कार्य नहीं कर सकते, किसी जीव पर दया नहीं कर सकते। उनका अभिप्राय यह है कि सामायिक में किसी पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए और जब हम किसी जीव को मरते हुए बचायेंगे तो उस पर अवश्य राग-भाव आएगा। बिना राग भाव के किसी को बचाया नहीं जा सकता। इस प्रकार उनकी दृष्टि में किसी मरते हुए जीव को बचाना भी सावद्य योग है।

इसका समाधान यह है कि सामायिक में सावद्य योग अर्थात पापमय कार्य, जीवहिंसा का त्याग ही अभीष्ट है, जीव दया का नहीं। यदि जीव-दया को भी पापमय कार्य के रूप में स्वीकार करेंगे, तब तो संसार में धर्म का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा। जीव-दया तो जैन धर्म का प्राण है। जब हम किसी प्राणी पर स्वार्थ या मोहवश दया करते हैं तब ही राग भाव कहा जा सकता है, जबकि सामायिक आदि धर्म क्रिया करते समय अथवा किसी भी अन्य समय, किसी जीव की रक्षा कर देना निष्काम प्रवृत्ति है अतः वह कर्म निर्जरा का कारण है, पाप का कारण नहीं।

जाव नियमं पज्जुवासामि– जब तक नियम है तब तक पर्युपासना करूंगा।

'जाव' शब्द मर्यादा सूचक और 'नियम' शब्द प्रतिज्ञा वाचक है। सामायिक-समभाव साधना की क्रिया है। राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करने से समभाव सधता है अतः इस क्रिया का मुख्य सम्बन्ध चित्तशुद्धि से है। चित्तशुद्धि आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान का त्याग करने से तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को धारण करने से होती है। यह ध्यान एक ही विषय पर अंतर्मुहूर्त्त या दो घड़ी से अधिक स्थिर नहीं रह सकता। इस अपेक्षा से सामायिक का काल एक मुहूर्त्त सिद्ध होता है।

दुविहं तिविहेणं..... न कारवेमि–

दो करण, तीन योग से अर्थात मन, वचन, काया रूप तीन योग से पाप जन्य प्रवृत्ति न करूंगा, न कराऊंगा।

सामायिकव्रती छः कोटि से अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करता है– 1. मन से अशुभ प्रवृत्ति करूंगा नहीं 2. कराऊंगा नहीं 3. वचन से अशुभ प्रवृत्ति करूंगा नहीं 4. कराऊंगा नहीं 5. काया से अशुभ प्रवृत्ति करूंगा नहीं 6. कराऊंगा नहीं। इस प्रकार सामायिक में हिंसा, असत्य आदि पाप कर्म का त्याग कृत और कारित रूप से ही किया जाता है अनुमोदन खुला रहता है।

इसका कारण यह है कि गृहस्थ सांसारिक कार्यों में रचा-पचा होने से तत्सम्बन्धी कार्यों का पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता। अतएव जब वह सामायिक के लिए बैठता है तब भी सांसारिक ममता का पूर्णतः परित्याग नहीं कर सकता। इतना अवश्य है कि उसके लिए अनुमोदन का द्वार खुला रहने पर भी किसी प्रकार के आरम्भ-समारम्भ, व्यापार आदि की प्रशंसा तो नहीं कर सकता है, परन्तु जो वहाँ की ममता का सूक्ष्म तार आत्मा से बंधा रहता है वह नहीं कट पाता है। अतः सामायिक में अनुमोदन का भाग खुला रहने का यही तात्पर्य है।

तस्स भंते...अप्पाणं वोसिरामि–

हे भगवन्! अब तक की गई अशुभ प्रवृत्ति में से निवृत्त होता हूँ, उनकी निन्दा करता हूँ, गुरु साक्षी पूर्वक (प्रकट निंदा) गर्हा करता हूँ और अशुभ प्रवृत्ति करने वाली कषायात्मा का त्याग करता हूँ।

यहाँ 'निंदामि' का तात्पर्य अतीतकृत पाप कार्यों को अंतर्मन से मिथ्या मानकर उसके प्रति खेद करना तथा उन्हें पुनः न करने की बुद्धि धारण करना है, यही वास्तविक निंदा है।

'गरिहामि' का तात्पर्य है अतीतकृत पापकार्यों को अहितकारी मानकर गुरु की साक्षी पूर्वक उन्हें फिर से न करने का संकल्प करना। अप्पाणं का स्पष्टार्थ है कि उपयोग लक्षण आत्मा एक प्रकार की होने पर भी भिन्न-भिन्न परिणामों की अपेक्षा आठ प्रकार की कही गई है– 1. द्रव्यात्मा-त्रिकालवर्ती आत्मा, 2. कषायात्मा-कषाय युक्त आत्मा, 3. योगात्मा– मन, वचन और काय व्यापार में प्रवृत्त आत्मा 4. उपयोगात्मा– उपयोग लक्षण रूप आत्मा 5. ज्ञानात्मा– सम्यग्ज्ञान रूप स्पष्ट बोध को प्राप्त करने वाली आत्मा 6. दर्शनात्मा– सामान्य अवबोध करने वाली आत्मा 7. चारित्रात्मा– हिंसादि दोषों से निवृत्त बनी हुई आत्मा 8. वीर्यात्मा-शक्तिवान आत्मा। इन आठ में से कषायात्मा त्याग करने योग्य है, क्योंकि वह संसार वृद्धि का कारण रूप है, आध्यात्मिक प्रगति में बाधक रूप है।[181]

सामायिक पाठ प्राकृत भाषा में ही क्यों?

सामायिक एक पापविरत साधना है। इस साधना में प्रवेश करने हेतु परम्परागत कुछ सूत्र पाठ बोले जाते हैं, जो अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध

हैं। आजकल कई लोग यह तर्क देते हैं कि सामायिक पाठ प्राकृत भाषा में होने से इनका स्पष्टार्थ समझ नहीं आता है, केवल तोते की तरह उच्चारण करने से अथवा शब्दों के पीछे बंधे रहने से क्या मतलब? इसके भाव तो कुछ भी समझ नहीं पाते। अतः इन्हें हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि लोकभाषाओं में रूपान्तरित कर दिए जाएं, तो आम समुदाय के लिए उपयोगी एवं लाभप्रद हो सकेंगे।

उपाध्याय अमरमुनि ने तीन तथ्यों के आधार पर इस तर्क का सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया है। पहला तथ्य यह है कि महापुरुषों की वाणी में और जन-साधारण की वाणी में महत अन्तर होता है। महापुरुषों के कथन के पीछे उनके प्रौढ़ एवं सदाचार युक्त जीवन के गहरे अनुभव रहते हैं, जबकि जनसामान्य की वाणी जीवन के स्थूल स्तर से ही सम्बन्ध रखती है। यही कारण है कि महापुरुषों के साधारण शब्द भी अन्तश्चेतना को स्पर्शित कर जीवन धारा बदल देते हैं, निकृष्टतम पापी को भी धर्मात्मा और सदाचारी बना देते हैं जबकि साधारण मनुष्यों की अलंकार युक्त वाणी भी कुछ असर नहीं कर पाती। तीर्थंकर जैसे महान आत्माओं की वाणी का दूसरा चमत्कार भी प्रत्यक्ष है कि वह हजारों-लाखों वर्षों के बीतने के बावजूद भी दीर्घकाल से आज तक अविच्छिन्न रूप से जीवित है जबकि आजकल के वक्ताओं का प्रभाव उनके समक्ष ही मृत हो जाता है। हाँ, तो यह निःसन्देह मानना होगा कि महापुरुषों के वचनों में जो विलक्षणता, प्रामाणिकता एवं पवित्रता का अपूर्व योग होता है, वैसा साधारण लोगों के वचनों में नहीं पाया जाता और यह विशिष्टता प्राचीन या प्राकृत पाठों में ही जीवन्त रह सकती है।

दूसरा तथ्य उजागर करते हुए कहा गया है कि आप्त पुरुषों के वाक्य नपे-तुले होते हैं। वे बाह्य रूप से अल्पकाय मालूम होते हैं, परन्तु उनके निहितार्थ गम्भीर और अनिर्वचनीय होते हैं। दूसरे,प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तरिक भावों को प्रकट करने की जो शक्ति है, वह प्रान्तीय भाषाओं में नहीं हो सकती। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं जो प्रसंगानुसार हृदयप्रभावी भावों को प्रकट करते हैं। हिन्दी आदि भाषाओं में यह खूबी नहीं है। दिग्गज विद्वान् भी इस बात के समर्थक हैं कि प्राचीन शास्त्र पाठों का पूर्ण अनुवाद करना अशक्य है। आज की भाषाएँ मूल रहस्यों को न तो सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर सकती हैं और न ही उन्हें उस रूप में अभिव्यक्त कर सकती है।

इस प्रगति युग में चन्द्र, सूर्य और हिमालय के चित्र लिए जा रहे हैं, परन्तु वे चित्र मूलवस्तु का साक्षात प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। जैसे चित्र में रहा सूर्य कभी प्रकाश नहीं दे सकता, वैसे ही मूल का अनुवाद केवल छाया-चित्र है। उसके आधार से मूल पाठों के भावों की अस्पष्ट झाँकी अवश्य ले सकते हैं; परन्तु सत्य के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकते। प्रत्युत कभी-कभी मूलपाठ का भाव अनुवाद की भाषा में आकर असत्य से मिश्रित भी हो जाता है,क्योंकि व्यक्ति अपूर्ण है, वह पूर्ण स्वरूपी आप्त वाणी का यथावत विश्लेषण कैसे कर सकता है? उसके द्वारा कहीं न कहीं भूल होना या अधूरापन रह जाना स्वाभाविक है। इसी कारण आज के उद्‌भट् विद्वान् आगमिक टीकाओं पर सहसा विश्वास नहीं करते, वे उसके मूलपाठ का अवलोकन करने के बाद ही अपने विचार स्थिर करते हैं अतएव प्राकृत सूत्रपाठों को मूलरूप में रखना ही पूर्णत: उचित है।

तीसरा तथ्य व्यवहारमूलक एवं सद्‌भावों का सूचक है। यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो भी प्राकृत-पाठ ही औचित्यपूर्ण है। भारतीय परम्परा की धर्म-क्रियाएँ सामाजिक एकता की प्रतीक हैं। साधक किसी भी जाति के हों, किसी भी प्रांत के हों, किसी भी राष्ट्र के हों, जब वे एक ही स्थान में, एक ही वेश-भूषा में, एक ही पद्धति में, एक ही भाषा में धार्मिक पाठ पढ़ते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि जैसे सब भाई-भाई हों, एक ही परिवार से जुड़े हुए सदस्य हों। आपने मुसलमान भाईयों को ईद की नमाज पढ़ते हुए देखा होगा? उस समय हजारों मस्तक एक साथ भूमि पर झुकते और उठते हुए इतने सुन्दर लगते हैं कि हृदय भाव विभोर हो उठता है। इसी तरह हजारों की तादाद में प्राकृत पाठ ही एक स्वर में उच्चरित किये जा सकते हैं हिन्दी भाषा में वह सामर्थ्य नहीं है। अत: मानवीय एकता को समुन्नत एवं सुदृढ़ बनाये रखने की दृष्टि से सामायिक के मूल पाठों को यथा रूप से अवस्थित रखना ही श्रेयकारी है।[182]

जहाँ तक मूलपाठों के अर्थ से परिचित होने का प्रश्न है, उसे गुरुगम पूर्वक अवश्य समझना चाहिए। आजकल मूलसूत्रों के शब्दार्थ एवं भावार्थ से युक्त कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कदाच सद्‌गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हो पाए, तो अर्थ सहित प्रतिक्रमण सम्बन्धी पुस्तकों द्वारा भी मूलपाठों का आशय सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। सामायिक आदि सभी प्रकार की धार्मिक क्रियाओं को फलदायी बनाने के उद्देश्य से सूत्रपाठों का भावार्थ समझना अति

आवश्यक है। आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा है– अर्थहीन शास्त्रपाठी की ठीक वही दशा होती है,जैसे दलदल में फँसी हुई गाय की होती है। वह न तो बाहर आने में समर्थ होती है और न ही भीतरी जल तक पहुँचने के योग्य। अन्ततोगत्वा 'उभयतोपाश' की न्यायोक्ति के अनुसार प्राप्त दशा में ही अपना जीवन समाप्त कर देती है।

वस्तुत: अर्थ की ओर ध्यान न दे पाने के कारण सूत्रोच्चारण की शुद्धाशुद्धता का भी ख्याल नहीं रह पाता है। अर्थ को न समझने से मिथ्या भ्रान्तियाँ भी फैल जाती है– किसी गाँव में एक श्राविका 'करेमि भंते' का पाठ पढ़ते समय 'जाव' के स्थान पर 'आव' कहती थी। किसी के द्वारा पूछे जाने पर उसने तर्क देते हुए कहा कि सामायिक को तो बुलाना है उसे 'जाव' क्यों कहें? 'आव' कहना चाहिए।

आशय यह है कि मूलपाठों के अर्थ समझना जितना जरूरी है उतना उन्हें मूल रूप में अवस्थित रखना भी आवश्यक है।

तुलनात्मक विवेचन

यदि पूर्व निर्दिष्ट परम्पराओं के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की सभी परम्पराओं में सामायिक दंडक का पाठ एक समान है, जबकि सामायिक पारने के पाठों में भिन्नता है। इसी के साथ खरतरगच्छ, तपागच्छ, पायच्छंदगच्छ एवं त्रिस्तुतिक– इन परम्पराओं में पारस्परिक रूप से क्रम सम्बन्धी ही भिन्नताएँ हैं, शेष सूत्र पाठ एक समान है। अचलगच्छ की सामायिक विधि कुछ हटकर है। मूल विधि एवं तत्सम्बन्धी सूत्रों की अपेक्षा से देखा जाए, तो स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा की श्रावक सामायिक विधि मूर्तिपूजक परम्पराओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में सामायिक पाठ भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मूलागमों में गृहस्थ की सामायिक विधि का विस्तृत स्वरूप प्राप्त नहीं होता है, उपासकदशासूत्र में सामायिक का सामान्य स्वरूप ही उल्लिखित है।

सारांशत: श्वेताम्बर परम्परा में नमस्कारमंत्र, गुरुवन्दनसूत्र, ईर्यापथ आलोचना सूत्र, कायोत्सर्गआगार सूत्र, स्तुतिसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र, प्रणिपातसूत्र और समाप्तिसूत्र– ये सामायिक पाठ माने गए हैं। दिगम्बर परम्परा में पूर्वनिर्दिष्ट

सामायिक विधि के साथ-साथ आचार्य अमितगति विरचित बत्तीस श्लोकों का सामायिक पाठ भी प्रचलित है, जिसमें आत्मालोचना पूर्वक मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं मध्यस्थ भावनाओं का सुन्दर चित्रण उपस्थित किया गया है।

यदि विधि ग्रन्थों की दृष्टि से सामायिक ग्रहण एवं पारण विधि का तुलनात्मक विचार किया जाए, तो कुछ भिन्नताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं जैसे– तिलकाचार्यकृत सामाचारी में काष्ठासन और पादप्रोंछन का आदेश लेने के बाद ईर्यापथ प्रतिक्रमण करने का निर्देश है। सम्भवत: यह विधि वर्तमान की किसी भी परम्परा में मौजूद नहीं है।[183]

तिलकाचार्यकृत सामाचारी में स्वाध्याय के रूप में तीन नमस्कारमन्त्र बोलने का उल्लेख है, जबकि खरतरगच्छ की सामाचारी में आठ नमस्कारमन्त्र का स्वाध्याय करते हैं किन्तु तपागच्छ आदि परम्पराएँ तिलकाचार्य सामाचारी का अनुकरण करती हैं। इनमें स्वाध्याय रूप में तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण किया जाता है।[184]

शेष विधि नियम उपलब्ध ग्रन्थों में समरूप ही है।

उपसंहार

आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम सामायिक है। सामायिक के द्वारा न केवल मानसिक सन्तापों से शान्ति मिलती है अपितु इससे बाह्य और आभ्यन्तरिक नानाविध पीड़ाओं एवं आधिभौतिक, आधिदैविक, आधिदैहिक- समस्त प्रकार की बाधाओं का सहज रूप में उपशमन भी होता है। जन साधारण में मैत्री, करुणा और अहिंसारूप नवचेतना का प्राण फूँकने में सामायिक के समान विश्व में अन्य कोई भी अनुभवसिद्ध उपाय नहीं है।

सामायिक की साधना का मुख्य ध्येय 'आत्मवत सर्वभूतेषु'– इस सिद्धान्त को चरितार्थ करना है।

इस साधना के महत्त्व को व्यावहारिक तौर पर समझ पाना मुश्किल है। उसके लिए स्वानुभूत ज्ञान का सामर्थ्य चाहिए, अतएव इस साधना का महत्त्व एवं रहस्य भावनात्मक-बल, आध्यात्मिक-शक्ति और अनुभूति के स्तर पर ही जाना जा सकता है।

जैन धर्म यह कहता है– विश्व में समभाव से बढ़कर कोई साधना नहीं है। व्यक्ति समताभाव के आधार पर बड़े से बड़े दुश्मनों को पराजित कर सकता है।

इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का जीवन प्रत्यक्ष उदाहरण रूप है। जैन आगम साहित्य इस बात के साक्षी हैं कि सामायिक की उत्कृष्ट साधना करने वाला एक मुहूर्त्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन को उपलब्ध कर सकता है। यदि मुहूर्त्त भर के लिए भी सामायिक रूप समभाव का स्पर्श हो जाए, तो साधक सात-आठ भवों में ही संसार का अन्त कर सकता है– **'सत्तट्ठ भवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ'**।

मूलतः सामायिकव्रत से मुनि जीवन की शिक्षा का अभ्यास होता है। चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है, सर्वविरति चारित्र का उदय होता है, संसार के त्रस-स्थावर समस्त जीवों को उतने समय के लिए अभयदान मिलता है, अहिंसा–सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह आदि आवश्यक व्रतों का परिपालन होता है। इससे सुसंस्कारों का अभ्यास होता है। इस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे सन्मार्ग की ओर बढ़ता हुआ सिद्धत्व ज्योति को समुपलब्ध कर लेता है।

इस साधना की तुलना अन्य धर्मों की साधना पद्धति से भी की जा सकती है। जिस प्रकार सामायिकव्रत में पवित्र स्थान पर सम आसन से मन, वाक् और शरीर का संयम किया जाता है, उसी प्रकार गीता के अनुसार ध्यानयोग की साधना में भी शुद्धभूमि पर सम आसन में बैठकर शरीर चेष्टा और चित्तवृत्तियों का संयम किया जाता है।

इसमें सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत दृष्टि, सुख-दुःख, लौह-कांचन, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुति,मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य का परित्याग करने को नैतिक-जीवन का लक्षण माना गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं– 'हे अर्जुन! तू अनुकूल और प्रतिकूल-सभी स्थितियों में समभाव धारण कर'।[185] बौद्ध दर्शन में भी यह समत्ववृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है कि सभी प्रकार के पाप कार्यों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है।[186]

इस प्रकार जैन-साधना में वर्णित सामायिकव्रत की तुलना गीता के ध्यानयोग आदि की साधना एवं बौद्ध की उपदेश विधि के साथ की जा सकती है। इतना ही नहीं, वैदिक धर्मानुयायियों में सन्ध्या, मुसलमानों में नमाज, ईसाईयों में प्रार्थना, योगियों में प्राणायाम के समान ही जैन धर्म में सामायिक साधना अवश्यकरणीय है। इसमें चित्तविशुद्धि और समभाव की साधना की जाती है, जो वर्तमान युग में अधिक प्रासंगिक है। जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए यह व्रत-साधना दैनिक कृत्य के रूप में भी बतलाई गई हैं।

वर्णित अध्याय में सामायिक आवश्यक का विविधपक्षीय अध्ययन करते हुए विविध क्षेत्रों में उसकी उपयोगिता एवं प्रभावकता बताई गई है। इसके माध्यम से गृहस्थ वर्ग नित्य आचरणीय सामायिक आवश्यक से सम्यकप्रकारेण अवगत हो पाएं एवं उसकी तद्योग्य साधना कर पाएं इसी में द्वितीय अध्याय की सार्थकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *'सम्' एकीभाव वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिकम्।*

   सर्वार्थसिद्धि, 7/21 की टीका

2. *आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपण हेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकवस्थानम्।*

   तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/18 की टीका, पृ. 616

3. *सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः... प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्।*

   चारित्रसार, 19/1

4. *समम् एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्त्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः ...... सामायिकं।*

   गोम्मटसार-जीवकाण्ड, जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका, 367/789/10

5. *समो– रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः इण गतौ अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः– समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्।* *आवश्यक मलयगिरि टीका, पृ. 854*

6. *रागद्दोस विरहिओ समोत्ति, अयणं अयो त्ति गमणं ति।*
   समगमणं ति समवाओ, स एव सामायिकं नाम।।
   अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वावि।
   जं तप्पओयणं वा, तेण व सामाइयं नेयं।।
   अहवा समस्स आओ गुणाण, लाभो त्ति जो समाओ सो।
   अहवा समाणमाओ, नेओ सामाइयं नाम।।

   विशेषावश्यकभाष्य, 3477-3483

7. *उत्तराध्ययनसूत्र, 19/20*

8. सम्मत्त-नाण-संजम-तवेहिं, जं तं पसत्थ समागमणं।
समयं तु तं तु भणिदं, तमेव सामाइयं णाम॥
मूलाचार, गा. 519
9. जो जाणइ समवायं, दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं ते सिद्धं, सामाइयं उत्तमं जाणे॥
वही, गा. 522
10. जो समो सव्व भूदेसु, तसेसु थावरेसु य।
जस्स रागो य दोसो य, वियडिं ण जाणंति दु॥
वही, गा. 526
11. जीविद-मरणे लाभालाभे, संजोय-विप्पओगे य।
बंधुरि-सुह-दुक्खादिसु, समदा सामाइयं णाम॥
वही, गा. 23
12. (क) धवला टीका, 8/3, 41/84/1
(ख) अमितगति श्रावकाचार, 8/31
13. सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वम् – भावपाहुड टीका, 77/221/13
14. यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे, रागद्वेषव्यपोहनम्।
आत्मतत्त्व निविष्टस्य, तत्सामायिकमुच्यते॥
योगसार प्राभृत, 5/47
15. (क) नियमसार, 147, 125
(ख) राजवार्तिक, 6/24, पृ. 530
16. अनगार धर्मामृत, 8/20
17. कषाय पाहुड, 1/1, 1-81/98/5
18. नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं वा सामायिकमित्यर्थः।
गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका, 367/789/12
19. समत्वं योग उच्यते। गीता, 2/48
20. भगवतीसूत्र, 1/9
21. जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इ इ केवलि भासियं॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 797
(ख) अनुयोगद्वार, सू. 599
(ग) नियमसार, 127

22. सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो सु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो, आया समाइयं होइ।।
आवश्यकभाष्य, 149

23. सम्मदिट्ठि अमोहो, सोही सब्भाव दंसणं बोही।
अविवज्जओ सुदिट्ठि त्ति, एवमाई निरूत्ताइं।।
आवश्यनिर्युक्ति, 861

24. अक्खर सण्णी सम्मं, सादीयं खलु सपज्जवसितं च।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एते सपडिवक्खा।।
वही, 862

25. विरयाविरइ संवुडमसंवुडे बालपंडिए चेव।
देसेक्कदेस विरती, अणुधम्मोऽगारधम्मो य।।
वही, 863

26. सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समास संखेवो।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठ।।
दमदंते मेयज्जे, कालयपुच्छा चिलाय अत्तेय।
धम्मरूइ इला तेयलि, सामाइए अट्ठुदाहरणा।।
वही, 864-865

27. आवश्यकनिर्युक्ति, 796

28. तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्य भाव भेदेन।
भगवती आराधना, गा. 118 की विजयोदयाटीका, पृ. 153

29. सामाइयं चउव्विहं, दव्व सामाइयं खेत्तसामाइयं कालसामाइयं, भावसामाइयं चेदि.... भावसामाइयं णाम। कषायपाहुड, 1/1-1/81/97/4

30. (क) अनगार धर्मामृत, 8/19
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 367/789/13

31. अनगार धर्मामृत, 8/21

32. वही, 8/19 की टीका

33. वही, 8/22

34. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, 367, पृ. 613

35. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा.4, पृ. 416

36. अनगार धर्मामृत, 8/23

37. *कषायपाहुड, 1/1-1/81/97/4*
38. *अनगार धर्मामृत, 8/26 की टीका*
39. *निज्जुत्तितिविकप्पा, णासो वग्घातसुत्त वक्खाणं।*
विशेषावश्यकभाष्य, 967 की टीका
40. *निज्जुत्ती वक्खाणं, निक्खेवो नासमेत्तं तु। वही, 965 की टीका*
41. *आवश्यकनिर्युक्ति, 140-141*
42. *अणुओगदाराइं, 714*
43. *आवश्यकनिर्युक्ति, संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा, भा.1 - भूमिका पृ. 28-32*
44. *वस्तुनः सामान्यभिधानमुद्देशः। विशेषावश्यकभाष्य, पृ. 319*
45. *निर्देशनं वस्तुन एव विशेषाभिधानं निर्देशः।*
वही, पृ. 319
46. *आवश्यकनिर्युक्ति, 734*
47. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 514, मलधारी हेमचन्द्रटीका, पृ. 539*
48. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 2710*
49. *वही, गा. 2709*
50. *वही, गा. 3382*
51. *आवश्यकनिर्युक्ति, 742-745*
52. *वही, 750*
53. *विशेषावश्यकभाष्य, 2635, 2636*
54. *वही, 3391-3394*
55. *वही, 3361, 3362*
56. *वही, 3592*
57. *आवश्यकनिर्युक्ति, 792*
58. *वही, 796*
59. *(क) वही, 797-798*
(ख) मूलाचार 525-526
60. *विशेषावश्यक भाष्य, 3410-3411*
61. *आवश्यकनिर्युक्ति, 807*
62. *वही, 808*

63. विशेषावश्यकभाष्य, 3385-3386
64. वही, 3417, टीका पृ. 649
65. आवश्यकनिर्युक्ति, 849
66. विशेषावश्यकभाष्य, 2762-2763
67. आवश्यकनिर्युक्ति, 850-851 – वही, 853
69. विशेषावश्यकभाष्य, 2775-2776 की मलधारी टीका, पृ. 172
70. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 855 की हारिभद्रीय टीका पृ. 242
71. वही, 854 हारिभद्रीय टीका, पृ. 241-242
72. वही, 856, हारिभद्रीय टीका, पृ. 242
73. विशेषावश्यकभाष्य, 2780-2781 की मलधारी टीका
74. आवश्यकनिर्युक्ति, 856
75. वही, 860
76. वही, 861-864
77. विशेषावश्यकभाष्य, 2728-2729
78. आवश्यकनिर्युक्ति, 105-106
79. वही, 813
80. विशेषावश्यकभाष्य, 2713
81. आवश्यकनिर्युक्ति, 815
82. विशेषावश्यकभाष्य, 2718
83. वही, 2727
84. आवश्यकनिर्युक्ति, 812
85. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9/18, पृ. 616
86. वही, 9/18, 616
87. सागार धर्मामृत, 7/1
88. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 4, पृ. 419
89. अहवा तब्भेय च्चिय सेसा, जं दंसणाइयं तिविहं।
न गुणो य नाण-दंसण, चरमब्भहिओ जओणत्थि ।।
विशेषावश्यकभाष्य, 906 की टीका
90. सामाइयं संखेवो, चोद्दसपुव्वत्थपिंडोत्ति। वही, 2797

91. *निरवद्यमिदं ज्ञेय-मेकान्तेनैव तत्त्वत: ।*
कुशलाशयरूपत्वात्सर्वयोग-विशुद्धित: ।।
अष्टकप्रकरण, 29/2

92. *सामायिकविशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मण: ।*
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ।।
वही, 30/1

93. *सेयम्बरो वा आसम्बरो वा, बुद्धो वा तहेव अन्नो वा ।*
समभाव भावियप्पा, लहेइ मुक्खं न संदेहो ।।
सम्बोधसप्ततिका, गा. 2

94. *योगशास्त्र, 4/114*

95. *समभावलक्खणं सव्वचरणादिगुणाधारं वोमं पिव सव्व दव्वाणं सव्वविसेसलद्धीण य हेतुभूतं पायं पाव अंकुसदाणं।*
(क) अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ. 18
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, 905

96. *योगशास्त्र, 4/49-53*

97. *समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए–*
(क) आचारांगसूत्र, 1/5/3/157
(ख) प्रश्नव्याकरण, 2/4

98. *सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूत सामायिकसूत्रवत् ।* *तत्त्वार्थवृत्ति, 9-9*

99. *आदिमंगलं सामाइयज्झयणं...सव्वमंगलं निहाणं निव्वाणं ।*
पाविहिति त्ति काऊण, सामाइयज्झयणं मंगलं भवति ।।
आवश्यकचूर्णि, भा.1, पृ. 3

100. *सामाइयम्हि दु कदे समणो, इर सावओ हवदि जम्हा ।*
एदेण कारणेणदु, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।
मूलाचार, गा. 534

101. *धवला टीका, 1/1/123, पृ. 371-372*

102. *सामायिके सारम्भा: परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावं।* *रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 102*

103. *सर्वार्थसिद्धि, 7/21, पृ. 279*

104. सामायिक श्रितानां समस्त, सावद्ययोग परिहारात।
भवति महाव्रतमेषा, मुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥
पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 150

105. चारित्रसार, 19/4

106. सर्वार्थसिद्धि, 7/21, पृ. 279

107. अनगारधर्मामृत, 8/36 की टीका

108. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 71

109. मूलाचार, 535

110. वही, 537

111. ज्ञानार्णव, 24/1-30

112. सामायिकसूत्र, उपाध्याय अमरमुनि, पृ. 25

113. सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ।
वही, पृ. 26

114. आवश्यकनिर्युक्ति, 271

115. दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥
सम्बोधसत्तरि, गा. 24

116. तिव्वतवं तवमाणो, जं न निट्ठवइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्ते, खवेइ कम्मं खणद्वेण॥

117. जे केवि गया मोक्खं, जेवि य गच्छंति।
जे गमिस्संति ते सव्वे, सामाइय पभीवेण मुणेयव्वं॥

118. अनगार धर्मामृत, 8/36

119. रत्नसंचयप्रकरण, गा. 195

120. अविवेकजसोकित्ती, लाभत्थी गव्वभय नियाणत्थी।
संसयरोस अविणओ, अवहु माणए दोसा भणियव्वा॥
सामायिकसूत्र, संपा. अमरमुनि, पृ. 57

121. कुवयण सहसाकारे, सच्छंद संखेय कलहं च।
विगहा विहासोक्सुद्धं, निखेक्खो मुणमुणा दस दो॥
वही, पृ. 61

122. कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी, सावज्ज किरिया लंबणाकुंसण पसारणं।
आलस मोडन मल विमासणं, निद्दा वेयावच्चत्ति बारस कायदोसा ॥
वही, पृ. 63

123. रत्नसंचयप्रकरण, गा. 193-197

124. सामायिक एक समाधि, पृ. 48

125. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3410

126. अनुयोगद्वार, 1/2/708

127. केण कयं ति य ववहारओ, जिणिंदेण गणहरेहिं च।
तस्सामिणा उ निच्छय, नयस्स तत्तो जओऽणन्नं ॥
विशेषावश्यकभाष्य, 3382

128. मूलाचार, 535

129. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 104

130. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 23, पृ. 3

131. आवश्यकनिर्युक्ति, 812

132. वही, 799

133. प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 578-80

134. चारित्रं स्थिरतारूपं, अतः सिद्धेष्वपीष्यते। ज्ञानसार, 3/8

135. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 294

136. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 352

137. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 4, पृ. 418

138. पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा।
जाए जिणादओ वा, दिसाइ जिणचेइयाइं वा ॥
विशेषावश्यकभाष्य, 3406

139. सामायिकसूत्र, अमरमुनि पृ. 91

140. वही, पृ. 92-93

141. प्राची हि देवानां दिक् योदीची दिक् सा मनुष्याणाम्।
शतपथब्राह्मण-दिशा वर्णन

142. आवश्यकनिर्युक्ति, 1477

143. *त्यक्तार्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः ।*
मुहूर्त्तं समता या तां, विदुःसामायिक व्रतम् ।।
योगशास्त्र, 3/82

144. *इह सावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य मुहूर्त्तमानतासिद्धान्तेऽनुक्ताऽपि ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानकालस्य जघन्यतोऽपि मुहूर्त्तमात्रत्वान्नमस्कारसहित-प्रत्याख्यानवदिति। आत्मप्रबोध-द्वितीय प्रकाश, पृ. 184*

145. *सामायिकसूत्र, पृ. 86-87*

146. *पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 149*

147. *कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 354*

148. *बोधामृतसार, 492*

149. *सामायिकसूत्र, पृ. 78-79*

150. *भगवतीसूत्र, 25/7*

151. *भगवई-2 (अंगसुत्ताणि), 1/423-426*

152. *तएणं से मेहे अणगारे समणस्स भगवाओ महावीरस्स 'तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ'।*
नायाधम्मकहाओ, 1/195

153. *तथारूप– यह स्थविरों का विशेषण है। तथारूप का अर्थ है– श्रमणचर्या के अनुरूप वेशवाला।*

154. *ग्यारह अंगों में आचारांग पहला अंग है, किन्तु आगम ग्रन्थों में प्रायः 'आचार माइयाइं एक्कारस अंगाइं' का ही उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान होता है कि सामायिक आचारांग का ही दूसरा नाम है।*

155. *उपासकदशा, अंगसुत्ताणि, 1/45*

156. *अन्तकृत्दशा, अंगसुत्ताणि, 1/1/21,6/96, 3/13, 8/16*

157. *विपाकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/6*

158. *आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 545-560*

159. *वही, संपा. कुसुमप्रज्ञा, प्रस्तावना, पृ. 44*

160. *तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 15*

161. *विधिमार्गप्रपा. पृ. 6*

162. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 18*

163. *विधिमार्गप्रपा–सानुवाद, पृ. 19*

164. *श्रावकपंचप्रतिक्रमणसूत्र, पृ. 28-35, 50-52*
165. *पंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय), पृ. 28-35*
166. *'पंचिंदियसूत्र' यह है–*

पंचिंदियसंवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्तिधरो,
चउविहकसायमुक्को, ईअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ।।1।।
पंचमहवयजुतो, पंचविहायारपालण समत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मज्झ ।।2।।

167. *'जीवराशि क्षमापना पाठ' निम्न है–*

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय,चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख बेइन्द्रिय, दो लाख तेइन्द्रिय, दो लाख चउरिंद्रिय चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य एवं चार गतिना चौरासी लाख जीवाजोनी मां म्हारे जीवे जे कोई जीव हण्यो होय हणाव्यो होय हणतां प्रत्येक अनुमोद्यो होय ते सव्वे हुं मन वचन काया करी तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

168. *'द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का पाठ' इस प्रकार है–*

द्रव्यथकी लूगडां, लतां, घरेणां, गाढां, पाथरणुं, नवकारवाली, धार्या प्रमाणे मोकला छे. क्षेत्रथकी उपासराना (आ जग्याना) बारणानी मांहेली कोरे कारणे जयणा छे, कालथकी सामायिक निपजे तिहां सुधी, भावथकी यथाशक्तिये रागद्वेषे रहित व्रती संघाते बोलवानो आगार छे, अव्रती संघाते बोलवानुं पच्चक्खाण छे अथवा जयणा छे. अ रीत छ कोटीअे करी सामायिक करूं, सामायिकव्रत उच्चार करवा उभा थईने अेनक नवकार गणुंजो ।।

169. *अचलगच्छ की परम्परानुसार सामायिक पारने का पाठ यह है–*

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाया य भासियं पावं ।
काअेणवि दुट्ठुकयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ।।1।।
सव्वे जीवा कम्मवस, चउदह रज्ज भमंत ।।
ते मे सव्व खमाविया, मुज्ज वि तेह खमंत ।।2।।
खमी खमावी म खमी, छव्विह जीव निकाय ।
शुद्ध मने आलोवतां, मुज मन वेर न थाय ।।3।।
दिवसे दिवसे लक्खं, देई सुवन्नस्स खंडिअं एगो ।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स ।।4।।

कुणे पमाए बोलिउ, हुई विरूई बुद्धि।
जिणसासण मे बोलीउ, मिच्छामि दुक्कडं शुद्धि ।।5।।

समाइअ वयजुत्तो, जावमणे होई नियमसंजुत्तो।
छिन्नई असुहंकम्मं, सामाइय जत्तिआवारा ।।6।।

सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।7।।

सामायिक व्रत फासिअं, पालिअं, पूरियं, तीरियं, कित्तिअं आहारिअं, विधि लीधु, विधि कीधु, विधि पाल्यु, विधि करता कोई अविधि, आशातना हुई होय, ते सवि हुं मने, वचने कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं ।।1।।

पाटी, पोथी, कवली, ठवणी, नवकारवाली, कागले पग लगाड्यो होय, गुरु ने आसने, वेसणे, उपगरणे पग लगाडयो होय, ज्ञानद्रव्यतणी आशातना थई होय, ते सविहुं मने, वचने, कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं। अढीद्वीप ने विषे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका जे कोई प्रभु श्रीवीतरागदेवजी आज्ञापाले, पलावे, भणे, भणावे, अनुमोदे, तेहनेमारी त्रिकाल वंदना होजो, सीमंधर प्रमुख बीस विहरमान जिनने मारी त्रिकाल वंदना होजो, अतीत चोवीशी, अनागत चोवीशी, वर्तमान चोवीशी ने मारी त्रिकाल वंदना होजो, ऋषभानन, चंद्रानन, वर्द्धमान, वारिषेण, ए चार शाश्वंता जिनने मारी त्रिकाल वंदना होजो, दश मनना, दश वचनना, बार कायाना ए बत्रीश दोषो मांहेलो सामायिक व्रतमांहे जिको कोई दोष लाग्यो होय, ते सवि हुं मने, वचने, कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं ।। तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं। तं तं धम्मसव्वफलं मम होई, साचानी सद्दहणा, जुठानुं मिच्छामि दुक्कडं।। सर्व मंगल मांगल्यं, सर्व कल्याणकारणं। प्रधानं सर्वधर्माणां, जैन जयति शासनं ।।

170. *पंचप्रतिक्रमण सूत्र विधि सहित (श्री पार्श्वचन्द्रगच्छीय), पृ. 1-9, 56-64*
171. *सामायिक सूत्र (त्रिस्तुतिकगच्छीय), पृ. 2-10*
172. *सामायिक सूत्र (स्थानकवासी), पृ. 18-21*
173. *स्थानकवासी-परम्परा में सामायिक पारते समय निम्न पाठ बोला जाता है–*
नवमा सामायिक व्रत ना पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोऊं सामायिक में मन वचन काया ना योग पाडुवा ध्यान प्रवर्त्तण्या होय, सामायिक में समता न कीधी होय, अणपूगी पारी होय, नवमा सामायिक व्रत में जे कोई अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार आणाचार जाणतां अजाणतां पाप दोष लाग्यो होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।।

सामायिक में दस मन का, दस वचन का, बारह काया का बत्तीस दोषां मांहेलो कोई दोष लग्यो होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।।

सामायिक पारने के बाद निम्नोक्त पाठ बोला जाता है–

फासियं, पालियं, सोहियं, तिरियं, किट्टियं, अणुपालियं, आणाए, आराहियं, न भवइ इण आठ पच्चक्खाण सहित सामायिक नहीं पाली होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।।

174. सचित्रश्रावकप्रतिक्रमण (तेरापंथी)

175. श्रावकचर्या (दिगम्बर), पृ. 238-44

176. आवर्त्त-प्रशस्तयोग को एक अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम आवर्त्त है। आवर्त्त बारह होते हैं। सामायिकदण्ड के आरम्भ और समाप्ति में तीन-तीन, इसी तरह चतुर्विंशतिस्तवदण्डक के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन कुल बारह आवर्त्त होते हैं।

177. शिरोनति-सिर झुकाने की क्रिया शिरोनति कहलाती है।

178. कृतिकर्म क्रिया चारों दिशाओं में की जाती है। उसकी विधि यह है– पूर्व दिशा की ओर मुख करके नौ बार नमस्कारमन्त्र का जाप करना, फिर पूर्व दिशा और आग्नेय (कोण) दिशा में स्थित 1. अरिहन्त 2. सिद्ध 3. केवलिजिन 4. आचार्य 5. उपाध्याय 6. साधु 7. जिनधर्म 8. जिनागम 9. जिनप्रतिमा 10. जिनचैत्य को मैं वन्दना करता हूँ– ऐसा बोलना। यह पूर्व दिशा का कृतिकर्म हुआ। शेष दिशाओं-विदिशाओं में भी इसी प्रकार की क्रिया करना कृतिकर्म कहलाता है।
श्रावकचर्या, पृ. 240

179. भंते इति गुरोरामन्त्रणम् –योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, प्रकाश-3

180. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3439, 3449

181. श्रीश्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र, प्रबोधटीका भा.1, पृ. 208-238

182. सामायिकसूत्र पर आधारित, पृ. 95-97

183. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 15

184. वही, पृ. 15

185. गीता, 6/33, 2/48

186. धम्मपद, राहुल सांस्कृत्यायन, 14/7

●

अध्याय-3

चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का तात्त्विक विवेचन

षडावश्यक में चतुर्विंशतिस्तव का दूसरा स्थान है। चौबीस तीर्थंकरों का नामोच्चारण पूर्वक गुणोत्कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव कहा जाता है। मूलत: यह भक्ति प्रधान आवश्यक है। इस आवश्यक में उन महापुरुषों का गुणगान या प्रशंसा की गई है, जिन्होंने रागादि कषाय एवं कामादि विषय रूप आत्म शत्रुओं का नाश करके अपनी आत्मा को उज्ज्वल और प्रकाशमान बनाया है।

प्रत्येक आत्मार्थी का अन्तिम लक्ष्य सिद्धत्व पद की उपलब्धि है अत: उसकी संप्राप्ति के लिए ऐसे महापुरुषों का आलम्बन आवश्यक है, जिन्होंने उस लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। पूर्णज्ञानी एवं परिपूर्ण जीवन ही अपूर्ण को पूर्ण बना सकता है। क्योंकि जो स्वयं अपूर्ण हो उससे दूसरे के पूर्णता प्राप्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। हम संसारी प्राणी अजरामर सुख को उपलब्ध कर सकें, इसी उद्देश्य से यह आवश्यक कहा गया है। इस स्तव के माध्यम से आत्मा में परमात्म स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है और अन्तत: वह प्रयत्न पूर्णता को भी प्राप्त करता है।

चतुर्विंशतिस्तव का अर्थ एवं परिभाषाएँ

चतुर्विंशति+स्तव– इन दो पदों के योग से चतुर्विंशतिस्तव शब्द निर्मित है। इसका शाब्दिक अर्थ है– चौबीस तीर्थंकर भगवान की स्तुति करना।

अनुयोगद्वार में इसका दूसरा नाम उत्कीर्तनसूत्र है। आम बोलचाल की भाषा में इसको 'लोगस्स सूत्र' भी कहते हैं। उत्कीर्तन का सामान्य अर्थ होता है– गुणगान या प्रशंसा। स्पष्टार्थ है कि जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, धर्म तीर्थ स्थापक, त्याग-वैराग्य और संयम-साधना में उत्कृष्ट आदर्श रूप हैं, आत्म स्थित हैं ऐसे चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना, गुणगान करना या उनके गुणों का कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

लोगस्ससूत्र का आध्यात्मिक पक्ष है– आत्म स्वभाव को प्रकट करना

अथवा सच्चिदानन्द स्वरूपी आत्मा का साक्षात्कार करना। यदि प्रस्तुत सूत्र आत्मसात हो जाये तो हमारा अनादिकालीन विभाव रूप परिणाम तत्क्षण स्वभाव में रूपान्तरित हो सकता है। लोगस्स का लाक्षणिक अर्थ है– विश्व की समग्रता को उपलब्ध कर लेना। यह वैश्विक समग्रता का सूत्र है। यहाँ समग्रता का अभिप्राय चेतना के अस्तित्व का साक्षी सूत्र है। यह ऐसा प्रशस्त साधन है जिसके प्रयोग द्वारा साधक स्वयं साध्य बन जाता है।[1]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में इस आवश्यक को समान रूप से स्वीकार किया गया है। पंडित आशाधरजी ने भी अर्हत, केवली, जिन, लोक उद्योतकर और धर्म तीर्थ के प्रवर्त्तक ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों का भक्तिपूर्वक स्तवन करने को चतुर्विंशतिस्तव कहा है।[2]

निष्कर्ष रूप में कहें तो आत्मस्वरूप को उजागर करने के लिए राग-द्वेष विजेता और तीर्थंकर पद से सुशोभित अरिहंत परमात्मा का अहोभाव एवं उपकार बुद्धि पूर्वक गुणगान करना, प्रशंसा करना एवं उनकी स्तवना करना चतुर्विंशतिस्तव है और यही आवश्यक रूप कहलाता है।

चतुर्विंशतिस्तव के पर्यायवाची

जैन परम्परामूलक साहित्य में चतुर्विंशतिस्तव के कई पर्यायवाची नाम प्राकृत में मिलते हैं। श्री श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र की प्रबोध टीका में इस विषयक सम्यक जानकारी दी गई है, जो आंशिक परिवर्तन के साथ इस प्रकार है[3]–

प्राकृत नाम	सन्दर्भ ग्रन्थ
1. चउवीसत्थय–चतुर्विंशस्तव	• महानिशीथसूत्र • उत्तराध्ययनसूत्र, 29वाँ अध्ययन • अनुयोगद्वार, सूत्र 74 • चैत्यवंदन महाभाष्य, गा. 539 • पाक्षिक सूत्र वृत्ति, पत्र 72 आ
2. चउवीसत्थय (दंड)	• योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण पत्र 248 आ
3. चउवीसत्थव–चतुर्विंशस्तव	• नंदीसूत्र, सूत्र 79 मधुकरमुनि
4. चउवीसइत्थय-चतुर्विंशइस्तव	• आवश्यक निर्युक्ति, गा. 1069

5. चउवीस जिणत्थय–चतुर्विंशजिनस्तव	• चैत्यवंदन महाभाष्य, गा. 389
6. उज्जोअ-उद्योत	• योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण, पत्र 248 आ
7. उज्जोअगर-उद्योतकर	• योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण, पत्र 248 आ
8. उज्जोयगर-उद्योतकर	• विधिमार्गप्रपा, पृ. 7
	• पाक्षिकसूत्रवृत्ति, पत्र 72 अ
9. नामथय-नामस्तव	• देववंदन भाष्य
10. नामजिणत्थय–नामजिनस्तव	• धर्मसंग्रह, पत्र 158 अ

संस्कृत नाम

11. चतर्विंशतिस्तव	• आचारांगसूत्र टीका, पत्र 75 आ
	• उत्तराध्ययनसूत्र टीका, पत्र 504
	• अनुयोगद्वार टीका, पत्र 44 आ
	• ललित विस्तरा, पृ. 42
	• योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण, पत्र 224
	• वृंदारूवृत्ति, पृ. 40 आ
	• देववन्दन भाष्य, पृ. 320
	• धर्मसंग्रह, पत्र 158 अ
12. चतुर्विंशति जिनस्तव	• देववंदन भाष्य, पृ. 327
13. नामस्तव	• देववंदन भाष्य, पृ. 321

क्वचित ग्रन्थों में इन नामों में से दो-तीन नाम युगपद भी मिलते हैं जैसे– विधिमार्गप्रपा, योगशास्त्रटीका आदि में उज्जोअगर, उज्जोयगर, चउवीसत्थय, नामथय आदि एकार्थवाची नामों का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

चतुर्विंशतिस्तव का प्रतीकात्मक अर्थ

चतुर्विंशतिस्तव सात गाथाओं में निबद्ध है। इसकी गाथा संख्या सात का प्रतीकात्मक रहस्य यह है कि हम जिस लोक में स्थित हैं वह चौदह रज्जू

परिमाण वाला और तीन भागों में विभक्त है– 1. ऊर्ध्वलोक 2. मध्यलोक और 3. अधोलोक।

हम मध्यलोक में रहते हैं। क्षेत्र परिणाम की दृष्टि से ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक की अपेक्षा सात रज्जू से थोड़ा कम है और अधोलोक सात रज्जू से थोड़ा अधिक है। इस प्रकार मध्यलोक नौ सो योजन परिमाण में अवस्थित है। इसका तात्पर्य यह है कि हम सात सोपान अर्थात सात रज्जू परिमाण अधोलोक को पार करके, एक बहुत बड़ी यात्रा सम्पन्न कर मध्यलोक तक पहुँच गये हैं। यह तीर्थंकर परमात्मा के उत्कीर्त्तन अथवा गुण स्मरण का ही महाप्रसाद है कि हम अर्धयात्रा सम्पन्न कर सके। यह सुफल हमारे महाप्रयास का नहीं, अपितु परमात्मा के महाप्रसाद का है। सिद्धान्ततः जब एक जीव सिद्ध गति को प्राप्त करता है तभी हमारी विकास यात्रा का प्रारम्भ होता है यानी अव्यवहार राशि में रहा हुआ जीव व्यवहार राशि में प्रवेश करता है। प्रत्येक जीव विकास यात्रा से पूर्व अव्यवहार राशि में रहता है जहाँ प्रतिक्षण जन्म-मृत्यु का क्रम चलता रहता है। यहाँ सम्यक बोध का कोई अवसर उपलब्ध नहीं होता है। विकास यात्रा का प्रथम सोपान व्यवहार राशि है अतः इस पर्याय में जन्म होना हमारे जीवन विकास का प्रारम्भ है। इस तरह तीर्थंकर भगवान भव्य जीवों के लिए परम उपकारक होने से निःसन्देह स्मरणीय है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो हमारे शरीर में सात चक्र हैं, वे अध्यात्म साधना के बल पर अनावृत्त होकर आत्मा को सिद्ध पद तक पहुँचाने में परम निमित्त बनते हैं।

संगीत शास्त्र का उद्भव सात अक्षरों के संयोग से हुआ है। इसे मानवीय ब्रह्मविद्या कहा गया है। साध्वी दिव्यप्रभाजी के मौलिक चिन्तन के आधार पर इसमें मानवीय चेतना के विकास के स्वर स्पष्टतया मौजूद हैं। यह लय का विज्ञान है। सकल सृष्टि लयबद्ध है। लौकिक दृष्टिकोण से समग्र भारतवर्ष हिमालय पर्वत और मलय पर्वत की लय-लीला में आबद्ध है। हिमालय योग प्रधान और मलय भोग प्रधान पर्वत माना जाता है। दोनों में लयबद्धता आवश्यक है। लय टूटती है तब प्रलय होता है। हमारा हृदय, मस्तिष्क, उदर आदि अंग भी लय से योजित है। यदि हृदय की लय टूटती है तो बाईपास सर्जरी होती है, मस्तिष्क की लय टूटती है तो क्रोध, भय, चिड़चिड़ापन,

विस्मृति आदि होती है, उदर की लय टूटती है तो अजीर्ण, गैस, पाचन शक्ति में मन्दता, आलस्य, निद्रा आदि विकार उत्पन्न होते हैं। जब सृष्टि की लय टूटती है तब प्रकृति में प्रलय होता है। यदि साधना क्षेत्र में लय जुड़े तो आत्मतत्त्व का परमात्म सत्ता में विलय हो सकता है। सात स्वर लय बनाते हैं और उससे उत्पन्न संगीत परिणाम प्रकट करता है जैसे मल्हार राग गाने से वर्षा होना, दीपक राग गाने से दीपक का जलना आदि। इस तरह प्रत्येक स्वर में चेतनात्मक विकास का प्रतीकात्मक रहस्य सन्निविष्ट हैं।

इसी तरह गुणस्थान आरोहण में सात श्रेणी होती है, सूर्य की सात किरणें विशेष प्रकाश देती हैं, रात्रि में आकाश गंगा में सप्तर्षि के नक्षत्र ही चमकते हैं, काल व्यवस्था की दृष्टि से सात वार होते हैं, प्रतिदिन के शुभ कार्यों के लिए सात चौघड़िये होते हैं, इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं। अस्तु, मानव-मात्र के आरोह-अवरोह में निमित्त भूत सप्त संख्यक अनेक पदार्थ हैं।

चतुर्विंशतिस्तव के प्रकार

चतुर्विंशतिस्तव भक्ति प्रधान साधना का अनुपम स्तोत्र है। इस आवश्यक का सम्यक् परिपालन कर सकें, एतदर्थ इसके प्रकारों का ज्ञान होना जरूरी है। चैत्यवन्दन भाष्य में चार प्रकार के जिन (तीर्थंकर) बतलाये गये हैं– 1. नाम जिन 2. स्थापना जिन 3. द्रव्य जिन और 4. भाव जिन। ये भेद निक्षेप यानी अर्थव्यवस्था के अनुसार हैं अतः इन्हें क्रमशः नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप कह सकते हैं।[4]

1. नाम निक्षेप– पाँच भरत और पाँच ऐरवत क्षेत्र में होने वाली अतीत, वर्तमान और अनागत काल की तीस चौवीशी में अथवा महाविदेह क्षेत्र में होने वाले तीर्थंकर देवों में अरिहंत नाम का एक भी तीर्थंकर नहीं हुआ है कि जिसके आधार पर या जिसको लक्षित करके अरिहंत नाम की आराधना की जाये। वस्तुतः इस आवश्यक में अरिहंतपद की आराधना है और वह किसी आप्त विशेष को लेकर नहीं है, परन्तु सर्व क्षेत्र और सर्व काल में होने वाले सभी तीर्थंकरों के अरिहंत गुण की अपेक्षा से है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है कि अद्वितीय सामर्थ्यवान अरिहंत गुणों को लक्षित करके उनका ध्यान करना चाहिए और ध्यान के समय अरिहंत देवों के नाम ऋषभ, अजित, संभव आदि की द्रव्य और भाव आकृति का चिन्तन करना

चाहिए। इस प्रकार अरिहंत पद की आराधना अरिहंत गुण स्वरूपी समस्त जीवों की आराधना होने से समष्टि प्रधान है।

अरिहंत परमात्मा के नामों में 'उसभ' आदि की वर्ण व्यवस्था निर्णीत अनुक्रमयुत और अर्थ प्रधान हैं अतः ये नाम वाचक हैं, वाच्य नहीं। वर्णानुक्रम से नियोजित अर्थवान अक्षर समूह को नाम कहा जाता है। नाम दो प्रकार के होते हैं– यादृच्छिक और गुणनिष्पन्न। अरिहंत भगवान के नाम गुण निष्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पुण्यवर्द्धक नाम स्वाभाविक शक्ति द्वारा वाच्यार्थ का बोध करवाते हैं।[5]

यहाँ प्रश्न होता है कि नाम तो मात्र शब्द पुद्‌गलों का समूह हैं तब उसके स्मरण से आत्मा का किस प्रकार उपकार होता है? उसका समाधान है कि नाम नामी (व्यक्ति) के गुणों की स्मृति दिलाता है, उनके गुणों के प्रति बहुमान पैदा करता है अतः नाम स्मरण फलदायक है। राजप्रश्नीयसूत्र में कहा गया है कि देवानुप्रिय, ज्ञान-दर्शनादि गुणों को धारण करने वाले अरिहंत भगवन्तों के नाम-गोत्र[6] का श्रवण भी महाफलदायक है।[7] भक्तामरस्तोत्र में भी कहा गया है कि तीर्थंकर पुरुषों का नाम परम पवित्र और मंगलमय है। इन नामों का यथाविधि जाप किया जाये तो समस्त दुःख, समस्त पाप, सर्व प्रकार की अशान्ति अथवा सर्व प्रकार के अन्तराय दूर हो जाते हैं।[8] प्रभु के नाम स्मरण से शुभ का प्रवर्त्तन होता है।[9] तात्पर्य है कि तीर्थंकर भगवान के नाम स्मरण से सभी तरह के दुःख दूर होते हैं तथा इच्छित सुख के साधन स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं।[10] इतना ही नहीं, तीर्थंकर भगवान के नाम का एक पद भी सम्यक् रूप से आत्मसात कर लिया जाये तो आत्मा स्वयं तीर्थंकर बन जाती है।[11]

नाम स्मरण गुणसम्पन्न और कल्याणकारी उपासना है अतः इसे भक्ति का प्रधान अंग माना गया है और कहा गया है कि भागवती भक्ति परम आनंद और संपदाओं का बीज है।[12]

नाम स्मरण का अद्‌भुत प्रभाव तभी संभव है जब वह स्मरण अर्थ के उपयोग पूर्वक और गुणानुराग से युक्त हो। उपयोग और भाव के बिना किया गया स्मरण अभीष्ट फलदान में समर्थ नहीं होता है। यहाँ प्रसंगानुरूप दो शंकाएँ उपस्थित होती है–

चौबीस तीर्थंकर किसी भी क्षेत्र में और किसी भी काल में एकत्रित नहीं

होते हैं। एक क्षेत्र में और एक काल में एक ही तीर्थंकर होते हैं, तब आराधक के हृदय क्षेत्र में, उनके नामस्मरण द्वारा एक ही समय में उन्हें एकत्रित करने का फल किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? इसका समाधान यह है कि एक तीर्थंकर भगवान में जो श्रेष्ठ और उत्तमोत्तम गुण होते हैं, वे गुणादि चौबीस तीर्थंकरों में भी होते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि एक तीर्थंकर देव की पूजा करने से सभी तीर्थंकर देवों की पूजा हो जाती है। आचार्य हेमचन्द्र सकलार्हत स्तोत्र के प्रथम श्लोक में पूर्ववत आर्हन्त्य-गुण के ध्यान में लीन होने का निर्देश करते हैं।

उपर्युक्त तीन कारणों से स्पष्ट होता है कि एक तीर्थंकर भगवान के नाम ग्रहण से जितना लाभ होता है, चौबीस तीर्थंकरों के नाम स्मरण से भी उतना ही फल प्राप्त होता है। तब पुनः शंका होती है कि चौबीस तीर्थंकर के नामोच्चारण पूर्वक स्तवन करने की क्या आवश्यकता है?

उक्त दोनों शंकाओं का निराकरण यह है कि स्वरूपतः चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के गुण एक समान है। सभी समान रूप से स्तुति के योग्य हैं फिर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भिन्न है। इसलिए प्रत्येक तीर्थंकर के नाम स्मरण द्वारा आत्मभावों के उल्लास में जो अभिवृद्धि होती है और उसके द्वारा प्रगाढ़ कर्मों का क्षय होता है वह अपूर्व होता है। यह तथ्य अनुभव और शास्त्रों से सिद्ध है।[13]

यदि नाम और नामी में सम्बन्ध न माना जाये तो 'उसभ मजिअं च वंदे' कहने पर भाषा वर्गणा के पुद्‌गल अचेतन होने से उनका प्रयोग निरर्थक हो जायेगा, परंतु ऐसा होता नहीं है क्योंकि कोई भी नाम ग्रहण करते समय उस नाम से वाच्य व्यक्ति अथवा उसका स्वरूप मानस चित्र पर अवश्य प्रकट होता है, इससे नाम और नामी के अभेद सम्बन्ध का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। नाम के उच्चारण के साथ में नामी की उपस्थिति का अनुभव हो जाये तो मानना चाहिए कि नामाभ्यास अर्थात तीर्थंकर स्तुति के क्षेत्र में निश्चित रूप से विकास हुआ है। नामोच्चारण से नमस्कार करने के परिणाम रूप प्रकाश आत्मा में प्रकट होता है। जिस प्रकार अग्नि के उष्ण गुण को जानने वाला, अग्नि शब्द के उच्चारण के साथ ही उष्ण गुण का स्मरण करने वाला अथवा अग्नि के आकार का चिंतन करने वाला होता है उसी प्रकार अरिहंत भगवान के प्रशमरस निमग्न आदि गुण को जानने वाला आराधक उनके नाम के उच्चारण के साथ ही

प्रशमरस निमग्नादि अथवा समवसरण स्थित आकृति आदि का चिंतन किए बिना नहीं रह सकता है अत: उपयोगवान होकर तीर्थंकर भगवान का नाम स्मरण करना पूर्णत: सार्थक है।

2. स्थापना निक्षेप– नाम शब्द है और आकृति अर्थ है। अर्थज्ञान के बिना सीखा गया सूत्र सुप्त माना गया है। सूत्र का अध्ययन अर्थज्ञानपूर्वक होना चाहिए तभी वह मंत्राक्षरों की भाँति फलदायी होता है और जैसे-जैसे आत्मा के अध्यवसाय शुभ होते हैं वैसे-वैसे अधिक निर्जरा होती है। शुभ अध्यवसाय शुभ विचार के अधीन है। शुभ विचारों की उत्पत्ति मात्र सूत्राध्ययन की अपेक्षा अर्थयुक्त सूत्राध्ययन से अधिक होती हैं अत: सूत्रोच्चारण के साथ उसके अर्थ और उपयोग का होना अति आवश्यक है।

3. द्रव्य निक्षेप– द्रव्य अरिहंत का स्वरूप केवल अतीत और अनागत कालीन अवस्था की अपेक्षा माना जाता है। 'दव्वजिणा जिणजीवा' यह वचन भाव तीर्थंकर रूप अवस्था को प्राप्त अथवा अनागत काल में इस अवस्था को प्राप्त होने वाले जीवों की अपेक्षा कहा जाता है। नाम और स्थापना निक्षेप की तरह द्रव्य निक्षेप भी आराध्य है जैसे प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान की विद्यमान अवस्था में जब साधुजन आवश्यक क्रिया-प्रतिक्रमण करते हैं तब दूसरे आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव की आराधना करते समय तेईस तीर्थंकर तो उस समय तक उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु भविष्य में उस पद को प्राप्त करने वाले होने से वे तेईस तीर्थंकर द्रव्य जिन रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार उस काल में अनुत्पन्न तेईस तीर्थंकरों की आराधना की जाती थी। यदि द्रव्य निक्षेप न माने तो द्वितीय आवश्यक रूप आराधना घटित नहीं हो सकती है।

यदि यह कहा जाए कि आदिनाथ भगवान के समय चतुर्विंशतिजिनस्तवन के स्थान पर एक जिनस्तव होना चाहिए। अजितनाथ भगवान के समय में द्विजिनस्तव होना चाहिए तो इस प्रमाणानुसार युक्ति घटित नहीं होती, क्योंकि शाश्वत अध्ययन के पाठों में लेश मात्र परिवर्तन भी जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है अत: द्रव्यनिक्षेप को आराध्य मानना चाहिए।[14]

4. भाव निक्षेप– समवसरण में विराजमान होकर अतिशय वाणी से युक्त देशना प्रदान करने वाले तीर्थंकर देव भावजिन कहलाते हैं। भावजिन का सालंबन ध्यान इस प्रकार करना चाहिए– तीर्थंकर भगवान स्वयं नाम, स्थापना,

द्रव्य और भाव स्वरूप होने से उनके लिए उनकी स्थापना मानस प्रत्यक्ष का विषय बनती है, जिससे उन्हें अपनी भावदशा का स्मरण हो जाता है और उनके द्वारा अन्य आत्माओं को उनके गुणों का स्मरण हो जाता है।

सार रूप में कहें तो जो आराधक उक्त वर्णन के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा का शुद्ध प्रणिधान पूर्वक कीर्त्तन और वंदन करता है, वह परम आनन्द का अनुभव करता है और उसकी स्तवना सफल होती है।[15] आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि में स्तुति गान की अपेक्षा निम्नोक्त छह प्रकार बतलाये गये हैं [16]–

1. **नामस्तव**– चौबीस तीर्थंकरों के पारमार्थिक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना चतुर्विंशति नामस्तव है। वस्तुत: भगवान के श्रीमान्, स्वयम्भू, वृषभ, सम्भव आदि अनेक नाम उसके वास्तविक अर्थ को उद्घाटित करते हैं जैसे ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के अन्तरंग ज्ञानादि चतुष्ट्य रूप और बहिरंग समवसरण आदि अष्ट प्रातिहार्यादि रूप लक्ष्मी होती है इसलिए उनका श्रीमान् नाम सार्थक है। तीर्थंकर परमात्मा परोपदेश के बिना स्वयं ही मोक्षमार्ग को जानकर और उसका यथाविधि आचरण कर अनन्त चतुष्टय को उपलब्ध करते हैं इसलिए उनका 'स्वयम्भू' यह नाम सार्थक है।

भगवान ऋषभदेव वृष अर्थात धर्म से सुशोभित है इसलिए उन्हें 'वृषभ' कहते हैं। तीर्थंकर पुरुषों के उपदेश द्वारा भव्य जीव सुखी होते हैं इसलिए उनका 'सम्भव' नाम है। इसी तरह सभी नाम सार्थक हैं।

यद्यपि इस प्रकार का नामस्तव व्यावहारिक है, क्योंकि स्तुति के विषय रूप परमात्मा तो वचन के अगोचर है। आचार्य जिनसेन कहते हैं कि हे भगवन्! आप सहस्राधिक नामों के गोचर होते हुए भी वचनों के अगोचर माने गये हैं, फिर भी स्तवन करने वाला आपसे इच्छित फल पा लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं है अत: व्यवहार रूप नामस्तव भी करने योग्य है।[17]

2. **स्थापनास्तव**– चौबीस अथवा अपरिमित तीर्थंकरों की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं का, उनके चैत्यालय आदि के अतिशय द्वारा स्तवन करना, चतुर्विंशति स्थापनास्तव है। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ कृत्रिम अर्थात किसी शिल्पी आदि के द्वारा निर्मित होती हैं तथा नन्दीश्वर द्वीप, देवलोक आदि में स्थित प्रतिमाएँ अकृत्रिम होती हैं।[18]

3. द्रव्यस्तव– तीर्थंकरों का शरीर औदारिक होने से उनके वर्ण, चिह्न, गुण, ऊँचाई आदि का वर्णन करते हुए उनका स्तवन करना, द्रव्यस्तव है। यह स्तव अनेक प्रकार से किया जाता है। तीर्थंकरों के शारीरिक गुणों का स्तवन इस प्रकार करें– नौ-नौ व्यंजन और एक सौ आठ लक्षणों के द्वारा शोभित और जगत को आनन्द देने वाला अर्हन्तों का शरीर जयवन्त हो मैं उन जिनेन्द्रों को नमस्कार करता हूँ जिनके मुक्त होने पर शरीर के परमाणु बिजली की तरह स्वयं ही विशीर्ण हो जाते हैं। यहाँ व्यंजन का अर्थ– तिल, मस्सा आदि चिह्नों से है और लक्षण का अर्थ-शंख, कमल आदि चिह्नों से है।

तीर्थंकरों के वर्णादि गुणों का कीर्त्तन इस प्रकार करें– श्री चन्द्रप्रभु और पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) के शरीर का वर्ण कुन्द पुष्प के समान श्वेत है। पद्मप्रभु के शरीर का वर्ण रक्त कमल के समान और वासुपूज्य का पलाश के समान लाल है। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ के शरीर का वर्ण श्याम है। पार्श्व और सुपार्श्व का शरीर हरितवर्णी है। शेष सोलह तीर्थंकरों का शरीर सुवर्ण के समान है। ये सभी तीर्थंकर मेरे पापों का नाश करें। तीर्थंकरों के देहकान्ति आदि की अनुशंसा इस प्रकार करें– जो अपने शारीरिक कान्ति से दस दिशाओं को स्नान कराते हैं, अपने तेज से उत्कृष्ट तेज रूप सूर्य के प्रकाश को भी रोक देते हैं, अपने रूप से मनुष्यों के मन को हर लेते हैं। अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्य जीवों के कर्णयुगलों में साक्षात सुख रूप अमृत की वर्षा करते हैं ऐसे सहस्राधिक गुणों से युक्त तीर्थंकर वन्दनीय है।

इसी तरह शरीर की ऊँचाई, माता द्वारा देखे गये स्वप्न, माता के वंश आदि का स्मरण करते हुए स्तवन करना, द्रव्यस्तव है।[19]

4. क्षेत्रस्तव– कैलाशगिरि, सम्मेतगिरि, उज्जयन्तगिरि, पावापुरी, राजगृही, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रों का, समवसरण क्षेत्रों का और सिद्धार्थ आदि उपवनों का स्तवन करना, क्षेत्रस्तव है।

5. कालस्तव– स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण– इन कल्याणकों के काल का स्तवन करना यानी उन-उन कल्याणकों के दिन भक्ति पाठ आदि करना अथवा उन-उन तिथियों की स्तुति करना कालस्तव है।

6. भावस्तव– भव्य जीवों के द्वारा शुद्ध जीव के असाधारण गुणों अथवा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन करना, भावस्तव है।[20] जैसे जल

में प्रतिसमय लहरें उठती हैं और विलीन होती हैं फिर भी जल अपने स्वभाव से निश्चल ही रहता है उसी तरह द्रव्य भी प्रतिसमय अपनी पर्यायों से उत्पन्न और नष्ट होता रहता है फिर भी अपने स्वभाव से रंचमात्र भी विचलित नहीं होता, सदा एकरूप ही रहता है। इस प्रकार काल के प्रभाव से होने वाले समस्त उत्तरोत्तर नये-नयेपन को एक साथ स्पष्ट रूप से जानने वाले जिनेश्वर परमात्मा हमारी रक्षा करें। भावस्तव ही यथार्थ स्तव है, क्योंकि केवलज्ञानादि गुणों का शुद्धात्मा के साथ अभेद सम्बन्ध है।[21]

मूलाचार की टीका में नामस्तव आदि छः प्रकारों का निम्न अर्थ भी किया गया है– • जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष चतुर्विंशति मात्र का नामकरण करना, नामस्तव है। • तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु में चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का आरोपण कर उनकी स्तुति करना, स्थापनास्तव है। • द्रव्यस्तव आगम और नोआगम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता है, किन्तु उसमें उपयोगवान नहीं है ऐसा आत्मा आगम द्रव्यस्तव है। नो-आगम द्रव्यस्तव तीन भेदवाला है– 1. ज्ञायक शरीर 2. भावी शरीर और 3. तद्व्यतिरिक्त। चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के ज्ञाता का शरीर ज्ञायक शरीर है। चौबीस तीर्थंकरों के स्तव का वर्णन करने वाले प्राभृत को आगामी काल में जानने वाले व्यक्ति का शरीर भावी शरीर है।

• चौबीस तीर्थंकरों से युक्त क्षेत्र का स्तवन करना, क्षेत्रस्तव है। • चौबीस तीर्थंकरों से युक्त काल अथवा गर्भ, जन्म आदि का जो काल है उनका स्तवन करना कालस्तव है।

• भावस्तव, आगम-नो आगम की अपेक्षा दो प्रकार का है। चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के जो ज्ञाता हैं और जिनका उसमें उपयोग भी लगा हुआ है, ऐसी आत्मा का स्तव आगम भाव चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है।जो चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन के परिणाम से परिणमित है, उस आत्मा द्वारा किया गया स्तवन, नो आगम भावस्तव कहलाता है।[22]

तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति ही आवश्यक रूप क्यों?

यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि जब कर्मक्षय की अपेक्षा सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों एक समान हैं और संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो तीर्थंकर की

अपेक्षा सामान्य केवली असंख्यात गुणा अधिक हैं। दूसरे, तीर्थंकर चार घाति कर्मों का नाश करते हैं और सिद्ध आठ कर्मों से मुक्त होते हैं अत: शुद्ध अवस्था की अपेक्षा सिद्ध तीर्थंकर से महान होते हैं फिर द्वितीय आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को ही प्रधानता क्यों दी गई है?

आचार्य देवेन्द्रमुनि ने इसके समाधान में कुछ तथ्य प्रस्तुत किए हैं जो निश्चित रूप से मननीय हैं।[23]

सर्वप्रथम तो यह है कि संसार में जो शुभतर परमाणु हैं उनसे तीर्थंकर का शरीर निर्मित होता है, इसलिए रूप की दृष्टि से तीर्थंकर महान है। दूसरे, संसार में जितने भी प्राणधारी हैं उन प्राणियों में तीर्थंकर सबसे अधिक बलवान होते हैं। उनके बल के सामने बड़े-बड़े योद्धा भी टिक नहीं पाते। तीर्थंकर अवधिज्ञान के साथ ज़न्म लेते हैं। दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मन:पर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके पश्चात वे प्रबल पुरुषार्थ द्वारा केवलज्ञान को उपलब्ध कर लेते हैं अत: ज्ञान की दृष्टि से भी तीर्थंकर महान है।

दर्शन की दृष्टि से तीर्थंकर क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते हैं। उनका चारित्र उत्तरोत्तर विकसित होता है। उनके परिणाम सदा बढ़ते हुए रहते हैं। रत्नत्रय की अपूर्व साधना के साथ ही दान के क्षेत्र में भी उनकी समानता कोई नहीं कर सकता है। वे श्रमण धर्म में प्रविष्ट होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। वे विशिष्ट कोटि के ब्रह्मचारी होते हैं। साधनाकाल में अद्‌भुत सौन्दर्यवान देवांगनाएँ भी उन्हें आकर्षित नहीं कर पाती। तप के क्षेत्र में तीर्थंकर कीर्तिमान संस्थापित करते हैं।

भावना के क्षेत्र में तीर्थंकरों की भावना उत्तरोत्तर निर्मल और निर्मलतम होती जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर पुरुषों का जीवन अनेक विशेषताओं से समन्वित होता है। तीसरे, एक काल में एक स्थान पर अनेक सामान्य केवली हो सकते हैं पर तीर्थंकर एक ही होता हैं। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने पर अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीर्थंकर पद प्राप्ति के लिए एक नहीं अनेक भवों की साधना अपेक्षित है। तीर्थंकर उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। इसके अतिरिक्त भी सामान्य केवली और तीर्थंकर में अनेक अन्तर हैं। जैसे तीर्थंकर वाणी के पैंतीस अतिशय से युक्त होते हैं, पसीना आदि से रहित होते हैं, देवकृत, केवलज्ञानकृत एवं जन्मकृत अतिशय के धारक होते हैं, समवसरणस्थ होकर

देशना देते हैं, चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं, वे जहाँ भी विचरण करते हैं वहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग आदि उपद्रव नहीं होते हैं। इस तरह की कई विशिष्टताएँ सामान्य केवली में नहीं होती है। इनमें सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि तीर्थंकर प्राणी मात्र के परम उपकारी होते हैं। यही विशिष्ट गुण तीर्थंकर को सामान्य केवली और सिद्ध से सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करता है। सामान्य केवली इच्छा हो तो उपदेश करते हैं अन्यथा उनके लिए आवश्यक नहीं है जबकि तीर्थंकर पदस्थ केवली के लिए उपदेश देना अनिवार्य है। उपदेश दान ही सर्व जीवों के लिए परम हितकारक बनता है। सिद्ध जीवों में शरीर, वाणी आदि का अभाव होने से उपदेश आदि किसी तरह की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। अतएव आवश्यक अनुष्ठान में तीर्थंकर परमात्मा को प्रमुखता दी गई है।

नमस्कार महामंत्र में भी सर्वप्रथम अरिहंत पद को नमस्कार करने के पीछे पूर्वोक्त प्रयोजन ही स्वीकारे गये हैं। प्रबोध टीकाकार ने तीर्थंकर परमात्मा की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि जो आत्मा सर्व गुणों से अधिक हो उसका ही गुणोत्कीर्तन किया जाता है। इस विश्व में तीर्थंकर ही सर्वगुण सम्पन्न होते हैं अत: निश्चय दृष्टि से तीर्थंकर परमात्मा ही स्तुति-स्तवन करने योग्य हैं। इसके पीछे निम्न कारण भी दर्शाये गये हैं–

1. **तीर्थंकर प्रधान रूप से कर्मक्षय के कारण हैं–** अरिहंत परमात्मा को कर्मकक्षहुताशन– यह विशेषण दिया गया है अत: उन्हें भावपूर्वक किया गया नमस्कार जीव को संसार सागर से पार करता है। अनेक शास्त्रों में भी यह बात कही गई है।

2. **तीर्थंकर प्राप्त बोधि की विशुद्धि में हेतुभूत है–** बोधि अर्थात सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग का मूल है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के आधार पर ही मोक्षप्राप्ति का अंतरकाल निश्चित होता है और इसी कारण सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल, द्वार, प्रतिष्ठान, आधार और निधि रूप में पहचाना जाता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अध्यात्म दृष्टि से वह चक्षुहीन है। परमार्थत: सम्यग्दर्शन जीवादि तत्त्वों के हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप होता है। नाम स्मरण उपादेय भक्ति रूप होने से बोधिकाल में उसकी उत्तरोत्तर विशुद्धि होती है।

3. **तीर्थंकर भवांतर में बोधिलाभ कराने में निमित्त हैं–** तीर्थंकर देव का स्मरण करने से भवान्तर में भी क्रमश: बोधि विशुद्धि होती रहती है।

4. तीर्थंकर सावद्य योगों से विरत होने का उपदेश देने के कारण उपकारक हैं– तीर्थंकर ही संसार के सभी जीवों की आत्मकल्याण का प्रशस्त मार्ग बतलाने में सक्षम होते हैं इसीलिए लोगस्ससूत्र में चतुर्विंश अरिहंत परमात्मा का ही गुणोत्कीर्तन किया गया है।

समाहारत: तीर्थंकर भगवान भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनादि उत्कृष्ट धर्म संप्राप्त करवाने में पूर्ण समर्थ होते हैं और तीर्थ स्थापना द्वारा प्राणी मात्र को देश विरति और सर्व विरति चारित्र में प्रवृत्त कर उनका उपकार करते हैं अतएव आवश्यक अनुष्ठान के रूप में तीर्थंकर पुरुष ही स्तुत्य एवं वन्दनीय है।[24]

चतुर्विंशतिस्तव दूसरा आवश्यक क्यों?

जैन विचारणा में आत्मशुद्धि के लिए जो अवश्यकरणीय है, उसे आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह माने गये हैं, उनमें चतुर्विंशतिस्तव को द्वितीय स्थानवर्ती रखने के पीछे मुख्य कारण यह है कि आत्मिक विशुद्धि या चैतसिक निर्मलीकरण के लिए महापुरुषों का गुणगान करना प्राथमिक भूमिका रूप है क्योंकि गुणोत्कीर्तन के बिना गुणसंग्रहण और गुणसंग्रहण के बिना परमात्मपद की उपलब्धि संभव नहीं है अत: इस आवश्यक का परिपालन जरूरी है। दूसरा यह कीर्तन शान्त, एकान्त, स्थित भावधारा में सम्यक् रूप से किया जा सकता हैं इसलिए सामायिक आवश्यक के पश्चात इसे स्थान दिया गया है।

सामायिक आवश्यक में समुपस्थित आत्मा नियमत: सावद्य योगों से निवृत्त एवं सांसारिक विकल्पों से मुक्त होने के कारण कुछ समय के लिए उसके अध्यवसाय स्थिर बन जाते हैं तथा चिरकालीन अभ्यास के द्वारा उसकी स्थिरता में भी अभिवृद्धि होती जाती हैं। परिणामस्वरूप पाप रूपी कीचड़ से सना हुआ व्यक्ति पाप कार्यों को विराम दे देता है। इसी के साथ मन, वाणी एवं शरीर– इन त्रियोग की अशुभ धारा शुभ में परिवर्तित होने से तीर्थंकरों की स्तुति करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

दूसरा कारण यह है कि सामायिक व्रत में स्थिर हुआ साधक स्वयं में रहे हुए दोषों का भी निरीक्षण करता है। जब अपने दोष ध्यान में आ जाते हैं तब दोष मुक्त का उत्कीर्तन आत्मोत्साह एवं अहोभाव पूर्वक होता है। जिससे यह अनुष्ठान विशिष्ट निर्जरा का हेतु बनता है अथवा सामायिक द्वारा सुस्थिर हुई

आत्मा जब यह विचार करती है कि ये तीर्थंकर दोष मुक्त हैं तब स्वयं के दोष भी स्मृति में उभरने लगते हैं और उन दोषों को दूर करने की भावना बलवान बनती है। इससे यह आत्मविश्वास जागता है कि जिस प्रकार तीर्थंकर दोषों से मुक्त हुए हैं उसी प्रकार मैं भी दोषमुक्त बन सकता हूँ।

तीसरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि किसी वस्तु या व्यक्ति से निवृत्त होने के लिए उससे निवृत्त होने वाले को स्वयं के समक्ष उपस्थित करना अति आवश्यक है। जब तक साधनाशील व्यक्ति के समक्ष कोई महान् आदर्श उपस्थित न हो, तब तक उसके द्वारा किसी वस्तु से निवृत्त होना कठिन है। सामायिक व्रती को सावद्य योगों, कषायादि वृत्तियों एवं विषयादि संकल्पों से निवृत्त होना आवश्यक है। तीर्थंकर भगवान् सावद्य आदि सभी तरह के पापमय व्यापार से निवृत्त हो चुके हैं, इसलिए सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश देते हैं और शुद्ध रूप से समभाव में स्थित है अत:सामायिक व्रती के लिए तदनुरूप तीर्थंकर पुरुषों का आलम्बन लेना अत्यावश्यक है।

इन्हीं मूल्यों की अपेक्षा चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का दूसरा स्थान है।

चतुर्विंशतिस्तव (सद्भूत गुणोत्कीर्तन) का महत्त्व

अनुयोगद्वार में षडावश्यक के प्रकारान्तर से गुणनिष्पन्न छह नाम बताए गए हैं। आवश्यक की आराधना द्वारा जो उपलब्धि होती है अथवा जो करणीय है, उसका बोध जिनके द्वारा होता है। इनमें केवल नाम भेद हैं, अर्थ भेद नहीं है।

चतुर्विंशतिस्तव का गुणनिष्पन्न नाम 'सद्भूत गुणोत्कीर्तन' बतलाया है। जिसमें स्वत्व और स्वसम्बन्धित्व का प्रवेश न हो, उस भावपूर्वक गुणों की प्रशंसा करना और उन गुणों के प्रति राग रखना, यही वास्तविक रूप से गुणप्रशंसा और गुणानुराग है। इस तरह का गुणानुराग स्वार्थ रहित होने के कारण भक्ति राग की कोटि में ही गिना जाता है अत: इसका सम्बन्ध निर्जरा से है।

जैन मन्तव्य के अनुसार यह ज्ञातव्य है कि अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद में रहे हुए जीव स्वयं की भवस्थिति का परिपाक (उस पर्याय की कालावधि पूर्ण) होने पर सूक्ष्म निगोद से बाहर निकलते हैं वहाँ उनके लिए कर्म का क्षयोपशम अथवा अन्य कोई कारण बाहर निकलने में निमित्त नहीं होता है, मात्र भवस्थिति-काललब्धि ही प्रमुख होती है। तत्पश्चात ही वह जीव यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा कर्मों का क्षयोपशम करते हुए आगे बढ़ता है। आप्तपुरुष कहते हैं कि

यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा गुण प्राप्ति द्वारा होने वाला कर्मों का क्षयोपशम अधिक और वैशिष्ट्य पूर्ण होता है। गुणानुराग के बिना गुण प्राप्ति सम्भव नहीं है इसलिए गुण प्राप्ति का मुख्य कारण गुणानुराग है और यही आत्म उन्नति का सोपान है। जहाँ गुणानुराग हो वहाँ गुण प्रशंसा स्वयमेव हो जाती है। गुण प्रशंसा को दर्शाने वाला लोगस्स सूत्र है इसी कारण इस सूत्र का अर्थाधिकार सद्भूत गुणोत्कीर्तन है।

लोगस्स सूत्र के गुणसम्पन्न नाम से द्वितीय आवश्यक की अनिवार्यता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि गुणानुराग पूर्वक गुणोपलब्धि से अधिकाधिक कर्म निर्जरा होती हैं अतएव मोक्षाभिलाषी साधकों को अनादिकालीन कर्मप्रवाह का उच्छेद करने के लिए चतुर्विंशतिस्तव रूप द्वितीय आवश्यक की आराधना अविच्छिन्न रूप से करनी चाहिए।

चतुर्विंशति आवश्यक की उपादेयता

चौबीस तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति क्यों करते हैं तथा इसकी उपादेयता क्या है? यह बिन्दु विमर्शनीय है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि तीर्थंकर देवों की भक्ति करने से पूर्व संचित कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि की नन्हीं सी जलती हुई चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर डालती है।[25]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि परमोपकारी तीर्थंकर देवों का स्तवन करने से आत्म विकास के प्रथम सोपान रूप दर्शन विशुद्धि होती हैं। यहाँ दर्शन शब्द से सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिए।[26] इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार ने लिखा है– 'दर्शनं सम्यक्त्वं तस्य विशुद्धिः' अर्थात चतुर्विंशतिस्तव का तात्कालिक फल सम्यक्त्व की शुद्धि है और सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र प्रकट नहीं होता है तथा सम्यक् चारित्र के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं होती है इस तरह चतुर्विंशतिस्तव का परम्परा फल मोक्ष है।

भगवान महावीर की अन्तिम देशना रूप में संकलित उत्तराध्ययनसूत्र में स्तव-स्तुति रूप भाव मंगल का फल बताते हुए निर्दिष्ट किया है कि स्तव और स्तुति रूप भाव मंगल करने वाला जीव ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि का लाभ प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कल्प विमान में उत्पन्न होकर क्रमशः मोक्षपद को उपलब्ध करता है।[27] यहाँ बोधि शब्द 'सम्यक्' अर्थ

में प्रयुक्त है अत: ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि का अर्थ सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र समझना चाहिए। ये तीनों मोक्षमार्ग के अनिवार्य सोपान हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर देवों का स्तवन और स्तुति रूप भाव मंगल से दर्शनशुद्धि होने के अनन्तर ज्ञान और क्रिया द्वारा मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। पंडित आशाधरजी के अनुसार नामस्तव आदि रूप व्यवहार स्तवन से पुण्य की परम्परा प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप अलौकिक सांसारिक अभ्युदय का सुख उपलब्ध होता है तथा भावस्तव के द्वारा शुद्ध चित्स्वरूप की प्राप्ति होती है।[28]

सामान्यतया तीर्थंकर त्याग, वैराग्य और संयम साधना की दृष्टि से महान है। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। कदाच् किसी कारणवश आत्मश्रद्धा शिथिल हो जाये तो उसमें अभिनव प्रेरणा का उदय होता है। इसी के साथ चित्तदशा निर्मल बनती है, वासनाएँ उपशान्त होती हैं। जैसे तीव्र ज्वर के समय बर्फ की ठंडी पट्टी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जीवन में विषय-वासना का ज्वर विविध तरह की हलचल पैदा कर रहा हो, उस समय तीर्थंकर पुरुषों का स्मरण बर्फ की पट्टी की तरह शान्ति प्रदान करता है।

आचार्य देवेन्द्रमुनि लिखते हैं कि जब हम तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं तब प्रत्येक तीर्थंकर का उज्ज्वल आदर्श हमारे समक्ष चलचित्र की भाँति उपस्थित रहता है। भगवान ऋषभदेव का स्मरण करते ही आदिम युग का सब कुछ मानस-पटल पर उभरने लगता है। फलत: साधक सोचने लगता है कि प्रथम तीर्थंकर ने मानव-संस्कृति का निर्माण किया। राज्य व्यवस्था का नैतिकता पूर्वक संचालन किया। मानव जाति को कला, विज्ञान, सभ्यता आदि का प्रशिक्षण दिया। अहिंसा धर्म का पाठ पढ़ाया। अतुल वैभव का परित्याग कर श्रमण जीवन को अंगीकार किया। दीक्षित होने के पश्चात एक वर्ष तक भिक्षा न मिलने पर भी यत्किंचिद् विचलित नहीं हुए। इसी तरह सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का सुमिरण करने से अपूर्व शान्ति का अनुभव होने लगता है। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान की स्तुति करते समय मोहनगृह स्थित पुत्तलिका का स्मरण हो जाने से दैहिक आसक्ति न्यून होती है तथा नारी जीवन का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित हो उठता है। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान का स्तवन

करते समय साधक के मन में उनका करुणा भाव छलक उठता है तथा यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि उन्होंने मूक पशु-पक्षियों की प्राण रक्षा के लिए सुन्दर राजीमती का भी परित्याग कर दिया।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान का स्मरण आते ही तद्युगीन तप-परम्परा का एक भ्रमित स्वरूप सामने आता है, जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है, अन्तर्मन में कषाय की ज्वालाएँ धधक रही है और बाहर में पंचाग्नि की ज्वालाएँ सुलग रही है। प्रभु पार्श्व उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग युगल को बचाते हैं।कमठ तापस द्वारा भयंकर यातनाएँ दी जाने पर भी उसके प्रति द्वेष नहीं करते और धरणेन्द्र-पद्मावती नामक देव-देवी द्वारा स्तुति किये जाने पर प्रसन्न नहीं होते हैं। इस तरह यथार्थ धर्म और उत्कृष्ट वीतराग भावों का दर्शन होता है।

चरम तीर्थंकर भगवान महावीर का स्तव करने से उनके द्वारा किये गये समत्व के प्रयोगों का साक्षात अनुभव होने लगता है। उन्होंने जान-बूझकर अनार्य देशों में विचरण किया। पत्थरों के प्रहार, पुलिसों द्वारा कैद, कठोर शब्दों की बोछार आदि अनेक स्थितियों में किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। शूलपाणि यक्ष, चण्डकौशिक सर्प, संगम देव, कटपूतना व्यन्तरी आदि द्वारा दिये गये भयंकर उपसर्गों में मेरूवत अकम्प-अविचल रहे। उन्होंने जात-पांत का खण्डन कर गुणदृष्टि पर बल दिया। नारी जाति को प्राय:पुरुष के समकक्ष स्वीकार करते हुए उसे विशिष्ट स्थान प्रदान किया।

इस प्रकार तीर्थंकर देवों की स्तुति करने से मानव मन में पौरूषत्व जागृत होता है तथा 'आत्मा ही परमात्मा है' ऐसा दृढ़ निश्चय होने से उसका प्रयत्न सम्यक् दिशा की ओर प्रवर्द्धमान हो उठता है तथा काल लब्धि परिपाक होने पर स्वयं भी परमात्म स्वरूपी बन जाता है।[29]

जैन विचारणा के अनुसार तीर्थंकर देवों की स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक के अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति उसका अनुराग बढ़ता है। परिणामत: वह आत्मा सकल कर्मों का क्षयकर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन-निराकार स्वरूप धारण कर लेती है।

यहाँ शंका हो सकती है कि तीर्थंकर पुरुषों के स्मरण एवं स्तुति मात्र करने से पाप कर्मों के बंधन कैसे टूट सकते हैं? तथा संसारी आत्मा परमात्म शक्ति को कैसे प्राप्त कर सकती है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि

जिस प्रकार एक बालक उसके मोहल्ले में खेलने वाले अनेक अन्य बालकों को देखकर अपने विचार के अनुसार जिस बालक को अच्छा समझता है, जिसके खेल को सही जानता है उसी का अनुसरण करने लगता है। जब बालक कुछ बड़ा होता है, पाठशाला जाता है वहाँ अपने सहपाठियों में से किसी एक-दो को आदर्श विद्यार्थी जानकर उसका अनुसरण करने लगता है। किंचित् समयानन्तर उस बालक के लिए अध्यापक आदर्श बन जाते हैं। यह मानव मन का स्वभाव है कि वह किसी मानसिक आदर्श के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन मानसिक आदर्शों के प्रति ही गतिशील हैं और तो क्या, देह त्याग करते समय भी मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही गति होती है– ऐसी लोकोक्ति है। एक संस्कृत कवि ने भी कहा है–

'याद्दशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि' - मनुष्य की जैसी दृष्टि (सोच) होती है वैसी ही सृष्टि होती है। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है इसी प्रकार उपासक भी तीर्थंकर भगवान को आदर्श रूप में स्वीकार करते हुए स्तुति करेगा तो निःसन्देह उसके पाप कर्मों के दलिक क्षीण होंगे और वह स्वयं केवलज्ञान रूपी अमन्द ज्योति से आलोकित हो उठेगा। बशर्ते, प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उत्तम एवं निर्दोष हो।[30]

प्रसंगवश यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन विचारधारा में साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है उन महापुरुषों से किसी प्रकार के उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। यह वैज्ञानिक धर्म है। उसमें काल्पनिक आदर्शों के लिए यत्किंचिद् भी स्थान नहीं है। जैन धर्म का विश्वास है कि तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते हैं, वे मात्र साधना के आदर्श हैं। इसी मत का समर्थन करते हुए आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन लिखते हैं कि तीर्थंकर न तो किसी को संसार से पार कर सकते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है तथा उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है।[31] भले ही परमात्मा भक्त को कुछ भी न दें, तब भी उनके महान् आदर्श का स्मरण करते हुए अध्यात्म विकास की दृष्टि से यह सोचने का अवसर प्राप्त होता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूं तो उनके समान बन सकता

हूँ। मुझे अथक पुरुषार्थ द्वारा वीतराग तुल्य बनने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह महापुरुषों का स्मरण हमारे अनादिकालीन मिथ्यात्व का छेदन और निज स्वरूप का बोध करने में केवल निमित्त मात्र बनता है।

जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाश स्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है जैसे प्रकाश स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज बिना गति के समुद्र के उस पार नहीं पहुँच सकता है वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण लाभ नहीं करा सकती,जब तक कि उसके लिए सम्यक प्रयत्न न हो। जो लोग विवेक शून्य प्रार्थनाओं के भरोसे परमात्मा को अपना भावी उद्धारक समझकर मोद मनाते रहते हैं और कभी भी सत्पुरुषार्थ के द्वारा सदाचरण के पथ पर अग्रसर नहीं होते, वे मानव भव रूपी अमूल्य रत्न को यों ही खो देते हैं।

जैन विचारणा की दृष्टि से स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान से मुक्ति की प्रार्थना करना सर्वथा निरर्थक है।[32] जब मनुष्य अपने लिए आदर्श व्यक्ति में प्रतिफल की भावना रखता हुआ यह विश्वास करता है कि वह उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो इस तरह की विपरीत निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है अत: प्रति साधक को किसी प्रकार की फलाकांक्षा एवं अपेक्षा रखे बिना तीर्थंकर पुरुषों का गुणगान करना चाहिए। परमार्थत: यही प्रार्थना है। भक्तिधारा की ओर उन्मुख हुए साधकों को यह भी भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जैन दृष्टि में भगवत्स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तर चेतना को जागृत करने के लिए सहकारी साधन है, वह मानव मात्र के लिए आदर्श प्रदान कर प्रेरणा स्वरूप बनती है, किन्तु सदाचार के पथ पर हमें स्वयं को ही चलते हुए प्रबल पुरुषार्थी एवं आत्म जागरूक बनना होगा। तभी तीर्थंकरों की स्तुति से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति होना संभव है। चूर्णिकार जिनदासगणि ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि तीर्थंकर देवों की स्तुति करने मात्र से मोक्ष एवं समाधि आदि की प्राप्ति नहीं होती है। इसके लिए तप एवं संयम की साधना में उद्यम करना भी अतीव आवश्यक है।[33]

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक की प्रासंगिकता

चतुर्विंशतिस्तव एक भक्ति प्रधान सूत्र है। इस सूत्र के द्वारा गुण उत्कीर्तन करते हुए व्यक्तिगत विकास और मानसिक शांति को उपलब्ध किया जा सकता

है। इसके माध्यम से प्रत्येक आत्मा, परमात्म स्थिति 'अप्पा सो परमाप्पा' को प्राप्त कर सकती हैं। यही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट विकास है। इस दशा के प्रकट होने से पूर्व आत्मा में स्वभाव दशा धीरे-धीरे प्रकट होती है। जिससे व्यक्ति में आनंद रमणता, वैचारिक स्थिरता, दुर्भावों का परिमार्जन, क्रोधादि कषायों का निष्कासन होता है। गुण दर्शन एवं प्रभु कीर्त्तन से गुणों का अर्जन एवं प्रकटन होता है। जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक एवं वैचारिक विकास होता है और वह तीर्थंकरों के समान ही गंभीरता, शीतलता, मधुरता, उज्ज्वलता आदि से जीवन विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है।

वह समाज जहाँ उच्च आदर्शों का अनुकरण एवं स्तवन किया जाता है, उसमें मौलिक एवं नैतिक विकास अवश्यमेव होता है। चतुर्विंशतिस्तव की आवश्यकता सामाजिक स्तर पर देखी जाए तो यह जगत उपकारी परमात्मा का गुणानुवाद है। समाज में इससे गुणी एवं ज्ञानी जनों के बहुमान की परम्परा स्थापित होती है। सामाजिक सद्मूल्यों का विकास एवं उनकी स्थापना होती है। उपकारी जनों के उपकार स्मरण एवं उनको सम्मान देने से समाज की सर्वत्र अच्छी छवि बनती है।

वर्तमान जगत विभिन्न प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। इन समस्याओं के समाधान में आज के भौतिक साधन पूर्ण रूपेण सक्षम नहीं है। चतुर्विंशतिस्तव समस्याओं के समाधान में अहम् भूमिका निभा सकता है। आज ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का दौर है, कोई किसी की बढ़ती नहीं देख सकता, हर कोई स्वयं को शिखर पर देखना चाहता है। इस आवश्यक के द्वारा परमात्मा के भव्य गुणों का स्तवन करते हुए साधक या भक्त स्वयं भगवान के समान बन जाता है अत: इसके द्वारा ईर्ष्या भाव की समाप्ति होती है। मन की आन्तरिक प्रसन्नता बढ़ती है। मानसिक तनाव शांत होते हैं। भावनाएँ शुद्ध विशुद्ध बनती है। दूसरों के प्रति सद्भाव रखने से उनके भी सद्भाव हमारे प्रति बढ़ते हैं और इससे फैल रहे सामाजिक वैमनस्य को शांत किया जा सकता है। विधेयात्मक शक्ति का सर्जन एवं निषेधात्मक भावों का विसर्जन होता है।

वर्तमान में Management या प्रबंधन का मूल्य बहुताधिक बढ़ गया है। किसी व्यक्ति को विकास पथ पर प्रगतिशील करना हो तो उसे सद्गुणों का स्मरण करवाते रहने से एक विधेयात्मक सोच एवं ऊर्जा का निर्माण होता है,

जिससे व्यक्तिगत उत्थान एवं समूह प्रबंधन में सहायता मिलती है। गुणग्राही दृष्टि साधक को सदैव सत्मार्ग पर आरोहित करती है। इस तरह भावों के उत्कर्ष एवं नियमन में सहायता प्राप्त होती हैं। इससे चारित्रिक एवं वैचारिक उच्चता भी प्राप्त होती है। पर दोष दर्शन की वृत्ति कम होने से तनाव समाप्त होते हैं अत: तनाव प्रबंधन में सहायता प्राप्त होती है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य

यह सुस्पष्ट है कि जैन धर्म में आप्त पुरुष केवल निमित्त मात्र होते हैं, अन्तर्चेतना की जागृति में सहकारी साधन रूप होते हैं। स्वभावतया वे न किसी का अच्छा या बुरा करते हैं और न ही किसी से कुछ लेते-देते हैं। जैन-तीर्थंकर कृष्ण के समान यह उद्घोषणा भी नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।[34] यद्यपि सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान महावीर ने कहा है कि 'मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ' यह कथन पाठान्तर प्रतीत होता है क्योंकि इस तरह का उल्लेख जैन ग्रन्थों में प्राय: देखने को नहीं मिलता है।[35] परमात्मा महावीर ने स्वयं कहा है कि एक जो मेरा नाम-स्मरण करता है और दूसरा सत्य मार्ग अर्थात मेरी आज्ञा का अनुसरण करता है उनमें मेरी आज्ञानुसार आचरण करने वाला ही यथार्थत: मेरी उपासना करता है। इस अंश से पूर्व कथन का सर्वथा निराकरण हो जाता है।[36]

सामान्यत: अर्हत् धर्म में तीर्थंकर भक्ति का लक्ष्य आत्म स्वरूप का बोध या साक्षात्कार करना और अपने में निहित परमात्म शक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण से युक्त होकर निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्तिपद को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है। राग-द्वेष एवं सर्व विकल्पों का परिहार करके आत्मा को मोक्ष पथ में योजित करना वास्तविक भक्ति योग है। ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परम पद को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार भक्ति या स्तवन का मूल उद्देश्य आत्मबोध है।[37] भक्ति के सच्चे स्वरूप का वर्णन करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी ने अजितनाथ स्तवन में कहा है–

अज-कुल गत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहे रे, आतम शक्ति संभाल।।

जिस प्रकार अजकुल में पालित सिंह शावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार भक्ति उपासक तीर्थंकरों के स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में आवृत्त परमात्म शक्ति को प्रकट कर लेता है अत: अरिहंत परमात्मा का शुद्ध आलंबन मात्र ही पर्याप्त है।

जिस घर में गरूड़ पक्षी का निवास हो उस घर में साँप नहीं रह सकता। साँप गरुड़ की प्रतिच्छाया से भाग जाते हैं उसी तरह जिनके हृदय में तीर्थंकरों की स्तुति रूप गरुड़ आसीन है, वहाँ पर पाप रूपी साँप नहीं रह पाते। इस प्रकार कामना रहित, सदाशय युक्त एवं सम्यक् विधि पूर्वक किया गया तीर्थंकरों का स्मरण पाप पुंज को नष्ट कर देता है।

स्तुति का स्वरूप एवं उसके प्रकार

लोगस्ससूत्र चौबीस तीर्थंकर का स्तव अथवा स्तुति रूप है। यह जीव जब तक शुक्ल ध्यान की भूमिका पर आरूढ़ नहीं हो जाता तथा शैलेशीकरण की अवस्था को उपलब्ध नहीं कर लेता तब तक पूज्य-पूजक अथवा आराध्य-आराधक का विकल्प बना रहता है। साथ ही पूजक के हृदय में पूज्य के प्रति गुणानुराग का भाव भी नियम से होता है। उस गुणानुराग को अभिव्यक्त करना पूजक (भक्त) का कृतज्ञ गुण है और वह सभी उपासकों के लिए अनिवार्य है। कृतज्ञता को प्रकट करने के अनेक मार्गों में स्तुति एक श्रेष्ठ और सरल मार्ग है। स्तव-स्तुति का सामान्य अर्थ है– भक्तिपूर्वक गुणोत्कीर्त्तन करना। उत्तराध्ययन टीकानुसार एक, दो या तीन श्लोक वाले गुणोत्कीर्त्तन को स्तुति और तीन से अधिक श्लोक वाले गुणोत्कीर्त्तन को स्तव कहा जाता है। किन्हीं के मतानुसार सात श्लोक तक के गुणोत्कीर्त्तन वाली स्तुति कहलाती है।[38]

प्रचलित परिभाषा के अनुसार आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना स्तुति है। लोक में अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा को स्तुति कहा जाता है, जबकि तीर्थंकर परमात्मा तो अनन्त गुण सम्पन्न होते हैं और उनके गुणों को अक्षरश: अभिव्यक्त करना भी असम्भव है इसलिए तीर्थंकर देव की प्रशंसा को ही स्तुति कहना उचित है। सामान्यत: स्तुति स्तोत्र द्वारा की जाती है क्योंकि स्तोत्र संस्तव रूप होता है। यद्यपि चैत्यवंदन महाभाष्य में स्तव और स्तोत्र में भेद बताते हुए कहा गया है कि स्तव गंभीर अर्थवाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध होता है जबकि

स्तोत्र विविध छन्दों में और प्राकृत भाषा में होता है।[39] किन्तु इसके अपवाद स्वरूप भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि कुछ स्तोत्र संस्कृत भाषा में भी रचित हैं। अत: विवक्षा भेद से उक्त दोनों व्याख्याएँ सार्थक प्रतीत होती है। स्तव, स्तवन, संस्तवन, स्तुति, भक्ति, गुणोत्कीर्तन आदि शब्द लगभग समान अर्थ के बोधक हैं। यद्यपि वैयक्तिक रूप से गुणोत्कीर्तन करने को स्तुति और सामूहिक रूप से स्तवन करने को भक्ति कहा जाता है। भक्ति का क्षेत्र व्यापक है। स्तुति,प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, आराधना, सेवा आदि भक्ति के ही अनेक रूप हैं। वर्तमान में स्तवन, स्तुति एवं भक्ति शब्द अधिक प्रचलित हैं। परमार्थत: निज चेतना के शुद्ध रत्नत्रय रूप परिणामों को देखना स्तुति-भक्ति है। चारित्रसार में भी कहा गया है कि अपने शुद्धात्मा स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति है।[40] इसके लिए अन्तरंग परिणामों की परम विशुद्धि आवश्यक है। सारत: तीर्थंकर पुरुषों का गुणोत्कीर्त्तन करते हुए स्वयं के शुद्धात्म स्वरूप का अन्वेषण करना, अवलोकन करना यही वास्तविक स्तुति है।

जैन विचारणा में स्तव-स्तुति शब्द एकार्थक होने पर भी इनके प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। आवश्यकभाष्य में स्तव के दो प्रकार बतलाये हैं– 1. द्रव्यस्तव और 2. भावस्तव।[41] आचार्य भद्रबाहु के अनुसार ईश्वर (धनपति), तलवार (राजा आदि), माडम्बिक (जलदुर्ग का अधिपति) शिव, इंद्र, स्कन्द और विष्णु की पूजा करना द्रव्यस्तव है तथा अरिहन्त, सिद्ध, केवली, आचार्य और साधु की पूजा करना भावस्तव है।[42]

दूसरी परिभाषा के अनुसार सात्त्विक वस्तुओं द्वारा तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यस्तव है और भगवान के गुणों का स्मरण करना भावस्तव है। क्षायोपशमिक आदि प्रशस्त भावों में प्रवर्तमान व्यक्ति ही भाव पूजा कर सकता है।

जैन परम्परा का अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय द्रव्यस्तव के महत्त्व को स्वीकार नहीं करता है। मूलत: द्रव्यस्तव के पीछे ममत्व विसर्जन एवं अपरिग्रह सिद्धान्त को चरितार्थ करने का उद्देश्य रहा हुआ है। द्रव्य पूजा का विधान केवल गृहस्थ उपासकों के लिए ही है, क्योंकि साधु निष्परिग्रही एवं अनासक्ति के मार्ग पर आरूढ़ होते हैं अत: उनके लिए भावस्तव ही मुख्य माना गया है।

नन्दी टीका में स्तुति के भी दो प्रकार कहे गये हैं– 1. प्रणाम रूप स्तुति और 2. असाधारण गुणोत्कीर्त्तन रूप स्तुति। प्रणाम रूप स्तुति सभी जीवों के

लिए सामर्थ्यगम्य हैं। गुणोत्कीर्त्तन रूप स्तुति स्वार्थ और परार्थ सम्पदा प्रदान करने वाली है। स्वार्थ सम्पदा से सम्पन्न व्यक्ति पदार्थ को साधने में समर्थ होता है।[43]

आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचाशकप्रकरण षोड़शकप्रकरण, अष्टकप्रकरण, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका प्रकरण आदि सभी में स्तव-स्तुति के अर्थ एवं उनके प्रकारादि का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इस विषयक आवश्यक चर्चा पूजा विधि के अन्तर्गत करेंगे।

चतुर्विंशतिस्तवः एक मार्मिक विश्लेषण

चतुर्विंशतिस्तव का प्रसिद्ध नाम लोगस्ससूत्र है। यह आत्म परिष्कार करने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। षडावश्यक का पालन करने वाले साधकों के लिए मूलपाठ के साथ इसका भावार्थ एवं रहस्यार्थ ज्ञात करना भी परमावश्यक है। वह इस प्रकार है-

लोगस्स पाठ

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली।।1।।
उसभ मजिअं च वंदे, संभव मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे।।2।।
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।
विमल मणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि।।3।।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च।।4।।
एवं मए अभिथुआ, विहुय-रय-मला पहीण जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।5।।
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरूग्ग-बोहि-लाभं, समाहिवर मुत्तमं दितु।।6।।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।7।।

इस सूत्र में सात गाथाएँ तीन खंड में विभाजित है। प्रथम गाथा का पहला खंड सिलोग छंद में है और वह प्रतिज्ञा का निर्देश करता है। द्वितीय-तृतीय और

चतुर्थ गाथा का दूसरा खंड गाथाछंद में है। इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों का नाम स्मरण एवं उन्हें वंदन किया गया है। पंचम-षष्ठम और सप्तम गाथा का तीसरा खंड गाथा छंद में ही है। सुबोधा सामाचारी में इन अन्तिम गाथाओं को 'प्रणिधान गाथा-त्रिक' कहा गया है।[44]

इस सूत्र में प्रत्येक गाथा के चार चरण हैं तथा सम्पूर्ण गाथाओं के कुल पद 28, संपदा 28 और अक्षर 256 हैं।

प्रथम खंड– इस खंड की प्रथम गाथा में तीर्थंकरों के चार विशेषण बतलाते हुए उनकी स्तुति करने की प्रतिज्ञा की गई है।

लोगस्स उज्जोअगरे– लोक में उद्योत करने वाले।

यहाँ लोक शब्द से पंचास्तिकायात्मक लोक समझना चाहिए। पंचास्तिकाय अर्थात 1. धर्मास्तिकाय 2. अधर्मास्तिकाय 3. आकाशास्तिकाय 4. पुद्गलास्तिकाय और 5. जीवास्तिकाय। आवश्यक टीका, चैत्यवंदन महाभाष्य, योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण, देववंदन भाष्य, ललित विस्तरा आदि ग्रन्थों में लोक का उपर्युक्त अर्थ ही किया गया है, किन्तु आचारदिनकर में लोक शब्द से चौदह राजलोक अर्थ को स्वीकार किया है।[45]

दिगम्बर के मूलाचार में लोक शब्द के चार निरूक्त बतलाये गये हैं– लोकित, आलोकित, प्रलोकित और संलोकित। ये चारों पर्यायवाची एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा यह सर्वजगत लोकित-अवलोकित कर लिया जाता है इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है। टीकाकार ने इन चारों क्रियाओं का पृथक्करण करते हुए इसका स्पष्टीकरण किया है। छद्मस्थ अवस्था में मति और श्रुत इन दो ज्ञानों के द्वारा यह सर्व 'लोक्यते' अर्थात देखा जाता है इसीलिए इसे लोक कहते हैं। अवधिज्ञान द्वारा मर्यादा रूप से यह 'आलोक्यते' आलोकित किया जाता है इसलिए यह लोक कहलाता है। मन:पर्यवज्ञान के द्वारा 'प्रलोक्यते' विशेष रूप से यह देखा जाता है अत: लोक कहलाता है। केवलज्ञान के द्वारा तीर्थंकर भगवान इस सम्पूर्ण जगत को जैसा है वैसा ही 'संलोक्यते' संलोकन करते हैं– जान लेते हैं अत: यह लोक कहलाता है।[46]

आवश्यकनिर्युक्ति में लोक के आठ प्रकार बतलाये हैं– 1. नामलोक 2. स्थापनालोक 3. द्रव्यलोक 4. क्षेत्रलोक 5. काललोक 6. भवलोक 7. भावलोक और 8. पर्यायलोक।[47] दिगम्बर के मूलाचार में लोक नौ प्रकार का

कहा गया है उनमें चिह्न (आकार) लोक और कषाय लोक– ये दो नाम पृथक् हैं तथा काल लोक का उल्लेख नहीं है शेष नामों को लेकर दोनों में पूर्ण साम्य है।[48]

जिसके द्वारा प्रकाश किया जाता है वह उद्योत कहलाता है। उद्योत दो प्रकार के होते हैं– 1. द्रव्योद्योत और 2. भावोद्योत। अग्नि, चन्द्र, सूर्य, मणि आदि द्रव्य उद्योत हैं क्योंकि ये घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करते हुए भी उसमें रहे हुए अन्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं। ये स्वल्प क्षेत्र में ही प्रकाश कर सकते हैं तथा मेघादि के द्वारा सूर्यादि के प्रकाश को रोका भी जा सकता है।

ज्ञान भाव उद्योत है। भावोद्योत मति आदि पाँच प्रकार का कहा गया है उनमें केवलज्ञान परमार्थत: उद्योत है क्योंकि वह अप्रतिघाती और सर्वगत है अर्थात केवल ज्ञान रूप प्रकाश सर्व लोक-अलोक को प्रकाशित करता है, किसी राहु आदि से बाधित नहीं होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है।[49]

उद्योतकर-प्रकाश करने वाले भी दो प्रकार के होते हैं– 1. स्वउद्योतकर और 2. परउद्योतकर। तीर्थंकर स्वयं की आत्मा को भी प्रकाशित करते हैं और उपदेश के द्वारा भव्य जीवों के लिए भी प्रकाश अर्थात केवलज्ञान का मार्ग प्रस्तुत करते हैं इस प्रकार तीर्थंकर दोनों तरह के उद्योतकर हैं।[50]

धम्मतित्थयरे– धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले। तीर्थंकर जब साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं तभी से तीर्थंकर संज्ञा से उपमित होते हैं।

दुर्गति में गिरते हुए जीवों को शुभ स्थान में स्थित करता है वह धर्म कहलाता है। धर्म दो प्रकार का है– 1. द्रव्य धर्म और 2. भाव धर्म। भाव धर्म भी दो भेद वाला है– 1. श्रुत धर्म और 2. चारित्र धर्म। यहाँ श्रुत धर्म तीर्थ है।

जिससे संसार सागर को तिरते हैं वह तीर्थ है। तीर्थ चार प्रकार के होते हैं– 1. नाम तीर्थ 2. स्थापना तीर्थ 3. द्रव्य तीर्थ और 4. भाव तीर्थ। यहाँ भाव तीर्थ ग्राह्य है। संघ आदि भाव तीर्थ है क्योंकि इसका आश्रय लेने वाले भव्य जीव नियमत: संसार समुद्र से तिरते हैं।[51]

जिणे– जीतने वाले– जयतीति जिन:।

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकटीका, ललितविस्तरा आदि में जिन शब्द की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ हैं। संयुक्त रूप में कहें तो जिन्होंने स्वरूपोपलब्धि में

बाधक राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, काम, क्रोध आदि भाव कर्मों को तथा ज्ञानावरणीयादि द्रव्य कर्मों को जीत लिया है, वे जिन हैं।

अरिहंते– अरिहन्त यानी अरि + हन्त – आन्तरिक क्रोधादि शत्रुओं का नाश करने वाले।

महानिशीथसूत्र में अरिहंतपद की विस्तृत व्याख्या की गई है।[52]

कित्तइस्सं चउवीसंपि केवली– केवलज्ञान को प्रकट करने वाले चौबीस तीर्थंकरों का नामोच्चारण पूर्वक स्तवन करूँगा।

यहाँ 'पि' पद अर्थात 'अपि' अव्यय अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। निर्युक्तिकार ने ऐरवत क्षेत्र और महाविदेह क्षेत्र में होने वाले तीर्थंकरों को ग्रहण किया है।[53] आचार्य हरिभद्र ने वर्तमान के चौवीश तीर्थंकरों से भिन्न अन्य तीर्थंकरों के समुच्चय अर्थ का संकेत किया है।[54] वर्तमान चौवीशी के समुच्चय अर्थ में भी इसे स्वीकार किया गया है।

द्वितीय खंड– दूसरी से चौथी गाथा तक वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का नाम पूर्वक स्मरण करते हुए उन्हें वंदन किया गया है। प्रेमचन्द्र जैन के अनुसार इन गाथाओं में यह विशेषता है कि प्रत्येक तीर्थंकर का नाम उनके जीवन से सम्बन्धित घटना विशेष के आधार पर अथवा विशेष अर्थ रूप में वर्णित है। नौवें तीर्थंकर के दो नाम श्री सुविधिनाथजी तथा पुष्पदंत जी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ इस तीर्थंकर के दो नाम कहने के पीछे क्या प्रयोजन है, स्पष्ट नहीं हो पाया है। संभवत: ग्रन्थकारों ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। ये तीन गाथाएँ अशाश्वत होती है क्योंकि जिस काल में जो चौबीसी होती है, उसी के अनुसार इनकी रचना मानी गई है।[55]

दूसरी, तीसरी एवं चौथी गाथा का अर्थ अत्यन्त सरल है, केवल चौबीस तीर्थंकरों के नाम पूर्वक उन्हें वंदन किया गया है। कुछ उल्लेखनीय मुद्दे निम्न हैं–

वंदे–उपर्युक्त तीन गाथा में तीन बार 'वंदे' और दो बार 'वंदामि' शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रकार का इसके पीछे क्या आशय था, समझ नहीं पाये हैं। किन्तु वंदे-वंदामि पद के द्वारा बार-बार वंदन करने का प्रयोजन बतलाते हुए चैत्यवंदन महाभाष्य में कहा गया है कि इन सूत्रों में पुन:-पुन: वंदनार्थक क्रियापद का प्रयोग आप्त पुरुषों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करने के लिए है

इस कारण पुनरुक्ति दोष नहीं आता है।[56]

जिणं– उपर्युक्त तीन गाथा में तीन बार और सम्पूर्ण लोगस्ससूत्र में पाँच बार जिन शब्द का प्रयोग सहेतुक प्रतीत होता है। यद्यपि इसका स्पष्ट बोध नहीं हो पाया है।

तीसरा खंड– पाँचवीं गाथा में तीर्थंकर भगवन्तों को कर्म रूपी रज मैल से रहित, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के विजेता बताते हुए कहा है कि ऐसे परमाराध्य, जो मेरे द्वारा स्तुति किये गये हैं मुझ पर प्रसन्न होवें।

पसीयंतु– प्रसाद युक्त होवो, प्रसन्न युक्त होवो। यह पद परमात्मा के अनुग्रह का सूचक है। वस्तुत: तीर्थंकर किसी पर न तो प्रसन्न होते हैं और न ही किसी से नाराज होते हैं, यह शाश्वत नियम है। फिर भी इस गाथा में अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए कहा है कि जिस प्रकार सूर्य की पहली किरण के साथ कमल का फूल खिल जाता है जैसे चिंतामणि रत्न से फल की प्राप्ति हो जाती है उसमें वस्तु स्वभाव ही कारण है। उसी प्रकार तीर्थंकरों के गुणानुवाद से आराधक को इष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है उसमें भगवान का स्वाभाविक सामर्थ्य कारण है। तदुपरान्त स्तुति आदि में तीर्थंकर भगवान प्रधान आलंबन रूप होने से आराधक की इष्ट प्राप्ति स्तोतव्य निमित्तक कहलाती है इसीलिए तीर्थंकर भगवान को उद्देश करके अंत:करण के भाव पूर्वक की गई स्तुति आदि के द्वारा जो आराधक को अभिलषित फल की प्राप्ति होती है, उसमें प्रधान निमित्त तीर्थंकर भगवान है। इसी कारण आराधक की फल प्राप्ति को तीर्थंकर परमात्मा की प्रसन्नता या प्रसाद रूप कहा गया है।

छठवीं गाथा में त्रियोगों को स्तुत्य क्रम से समायोजित कर कहा है कि **कित्तिय–** मैं सर्वप्रथम वचन योग (नामोच्चारण) पूर्वक आपका कीर्तन करता हूँ, तत्पश्चात **वंदिय–** काययोग से नमन करता हूँ और फिर **महिया–** मनोयोग से आदर-बहुमान करता हूँ क्योंकि आप लोक में उत्तम हैं। **आरुग्ग....दिंतु–** फिर तीर्थंकरों से आरोग्य (आत्म शान्ति), बोधिलाभ (सम्यक्ज्ञान) एवं श्रेष्ठ समाधि की अभिलाषा की गई है।

इस गाथा में कित्तिय-वंदिय-महिया– तीनों महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। आवश्यक हारिभद्रीय टीका, ललित विस्तरा, चैत्यवंदन महाभाष्य, योगशास्त्र विवरण, देववन्दन भाष्य वगैरह ग्रन्थों में इनके किंचिद् भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं।

विस्तृत जानकारी हेतु प्रबोध टीका देखें।

इस गाथा के द्वितीय चरण में तीर्थंकर भगवान से आरोग्यादि प्रदान करने की याचना की गई है। तब प्रश्न होता है कि तीर्थंकर भगवान में उपर्युक्त वस्तुओं को देने का सामर्थ्य है? ग्रन्थकारों की दृष्टि से इसका भिन्न-भिन्न समाधान प्राप्त होता है।

आवश्यक टीकाकार कहते हैं कि तीर्थंकर में उक्त वस्तुएँ देने का सामर्थ्य नहीं है किन्तु यह तो मात्र भक्ति से प्रेरित होकर कहा जाता है। यह असत्यमृषा नाम की भाषा का एक प्रकार है। परमार्थ से देखा जाये तो तीर्थंकर पुरुषों के प्रति भक्ति होने से स्वयमेव उपर्युक्त वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण कहा जाता है कि आप मुझे दें।[57]

ललित विस्तरा में कहा गया है कि वीतराग परमात्मा रागादि दोषों से रहित होने के कारण आरोग्यादि प्रदान नहीं करते हैं। फिर भी इस प्रकार के वाक्य प्रयोग से प्रवचन की आराधना होती है और उस आराधना के द्वारा सन्मार्गवर्ती महासत्त्वशाली जीव को तीर्थंकर भगवान की सत्ता बल से (वस्तु स्वभाव के सामर्थ्य से) आरोग्यादि की प्राप्ति होती है।[58]

चैत्यवंदन महाभाष्यकार ने कहा है कि प्रार्थना वचन असत्यमृषा नामक भक्ति से उत्प्रेरित होकर बोला जाता है। यथार्थतः राग और द्वेष से रहित वीतरागदेव समाधि और बोधि प्रदान नहीं करते हैं। किन्तु वीतराग परमात्मा की भक्ति करने से जीव आरोग्य, बोधिलाभ और समाधिमरण को प्राप्त करता है।[59]

योगशास्त्र विवरण में उपर्युक्त पाठ का ही अनुसरण किया गया है। धर्मसंग्रहणी टीका में लिखा गया है कि आरूग्गबोहिलाभं- यह वाक्य निष्फल नहीं है। आरोग्य आदि वस्तुएँ तत्वतः तीर्थंकर भगवान के द्वारा ही दी जाती है क्योंकि वे ही तथाविध विशुद्ध अध्यवसाय के हेतु हैं।[60]

सारांश यह है कि तीर्थंकर भगवान राग-द्वेष से रहित होने के कारण आरोग्यादि प्रदान नहीं करते हैं, लेकिन उनकी स्तुति भक्ति करने से उपर्युक्त अभिलाषा की सहज ही पूर्ति हो जाती है। जैसे अंजन नहीं चाहता कि मैं किसी के नेत्र ज्योति को बढ़ाऊँ तथापि उसके उपयोग से नेत्र की ज्योति बढ़ती है ठीक उसी प्रकार निष्काम, निस्पृह, वीतराग परमात्मा भले ही किसी को लाभ पहुँचाना न चाहें, किन्तु उनके गुणानुवाद से अवश्य ही लाभ प्राप्त होता है।

अन्तिम सातवीं गाथा में तीर्थंकर भगवान को क्रमश: चन्द्र, सूर्य और महासमुद्र से अधिक निर्मल, प्रकाशक एवं गंभीर बतलाया गया है तथा उन्हें सर्वोत्तम रूप में स्वीकार करते हुए उनसे अन्तिम लक्ष्य सिद्धिपद की कामना की गई है। इस गाथा में प्रयुक्त 'अपि' शब्द महाविदेह क्षेत्र में विचरण करने वाले तीर्थंकरों (विहरमानों) को समाहित करता है।

सार रूप में कहा जाए तो इस लोगस्ससूत्र में परमोच्च शिखर पर पहुँचे हुए चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति, इसके सिवाय बीस विहरमान एवं सिद्ध आत्माओं को वन्दन करते हुए उनके अवलम्बन द्वारा स्वयं प्रेरणा प्राप्त कर निर्वाण पद प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की गई है।

प्रस्तुत सूत्र विषयक समग्र एवं विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रबोधटीका भा.-1 का अध्ययन करने योग्य हैं। इसमें द्वितीय आवश्यक रूप लोगस्ससूत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को प्रश्न के रूप में उपस्थित कर उसका सटीक समाधान भी दिया गया है। • जैसे– लोगस्ससूत्र की प्रथम गाथा में 'लोगस्स उज्जोअगरे'– ये दोनों पद किस प्रयोजन से है?

• तीर्थंकर परमात्मा जब भी विचरण-विहार करते हैं तब उनके आगे धर्मचक्र चलता है, उसकी विशेषता क्या है?

• अरिहंत देवों को सकल विश्व के प्रकाशक कहने के पश्चात 'धर्म तीर्थंकर' का विशेषण किस प्रयोजन से दिया जाता है?

• अरिहंत विशेषण का अभिप्राय क्या है?

• प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालखण्ड में चौबीस तीर्थंकर ही क्यों होते हैं?

• चतुर्विंशतिस्तव में तीर्थंकर पुरुषों का ही गुणोत्कीर्त्तन क्यों किया गया है?

• चतुर्विंशतिस्तव का फलश्रुति क्या है?

चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी साहित्य

जैन संस्कृति श्रुतधर आचार्यों एवं प्रज्ञावान् मुनिपुंगवों से सदैव पूज्य रही हैं क्योंकि उनके द्वारा रचे गये अभूतपूर्व ग्रन्थों के कारण ही इसकी अस्मिता सुरक्षित है। एक-एक आचार्य ने नाना विषयों पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे मुनिप्रवरों ने तो 1444 ग्रन्थों की रचना कर इसे अमर ही कर दिया है।

इस परम्परा में एक विषय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, उस अपेक्षा से लोगस्ससूत्र का उल्लेख एवं विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें कुछ नाम इस प्रकार हैं–

ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार
1. महानिशीथसूत्र	समुद्धृत–आचार्य हरिभद्र
2. उत्तराध्ययनसूत्र	श्री सुधर्मा स्वामी गणधर
3. आवश्यकसूत्र	श्री सुधर्मा स्वामी
4. चतुःशरण प्रकीर्णक	श्रुतस्थविर
5. आवश्यक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु स्वामी
6. नंदी सूत्र	श्री देववाचक
7. अनुयोगद्वारसूत्र	श्रुत स्थविर
8. आवश्यकचूर्णि	श्री जिनदासगणि महत्तर
9. आवश्यक भाष्य	श्री चिरंतनाचार्य
10. आवश्यक टीका	आचार्य हरिभद्रसूरि
11. आवश्यक टीका	आचार्य मलयगिरि
12. ललित विस्तरा	आचार्य हरिभद्रसूरि
13. चैत्यवंदन महाभाष्य	श्री शांतिसूरि
14. योगशास्त्र विवरण	आचार्य हेमचन्द्र
15. देववंदन भाष्य	श्री देवेन्द्रसूरि
16. वंदितुसूत्र पर रचित वृंदारूवृत्ति	श्री देवेन्द्रसूरि
17. विधिमार्गप्रपा	आचार्य जिनप्रभसूरि
18. सुबोधा सामाचारी	श्री चन्द्राचार्य
19. प्राचीन सामाचारी	पुरन्दर आचार्य
20. आचार दिनकर	आचार्य वर्द्धमानसूरि
21. धर्मसंग्रह	उपाध्याय श्री मानविजय

चतुर्विंशतिस्तव में गर्भित नवत्रिक

चतुर्विंशतिस्तव एक अध्यात्म प्रधान एवं मंत्र मूलक स्तोत्र है। यह ध्यान साधना का परम उपाय, मन-वाणी एवं शरीर की चंचल वृत्तियों को रोकने के लिए अमूल्य औषधि और आध्यात्मिक शक्तियों को आविर्भूत करने का श्रेष्ठ

आलंबन भी है। इस स्तव के प्रयोग द्वारा संसार से सिद्धालय, देह से देहातीत एवं मृत्युलोक से अमर लोक तक की यात्रा अव्याबाध रूप से सम्पन्न की जा सकती है। इस स्तोत्र में अनंत शक्तियाँ निहित है। साध्वी दिव्यप्रभाजी ने इसमें नवत्रिक की परिकल्पना की है, जो इस स्तव की गुप्त शक्ति का परिचायक है। साध्वी श्री के अभिप्रायानुसार इन त्रिकों का लयबद्ध ध्यान करते हुए उसके साथ एकाकार हो जाये अथवा तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाये तो नि:सन्देह शाश्वत सुख की अनुभूति और आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। नवत्रिक का स्वरूप इस प्रकार है-

1. **परमत्रिक– तित्थयरे-जिणे-अरिहंते–** गाथा 1
   इस त्रिक में परमाराध्य स्वरूप तीर्थंकर परमात्मा के तीन स्वरूप उपदर्शित हैं।
2. **प्रतिष्ठान त्रिक–** यह त्रिक 2, 3, 4– इन गाथा त्रिक में आए हुए चौबीस तीर्थंकरों के नामों पर आधारित है। इस त्रिक में 24 तीर्थंकर के नामों को साढ़े तीन आवर्तों में एवं स्वाधिष्ठान आदि चक्रों में प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया उपलब्ध है।
3. **प्रणिधान त्रिक–** यह त्रिक **अभिथुआ-विहुयरयमलापहीणजर-मरणा–** गाथा-5 की प्रथम पंक्ति पर आधारित है। इसमें ध्यान एवं गुण स्मरण द्वारा परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।
4. **प्रस्तुति त्रिक–** यह त्रिक **मए-मे-मम** गाथा 5-7 के आधार पर है। इसमें साधक द्वारा आत्म अस्तित्व को स्वीकार कर प्रकर्ष भावों के साथ स्वयं को परमात्म चरणों में समर्पित करने की प्रस्तुति की गई है।
5. **प्रसाद त्रिक–** यह त्रिक गाथा 5-7 पर आधारित है। इनमें **पसीयंतु समाहि वरमुत्तमं दिंतु–सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु–** ये तीनों सार्थक तुतियाँ है।

तीर्थंकर परमात्मा स्तुति का श्रेष्ठ फल प्रदान करते हैं। दूसरा, उत्तम पुरुषों का प्रसाद भी उत्तम होता है। उत्तम समाधि और सिद्ध पद का प्रसाद तीर्थंकर की स्तुति एवं आराधना के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है। ये उत्तम कोटि के प्रसाद तीर्थंकर पुरुष के अतिरिक्त कोई भी देने में समर्थ नहीं है।

6. **प्रमाण त्रिक–** यह त्रिक **कित्तिय-वंदिय-महिया** गाथा-6 के अनुसार है। इसमें कीर्त्तन के द्वारा स्तवन के रूप में, वंदन के द्वारा नमस्कार के रूप में और पूजन के द्वारा भक्ति के रूप में अरिहंत परमात्मा को प्रणाम किया गया है।
7. **परिणाम त्रिक–** यह त्रिक **आरूग्ग–बोहिलाभ-समाहिवरमुत्तमं दिंतु** गाथा-6 पर आधारित है। परमात्मा की उपासना से, वंदन से, पूजन से क्या प्राप्त होता है? हम परमतत्त्व की उपासना किस प्रयोजन से करते हैं? इस त्रिक में प्रत्येक का प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है–
कीर्त्तन अथवा संस्तवन का हेतु– आरोग्य है। वंदन का हेतु– बोधि है। पूजन का हेतु– उत्तम समाधि है।
8. **प्रतीक त्रिक–** यह त्रिक **चंदेसु निम्मलयरा-आइच्चेसु अहियं पयासयरा-सागरवरगंभीरा** गाथा-7 के अनुसार है। जो आत्माएँ लोकाग्र भाग में सिद्धशिला पर अवस्थित हो गयी हैं, सर्व ज्ञाता है, सर्व दर्शी हैं, उनका प्रतीकात्मक स्वरूप किस रूप में वर्णित करें? इस त्रिक में सिद्ध परमात्मा के तीन प्रतीक बतलाये गये हैं। लोक अवस्थान के अत्यन्त निकट प्रकृति (ग्रह, नक्षत्र, समुद्र, पर्वत आदि) है तथा उसमें सूर्य चन्द्र और समुद्र– ये तीनों प्रधान हैं। अत: इस त्रिक के द्वारा अरिहंत प्रभु को इन तीन उपमानों से भी अनंत गुणा अधिक औपम्यवाला सिद्ध किया है। स्पष्ट है कि तीर्थंकर पुरुष चन्द्र, सूर्य और समुद्र से क्रमशः कई गुणा अधिक निर्मल, प्रकाशवान् और गंभीर हैं।
9. **प्रभाव प्रसारण त्रिक–** यह त्रिक **निम्मलयरा-पयासयरा–गंभीरा** गाथा-7 पर अवलम्बित है। इस त्रिक में तीर्थंकर को चंद्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रकाशवान् और सागर से अधिक गम्भीर कहकर उनका प्रभाव प्रकट किया है। साथ ही इन तीन गुणों के द्वारा तीर्थंकरों का अनिर्वचनीय महत्त्व दूर-दूर तक प्रसरित होता रहता है। दूसरे, निर्मलता, प्रकाशकता और गम्भीरता इन त्रिविध गुणों में शेष सर्व गुण भी समाविष्ट हो जाते हैं, फलत: सर्वज्ञ पुरुषों का प्रभाव निरन्तर प्रवर्द्धमान रहता है। इस तरह यह त्रिक परमात्मा के गुणों के अतिशय को दिग्दर्शित करता है।[61]

चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्ससूत्र) में छः आवश्यक कैसे?

लोगस्ससूत्र मोक्षाभिलाषी साधकों के लिए कवच के समान है, क्योंकि इसका साधनात्मक प्रयोग करने पर पूर्व संचित कर्म विनष्ट होने के साथ-साथ नवीन पापास्रवों का आगमन भी रूक जाता है। क्रोधादि मलीन भावों से आत्मा की सुरक्षा होती है। यह आत्मविकासी परम बीज रूप सूत्र है।

प्रबुद्धचेताओं ने इस सूत्र में षडावश्यक की भाव कल्पना इस प्रकार की है–

सूत्र पाठ	–	**आवश्यक**
1. कित्तइस्सं	–	सामायिक आवश्यक
2. चउवीसं पि केवली चउवीसं पि जिणवरा	–	चतुर्विंशतिस्तव
3. वंदे-वंदामि	–	वंदना आवश्यक
4. विहुयरयमला-पहीणजरमरणा	–	प्रतिक्रमण आवश्यक
5. आरूग्ग-बोहिलाभं-समाहि वर मुत्तमं	–	कायोत्सर्ग आवश्यक
6. सिद्धा-सिद्धिं मम दिसंतु	–	प्रत्याख्यान आवश्यक

उपसंहार

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में होने वाले श्री ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना ही चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। यह आवश्यक तीर्थंकरों की स्तुति पूर्वक आत्म साक्षात्कार के उद्देश्य से किया जाता है। आत्मानुभूति के लिए परमावश्यक है कि हम तीर्थंकर के वास्तविक स्वरूप से परिचित बने, उनके बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को भलीभाँति समझें।

सामान्यतया चौबीस तीर्थंकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भिन्न हैं किन्तु गुणों की दृष्टि से सभी में समानता है अत: सभी समान रूप से स्तुति करने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर एक समान शक्तिशाली, प्राभाविक और चमत्कारिक अतिशयों से युक्त होते हैं, क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर को घातीकर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान समान होता है। प्रत्येक तीर्थंकर वाणी आदि पैंतीस गुणों से युक्त होते हैं, सुर-असुर और राजाओं के द्वारा पूजने योग्य होते हैं तथा वे जहाँ-जहाँ विचरण करते हैं वहाँ-वहाँ ईति और भीति आदि उपद्रवों का नाश हो

जाता है। यहाँ ईति शब्द से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, तीतर, मूषक, शुक, स्वचक्र भय और परचक्र भय– ये सात प्रकार के उपद्रव जानना चाहिए और भीति शब्द से– जल भय, अग्नि भय, विष भय, विषधर भय, दुष्टग्रह भय, राज भय, रोग भय, रणभय, राक्षसादि भय, रिपु भय, मारि भय, चोर भय और श्वापदादि अर्थात हिंसक पशु आदि का भय समझना चाहिए अथवा मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर आदि रोग और बंधन– ये आठ प्रकार के बड़े भय और उपलक्षण से अनेक प्रकार के भय जानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, रत्नजड़ित सिंहासन, आभामंडल, दुंदुभिनाद और छत्र– ये आठ प्रतिहार्य सभी में समान होते हैं। संक्षेप में कहें तो सभी तीर्थंकर चौतीस अतिशय से सम्पन्न और प्रभावकता आदि गुणों में समान होते हैं। यह तीर्थंकर पुरुषों का बाह्य स्वरूप है।

चौबीस तीर्थंकर देवों की स्तुति करने का मुख्य कारण उनके आभ्यंतर स्वरूप से परिचित होकर आत्मबोध करना है। वे अरिहंत है, भगवान है, धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्म रूपी तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं और स्वयं संबुद्ध है। वे पुरुषोत्तम,पुरुषों में सिंह के समान, पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, लोकोत्तम, लोक के नाथ, लोक का हित करने वाले, लोक में प्रदीप के समान और लोक में प्रकाश करने वाले हैं। तदुपरांत प्राणी मात्र को अभय देने वाले, अन्तर्चक्षु प्रदान करने वाले, सद्मार्ग दिखाने वाले, स्थिर शरण देने वाले, बोधि-सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले,चारित्र धर्म प्रदान करने वाले, धर्म देशना करने वाले, धर्म के नायक, धर्म के सारथी और धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं। साथ ही अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, छद्मस्थता से रहित, स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले, भव्य जीवों को राग-द्वेष जीताने वाले, स्वयं संसार समुद्र से तिरने वाले, दूसरों को तारने वाले, स्वयं बोधि को प्राप्त करने वाले, दूसरों को बोधि प्राप्त कराने वाले, स्वयं जन्म-मरण से मुक्त होने वाले, दूसरों को संसार दुःख से मुक्त करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, अचल, अरूज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध और मोक्ष स्थान को प्राप्त हैं।

दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा,काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा,

अविरति, राग और द्वेष– इन अठारह दूषणों से रहित हैं। इस प्रकार तीर्थंकर पुरुष प्रशमरस में निमग्न और पूर्णानंद स्वरूपी होते हैं। अरिहंत परमात्मा के इस आभ्यंतर स्वरूप का दर्शन, कीर्त्तन एवं स्तवन करने वाला साधक सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करता है। जिसके परिणाम स्वरूप सुख-दुख, मान-अपमान, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल आदि परिस्थितियों को समभाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। यही इस आवश्यक का सारतत्त्व और मूल हार्द है।

सन्दर्भ-सूची

1. *लोगस्ससूत्र एक दिव्य साधना, पृ. 7*
2. *अनगार धर्मामृत, 8/37*
3. *श्रीश्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र – प्रबोध टीका भा.-1, पृ. 197-198*
4. *नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंद पडिमाओ।*
   दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ।।
   चैत्यवंदनभाष्य, भा. 51
5. *श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र-प्रबोध टीका, भा. 1, पृ. 594-595*
6. *अन्वर्थ नाम को नाम गोत्र कहा जाता है।*
7. *तं महाफलं खलु तहारूवाणं भगवन्ताणं णामगोयस्स वि सवणयाए ।*
   राजप्रश्नीयसूत्र, मधुकरमुनि, सूत्र 11
8. *त्वत्संस्तवेन भवसंतति सन्निबद्धं, पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीर भाजाम्।*
   भक्तामरस्तोत्र, श्लो. 7
9. *अजिअजिण! सुहप्पवत्तणं, तव पुरिसुत्तम! नामकित्तणं।*
   अजितशांतिस्तव, गा. 4
10. *आस्तामचिन्त्य महिमा जिन संस्तवस्ते ।*
    नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।।
    कल्याणमन्दिरस्तोत्र, श्लो. 7
11. *एतेषामेकमप्यर्हन्नामुच्चारयन्नघैः ।*
    मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ।।
    जिनसहस्रनाम, 143

12. *सारमेतन्मया लब्धं, श्रुताब्धेरवगाहनात् ।*
भक्तिर्भागवती बीजं, परमानन्दसंपदाम् ।।
द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, 4/32

13. *प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 597-598*

14. *प्रतिमाशतक, पृ. 21*

15. *शांतिसरूप एम भावसे, जे धरी शुद्ध प्रणिधान रे ।*
आनंदघनपद पामसे, ते लहेसे बहुमान रे ।।
आनंदघनकृत शांतिजिनस्तवन

16. *चउवीसइत्थयस्स उ णिक्खेवो होइ वाम णिप्फन्नो ।*
चउवीसइस्स छक्को, थयस्स उ चउव्विहो होइ ।।
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1056
नामं ठवणा दविए खित्ते, काले तहेव भावे अ ।
चउवीसइस्स एसो, निक्खेवो छव्विहो होइ ।।
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, 190
(ग) मूलाचार, 7/540
(घ) अनगारधर्मामृत, 8/38-39 की टीका

17. *गोचरोऽपि गिरामासां, त्वमवाग्गोचरी मतः ।*
स्तोता तथाप्यसन्दिग्धं, त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत् ।
महापुराण, भा. 2/25/219

18. *अनगार धर्मामृत, 8/40*

19. *वही, 8/41 की टीका पृ. 583-586*

20. *मूलाचार, 7/540 की वृत्ति*

21. *अनगारधर्मामृत, 8/44 की टीका*

22. *मूलाचार, 7/540 की वृत्ति*

23. *जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 29*

24. *प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 603-604*

25. *भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा।*
आवश्यकनिर्युक्ति, 1097

26. *उत्तराध्ययनसूत्र, 29/10*

27. वही, 29/14
28. अनगार धर्मामृत, 8/45
29. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 929-930
30. श्रमणसूत्र, पृ. 79
31. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,
भा. 2, पृ. 394
32. वही, पृ. 395
33. न केवलाए तित्थगरत्थुतीए एताणि (आरोग्गादीणि) लब्भंति, किंतु तव संजमुज्जेणा।
आवश्यकचूर्णि, भा.2, पृ. 13
34. गीता, 18/66
35. सूत्रकृतांगसूत्र, 1/16
36. आवश्यकवृत्ति, पृ. 661-662
उद्धृत-अनुत्तरोपपातिक दशा भूमिका, पृ. 24
37. नियमसार, गा. 134-140
38. एगदुगतिसिलोगा (थुइओ) अन्नेसिं जाव हुंति सत्तेव।
देविंदत्थवमाई तेण, परं थुत्तया होंति ॥
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 581
39. सक्कय भासाबद्धो, गंभीरत्थो थओत्ति विक्खाओ।
पायय भासाबद्धं, थोत्तं विविहेहिं छंदेहिं ॥
चैत्यवन्दन महाभाष्य, 841
40. स्व स्वरूपानुसन्धानं भक्तिः। नमन और पूजन, पृ. 12
41. आवश्यकभाष्य, 192
42. उत्तराध्ययननिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक), 11/308-309
43. नन्दी मलयगिरि टीका, पत्र 2-3
44. सुबोधा सामाचारी, पृ. 5
45. लोकस्य चतुर्दशद्वारात्मकस्य। आचारदिनकर, पृ. 265
46. लोयदि आलोयदि पल्लोयदि, सल्लोयदिति एगत्थो।
जह्मा जिणेहिं कसिणं, तेणे सो वुच्चदे लोओ ॥
मूलाचार, गा. 542 की टीका

47. नामं ठवणा दविए खित्ते, काले भवे अ भावे अ।
पज्ज्वलोगे अ तहा, अट्ठविहो लोग निक्खेवो ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, 1057

48. णामट्ठवणं दव्वं खेत्तं, चिण्हं कसाय लोओ य।
भवलोगो भावलोगो, पज्जय लोगो य णादव्वो ।।

मूलाचार, गा. 543

49. दुविहो खलु उज्जोओ, नायव्वो दव्व भाव संजुत्तो।
अग्गी दव्वुज्जोओ, चंदो सूरो मणी विज्जू ।।
नाणं भावुज्जोओ...विआणाहि ।।

(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1059-1060
(ख) मूलाचार, गा. 554-557

50. दव्वुज्जोउज्जोओ, पगासई परिमियंमि खित्तंमि।
भावुज्जो उज्जोओ, लोगालोगं पगासेइ ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, 1062

51. नामंठवणातित्थं दव्वतित्थं च भावतित्थं च।

आवश्यकनिर्युक्ति, 1065

52. महानिशीथसूत्र, पृ. 43
53. अविसद्दगहणा पुण एरवयमहाविदेहेसुं ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, 1078

54. अपि शब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः।

आवश्यक हरिभद्र वृत्ति, भा. 2, पृ. 3

55. जिनवाणी प्रतिक्रमण विशेषांक, सन् 2006, नवम्बर, पृ. 195
56. जं पुण वंदइ किरिया, भणणं सुत्ते पुणो-पुणो सत्थ।
आयरपगासगत्ता, पुणरूत्तं तं न दोसगरं ।।

चैत्यवंदनमहाभाष्य, 538

57. आह- किं तेषां प्रदानसामर्थ्यमस्ति...
स्वयमेव तत्प्राप्तिरूपजायत इति।

आवश्यकनिर्युक्ति, पृ. 12

58. यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्यादि न... महासत्त्वस्य तत्सत्तानिबन्धनमेव तदुपजायत।
ललितविस्तरा, पृ. 314

59. *भासा असच्चमोसा, नवरं भत्तीए भासिया एसा।*
न हु खीण पेज्जदोसा, दिंति समाहिं च बोहिं च ॥
भत्तीए जिणवराणं, परमाए खीणपेज्जदोसाणं।
आरोग्यबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावेंति ॥

(क) चैत्यवंदन महाभाष्य, 634-635
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, 1095-1098

60. *नैवैतदारोग्यादि वाक्यं स्वतो निष्फलं, ...विशुद्धाध्यवसायहेतुत्वात्।*
धर्मसंग्रहणी मलयगिरिटीका, गा. 892 की टीका, पृ. 157

61. *लोगस्ससूत्र एक दिव्य साधना, पृ. 203-204*

●

अध्याय-4

वन्दन आवश्यक का रहस्यात्मक अन्वेषण

षडावश्यक में तीसरा वन्दन आवश्यक है। पूज्य पुरुषों को वंदन करने की परम्परा आचार जगत में सदा काल से जीवन्त रही है। उनमें भी देव और गुरु को विधिपूर्वक वन्दन किया जाता है क्योंकि ये पूज्यों में भी पूज्य हैं और इन्हें वंदन करने से श्रद्धा गुण विकसित होता है। जिस विधिपूर्वक अरिहंत देव को वन्दन किया जाता है उसे चैत्यवन्दन कहते हैं तथा जिस विधि से पंचमहाव्रतधारी गुरु को वन्दन किया जाता है उसे गुरुवन्दन कहते हैं।

वस्तुत: मोक्षमार्ग में तीर्थंकर देव को साधना के आदर्श के रूप में एवं गुरु को साधना मार्ग के पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया गया है अत: चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय आवश्यक के द्वारा तीर्थंकर परमात्मा की एवं वन्दन नामक तृतीय आवश्यक के द्वारा सद्गुरु की उपासना की जाती है। तीर्थंकर कालजयी एवं केवलज्ञान रूपी चरम लक्ष्य को समुपलब्ध उत्कृष्ट पुरुष होते हैं इसीलिए गुरु से पहले देव का स्थान होता है।

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जानना परम आवश्यक है कि वन्दनीय कौन हैं, वन्दन कब करना चाहिए, अवन्दनीय को वन्दन करने पर कौनसे दोष लगते हैं, वन्दन करते समय किन दोषों का परिहार करना चाहिए, वन्दन के कितने स्थान हैं, वन्दन कितने प्रकार से किया जा सकता है, वन्दन कितनी बार करना चाहिए आदि? वन्दन अधिकारी के लिए उपर्युक्त बिन्दुओं का परिज्ञान होना इसलिए जरूरी है क्योंकि इनकी सम्यक समझपूर्वक ही साधक इस आवश्यक का यथार्थ फल प्राप्त कर सकता है।

वन्दन शब्द का अर्थ विमर्श

वन्दन का सामान्य अर्थ है– अभिवादन, स्तुति, नमन आदि। जिनशासन में विनयपूर्वक नमन करने को वन्दन कहा गया है। अभिवादन और स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त 'वद्' धातु तथा करण एवं अधिकरण के योग में 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़कर वन्दन शब्द निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार वद् + ल्युट् + नुम् के संयोग

से वन्दन शब्द उत्पन्न है। आवश्यक टीका में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहा गया है कि "वन्द्यते-स्तूयतेऽनेन प्रशस्तमनोवाक्काय-व्यापारजालेनेति वन्दनम्" मन-वचन और काया का प्रशस्त व्यापार, जिसके द्वारा (उच्च स्थानीय को) वन्दन किया जाता है, स्तुति की जाती है वह वन्दन कहलाता है।[1]

आवश्यकचूर्णि में काया के प्रशस्त व्यापार को अभिवादन और वचन के प्रशस्त व्यापार को स्तुति कहा गया है। इन दोनों का संयुक्त रूप वन्दन है।[2]

प्रवचनसारोद्धार की टीका में शरीर, वचन और मन के विधियुत प्रणिधान को अथवा त्रियोग के सम्यक व्यापार को वन्दन कहा है।[3] धर्मसंग्रह के अनुसार मस्तक द्वारा अभिवादन करना अथवा सम्मान पूर्वक नमन करना वन्दन है।[4]

तत्त्वतः साधनाशील सत्पुरुषों के प्रति मन के द्वारा प्रशस्त चिन्तन करना, वचन के द्वारा स्तुति (गुणगान) करना और काया के द्वारा बहुमान का भाव प्रकट करना वन्दन कहलाता है।

वन्दन की शास्त्र सम्मत परिभाषाएँ

सद्गुणी के प्रति मानसिक, वाचिक एवं कायिक रूप से सर्वात्मना समर्पित हो जाना परमार्थ वन्दन है तथा औपचारिक रूप से बहुमान आदि प्रदर्शित करना व्यवहार वन्दन है। जैन साहित्य में वन्दन की अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। भगवती आराधना टीका में इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि वन्दन करने योग्य गुरुजन आदि के गुणों का स्मरण करना मनो वन्दना है, वचनों के द्वारा उनके गुणों का महत्त्व प्रकट करना वचन वन्दना है और नमस्कार, आवर्त्त आदि करना काय वन्दना है।[5] प्रस्तुत टीका में रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, वृद्ध साधु आदि के उत्कृष्ट गुणों का अवलोकन कर श्रद्धायुत भाव से विनय रूप प्रवृत्ति करने को भी वन्दन कहा है।[6]

कषाय प्राभृत के अनुसार एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है।[7] धवलाटीका के निर्देशानुसार ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती आदि केवली, आचार्य एवं चैत्यालय आदि के गुणों का स्मरण करना वन्दना है।[8] इसी के साथ "हे भगवन्! आप अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाले, केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को देखने वाले, धर्मोन्मुख शिष्ट जनों को अभयदान देने वाले, शिष्ट परिपालक और दुष्ट निग्रहकारी देव हैं" ऐसी प्रशंसा करना नाम वन्दना है।[9]

आचार्य अमितगति के अनुसार दर्शन, ज्ञान और चारित्रनिष्ठ विशुद्ध आत्मा को किया गया वन्दन उत्तम वन्दन है।[10]

आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार, जिससे पथ प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है उसे वन्दन कहते हैं। इस कर्म के द्वारा उन व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है, जो साधना पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़ चुके हैं।[11]

आशय है कि विनय गुण प्रकट करते हुए सद्गुरुओं का सर्व प्रकार से बहुमान करना, आदर करना, स्तुति करना वन्दन है।

वन्दन के पर्यायवाची एवं उनके दृष्टान्त

आवश्यकनिर्युक्ति, गुरुवन्दनभाष्य, मूलाचार आदि ग्रन्थों में वन्दना के पाँच नामान्तर बतलाये गये हैं। प्रवचनसारोद्धार में इन पर्याय नामों को 'अभिधान'– यह संज्ञा प्रदान करते हुए इसका विस्तृत निरूपण किया गया है। वन्दना के समानार्थी शब्द ये हैं– 1. वन्दनकर्म 2. चितिकर्म 3. कृतिकर्म 4. पूजाकर्म और 5. विनयकर्म।[12]

1. वन्दनकर्म– मन, वचन, काया के प्रशस्त व्यापार द्वारा गुरु को वन्दन करना, वन्दन कर्म है। इसके दो प्रकार हैं– (i) द्रव्य वन्दन–उपयोग शून्य सम्यक्त्वी का वन्दन (ii) भाव वन्दन-उपयोग युक्त सम्यक्त्वी का वन्दन।[13]

इस विषय में शीतलाचार्य का दृष्टान्त प्रसिद्ध है– श्रीपुर नगर में शीतल नाम का राजा था। उसके श्रृंगार मंजरी नाम की बहिन थी। उसके शुभ लक्षणों से युक्त चार पुत्र थे। राजा शीतल एकदा धर्मघोषसूरि के उपदेश से विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया। गुरु ने सुयोग्य जानकर उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

इधर माता की प्रेरणा एवं मामा के त्याग-वैराग्य की प्रशंसा सुनकर श्रृंगार मञ्जरी के चारों पुत्रों ने स्थविर मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार वे चारों ही विचरण करते हुए मातुल (मामा) आचार्य को वन्दन करने हेतु अवंति गये। संध्या हो जाने से वे नगरी के बाहर ही ठहर गये। किसी श्रावक ने शीतलाचार्य को मुनियों (भानजे) के आगमन की बात कही। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। रात्रिकाल में चारों मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हो गए, परिणामों की

विशुद्धि बढ़ने से चारों मुनियों को केवलज्ञान हो गया। दूसरे दिन सूर्योदय से ही शीतलाचार्य उनके आगमन की प्रतीक्षा करने लगे, किन्तु एक प्रहर दिन बीतने के बाद भी जब वे नहीं आये तो बेसब्र होकर वे स्वयं उनसे मिलने के लिए गए। चारों केवली मुनि आचार्य को आते हुए देखकर भी अपने स्थान से उठकर खड़े नहीं हुए। शीतलाचार्य के समीप आने पर भी वे चारों यथावत आसीन रहे। इस तरह का व्यवहार देखकर आचार्य से रहा नहीं गया और वे बोले– "क्या तुम्हें वन्दना भी मैं ही करूंगा?" मुनियों ने जवाब दिया– 'सुखं भवतु'। अज्ञानता वश आचार्य ने सोचा– ये मुनि कितने अविनीत हैं? फिर भी क्रोधावेश में वन्दन करने लगे। तब केवलज्ञानी मुनियों ने कहा– आवेश वश होने के कारण यह तुम्हारा द्रव्य वन्दन है, अतः भाव वन्दन करिये। मुनियों की यह बात सुनकर शीतलाचार्य आश्चर्य चकित हो उठे। उन्होंने पूछा कि– तुम लोगों ने मेरे भावों को कैसे जान लिया? मुनियों ने सही हकीकत कही। तब आचार्य को घोर पश्चात्ताप हुआ कि मैंने केवलज्ञानियों की आशातना कर दी। तदनन्तर भावधारा इतनी पवित्र एवं प्रकर्ष हो उठी कि केवलज्ञानियों को भाव वन्दन करते-करते वे स्वयं केवलज्ञानी हो गए। सारांश है कि एक कायिकी चेष्टा-द्रव्य वंदना बन्धन का हेतु बनती है वहीं एक कायिक चेष्टा-भाव वंदना के रूप में मोक्ष सहायक होती है।[14]

2. चितिकर्म– टीकाकार के अभिमतानुसार कुशल कर्म का संचय करना अथवा कारण में कार्य का उपचार करके रजोहरण आदि उपधि का संग्रह करना चितिकर्म है अथवा रजोहरण आदि शुभ उपकरणों द्वारा वन्दनादि शुभ-क्रिया करना, जिससे शुभ कर्म का संचय हो, वह चितिकर्म कहलाता है।[15]

मूलाचार के अनुसार जिस अक्षर समूह से या परिणाम से अथवा क्रिया से तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का चयन होता है– सम्यक प्रकार से अपने साथ एकीभाव होता है या संचय होता है, वह पुण्य संचय का कारणभूत कर्म, चितिकर्म है। यह कर्म दो प्रकार का है–

(i) **द्रव्य-चितिकर्म–** उपयोग शून्य सम्यक्त्वी जीव के द्वारा रजोहरण पूर्वक वन्दनादि शुभ क्रिया करना तथा तापस आदि के योग्य उपकरणों का संचय करके तापस योग्य क्रिया करना, द्रव्य कर्म है।

(ii) **भाव-चितिकर्म–** उपयोग युक्त सम्यक्त्वी के द्वारा रजोहरण आदि उपकरण पूर्वक वन्दना आदि शुभ क्रिया करना, भाव कर्म है।[16]

इस विषय में क्षुल्लक का दृष्टान्त है। इस भूतल पर गुणसुन्दरसूरि नाम के आचार्य थे। उन्होंने अपना अन्तिम समय निकट जानकर एक सुयोग्य क्षुल्लक (लघुवयस्क) मुनि को संघ की सहमतिपूर्वक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। पूर्वाचार्य कालधर्म को प्राप्त हो गए। इधर सभी गच्छवासी मुनि क्षुल्लकाचार्य की अनुज्ञा में रहने लगे। एकदा मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से क्षुल्लकाचार्य को चारित्र त्याग का भाव जागृत हुआ। वे देह चिंता के बहाने मुनियों के साथ जंगल की ओर गये। वही सहवर्ती मुनियों को एक वृक्ष की ओट से खड़ा करके स्वयं बहुत दूर चल दिये। वे चलते हुए पुष्प-फलादि से समृद्ध एक वनखण्ड में पहुँचे। जहाँ उन्होंने देखा कि कुछ लोग बकुलादि उत्तम वृक्षों को छोड़कर नीरस शमीवृक्ष की पूजा कर रहे हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ, किन्तु सोचने पर यह स्पष्ट भी हो गया कि शमीवृक्ष की पूजा के पीछे इसके चारों ओर घिरी हुई पीठिका ही कारण है।

इस दृश्य ने उनके मन को परिवर्तित कर दिया। वे पुनः संभले और अपने जीवन के बारे में सोचने लगे कि मैं शमीवृक्ष के समान निर्गुण हूँ, गच्छ में तिलक, बकुल आदि उत्तम वृक्षों के समान अनेक राजकुमार मुनि हैं, मुझसे भी अधिक ज्ञानी, गुणी एवं संयमी मुनि गच्छ में विद्यमान हैं फिर भी गुरु ने मुझे आचार्य पद पर स्थित किया। गच्छ के सभी मुनि मेरी पूजा करते हैं इसका मुख्य कारण गुरु प्रदत्त यह पद और रजोहरणादि उपकरण रूप चितिकर्म है। इस प्रकार अपने दुर्भाव पर घोर पश्चात्ताप करते हुए वसति की ओर लौट आए। गीतार्थ मुनियों के समक्ष अपने दुर्ध्यान की अन्तःकरण पूर्वक आलोचना कर शुद्ध बने।

यहाँ क्षुल्लकाचार्य के लिए चारित्र त्याग की इच्छा काल में रजोहरणादि उपधि का संचय होना द्रव्य चितिकर्म है और प्रायश्चित्त के समय इन्हीं रजोहरण आदि उपकरणों का संचय भाव चितिकर्म है।[17]

3. कृतिकर्म– वन्दन क्रिया या नमन क्रिया करना कृतिकर्म है। दिगम्बर परम्परावर्ती मूलाचार के अनुसार जिस अक्षर समूह से, जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों का क्षय किया जाता है वह कृतिकर्म है अथवा पापों के नाश करने का उपाय कृतिकर्म है। इसके दो भेद हैं–

(i) **द्रव्य-कृतिकर्म–** उपयोग शून्य सम्यक्त्वी की तथा निह्नवादि (जिन मत के विपरीत प्ररूपणा करने वाले) की नमन क्रिया द्रव्य कृतिकर्म है।

(ii) **भाव-कृतिकर्म–** उपयोगयुक्त सम्यक्त्वी की नमन क्रिया भाव कृतिकर्म है।[18]

इस वन्दन कर्म पर कृष्ण और वीरक शालवी का उदाहरण प्रसिद्ध है– द्वारिका नगरी में कृष्ण महाराजा के मुखदर्शन करने के पश्चात ही भोजन करने वाला वीरक नामक सेवक रहता था। वर्षावास काल में कृष्ण जी राजभवन से बाहर नहीं निकलते थे, अत: वीरक शालापति दर्शन के अभाव में भूखा रहने से कृश हो गया। चातुर्मास पूर्ण होने के बाद कृष्णजी ने वीरक को दुर्बलता का कारण पूछा, तब उसने अपनी बात बताई। यह सुनकर कृष्ण ने उसे किसी की अनुमति लिये बिना ही महल में आने की आज्ञा प्रदान कर दी।

इधर कृष्ण की विवाह योग्य पुत्रियों को कृष्ण के पास भेजा जाता था। वे सभी से एक ही बात पूछते कि 'तुम्हें रानी बनना है दासी?' जो राजकुमारी कहती कि 'मुझे रानी बनना है' तो उसे भगवान नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित कर देते। एकदा माता से सीख पाई हुई एक राजकुमारी ने दासी बनने की भावना अभिव्यक्त की। यह सुनकर उसे शिक्षा देने हेतु कृष्ण ने उसकी शादी सालवी के साथ कर दी और वीरा को समझा दिया कि राजकुमारी से घर का सभी काम करवाना। वीरा ने वैसा ही किया। राजकुमारी अल्प दिनों में ही परेशान हो गई और पिता श्रीकृष्ण से रानी बनने का निवेदन कर दीक्षित बन गई।

एक बार नेमिनाथ परमात्मा पुन: द्वारिका से पधारे। कृष्णजी ने भावपूर्वक अठारह हजार मुनियों को वन्दन किया। वीरक ने भी लज्जावश उनके साथ सभी को वन्दन किया।

यहाँ कृष्णजी का द्वादशावर्त्त वन्दन भाव-कृतिकर्म है, क्योंकि इस वन्दन के परिणामस्वरूप उनके चार नारकी के बन्धन टूटे और क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई जबकि वीरक का वन्दन द्रव्य कृतिकर्म है, उसे किसी तरह का लाभ प्राप्त नहीं हुआ।[19]

4. पूजाकर्म– मन, वचन, काया का प्रशस्त व्यापार पूजा कर्म है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार जिन श्लोकों आदि के द्वारा अरिहंत परमात्मा आदि पूजे जाते हैं– अर्चे जाते हैं, उन्हें पुष्पमाला, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं, वह

पूजा कर्म कहलाता है। यह कर्म दो प्रकार का प्रज्ञप्त है–

(i) **द्रव्य-पूजाकर्म–** उपयोग शून्य सम्यक्त्वी एवं निह्नव आदि का त्रियोग रूप प्रशस्त व्यापार द्रव्य-पूजाकर्म है।

(ii) **भाव-पूजाकर्म–** उपयोग युक्त सम्यक्त्वी का प्रशस्त व्यापार भाव-पूजाकर्म है।[20]

पूजाकर्म पर दो राजसेवकों का दृष्टान्त है। एक राजा के दो सेवकों में गाँव की सीमा को लेकर परस्पर विवाद हुआ। उसके न्याय हेतु दोनों ने राजदरबार में जाने का विचार किया। वे दोनों जा रहे थे कि उन्हें मार्ग में मुनि के दर्शन हो गए। एक ने विचार किया कि मुनि के दर्शन-वन्दन से मेरा काम अवश्य सिद्ध होगा और वह मुनि को प्रदक्षिणा पूर्वक वन्दन करके राज-दरबार में पहुँचा। दूसरे सेवक ने उसके देखा–देखी मुनि को वन्दना की। राजसभा में दोनों सेवकों के पक्षों पर सम्यक् विचार हुआ। अन्ततः भाव-वन्दन करने वाले सेवक के पक्ष में निर्णय हुआ और दूसरे सेवक की पराजय हुई।

यहाँ एक सेवक का वन्दन भाव-पूजाकर्म और दूसरे का अनुकरण रूप होने से द्रव्य-पूजाकर्म है।[21]

5. विनयकर्म– गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करना विनयकर्म है। मूलाचार के अनुसार जिसके द्वारा अशुभ कर्मों को संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि में परिवर्तित कर विनष्ट कर दिया जाता हो वह विनयकर्म है। इसके दो प्रकार हैं–

(i) **द्रव्य-विनयकर्म–** उपयोग शून्य सम्यक्त्वी एवं निह्नव आदि की गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति होना द्रव्य-विनयकर्म है।

(ii) **भाव-विनयकर्म–** उपयोगयुक्त सम्यक्त्वी की गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति होना भाव-विनयकर्म है।

विनयकर्म पर पालक और शाम्ब का उदाहरण कहा गया है– कृष्ण महाराजा के पालक और शाम्बकुमार आदि अनेक पुत्र थे। एक बार द्वारिका नगरी में भगवान नेमिनाथ का आगमन हुआ। कृष्ण ने अपने पुत्रों से कहा कि 'कल प्रातः जो प्रभु को सबसे पहले वन्दन करेगा उसे मैं अपना अश्वरत्न दूंगा।' यह सुनकर कृष्णपुत्र शाम्बकुमार ने प्रातः जल्दी उठकर अपनी शय्या पर बैठे-बैठे ही भगवान को वन्दन कर लिया, किन्तु पालक राजकुमार अश्वरत्न को पाने की इच्छा से भगवान के पास वन्दन करने गया। जब कृष्ण जी नेमिनाथ प्रभु

को वन्दन करने गये तो उन्होंने पूछा– हे प्रभु! आज आपको सर्वप्रथम वन्दना किसने की? प्रभु ने कहा– सर्वप्रथम द्रव्य वंदना पालक ने की और भाव वन्दना शाम्ब ने की। कृष्ण ने शाम्ब की वन्दना वास्तविक जानकर अपना अश्वरत्न उसे प्रदान किया।

यहाँ पालक का वन्दन द्रव्य विनय रूप और शाम्ब का वन्दन भाव विनय रूप है।[22]

समाहारतः उपयोगयुक्त तथा मन, वाणी एवं शरीर के उत्तम व्यापारयुक्त किया गया वन्दन ही चितिकर्म आदि पाँच प्रकार रूप वन्दन है। वन्दन क्रिया चितिकर्म आदि से युक्त ही होती है केवल परिणाम शुद्धि के आधार पर द्रव्यकर्म या भावकर्म वन्दन कहा जाता है। दिगम्बर परम्परा में तो वन्दनक्रिया 'कृतिकर्म' के नाम से ही प्रसिद्ध है। यहाँ विशेष रूप से यह उल्लेखनीय है कि आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में वन्दन के पर्यायवाची नामों में क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा साम्य है, केवल गुरुवंदनभाष्य में अन्तिम दो नामों का क्रम भिन्न हैं।

वन्दना के प्रकार

अध्यात्म आरोहण का एक आवश्यक कृत्य है– वंदन। साधक के तरतम भाव, देश-कालगत स्थिति एवं निक्षेपादि की अपेक्षा इसके दो, तीन, छह आदि प्रकार बताए गए हैं।

आवश्यक टीका में वन्दन के दो प्रकार कहे गये हैं– 1. द्रव्य वन्दन और 2. भाव वन्दन। भाव शून्य, लज्जावश, देखा-देखी शिष्टाचार पालन अथवा फलाकांक्षा से उत्प्रेरित होकर वन्दन करना, द्रव्य वन्दन है तथा आत्म शुद्धि को लक्ष्य में रखकर वन्दन करना, भाव वन्दन है। द्रव्य वंदन संसार सर्जन का हेतु बनता है जबकि भाव वंदन आत्मविशुद्धि का सेतु है।[23]

भगवतीआराधना टीका में अभ्युत्थान और प्रयोग के भेद से दो प्रकार बतलाए हैं। इन दोनों में से प्रत्येक के अनेक भेद कहे हैं। आचार्य आदि के समक्ष खड़े होना, बद्धांजलि युक्त होना, नतमस्तक होना, पीछे-पीछे चलना आदि अभ्युत्थान वन्दन है तथा बारह आवर्त्त, चार शिरोनति और मन, वचन, काया की शुद्धिपूर्वक वन्दन करना प्रायोगिक वन्दन है।[24]

गुरुवंदन भाष्य में वंदन के निम्न तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं– 1. फेटावंदन 2. थोभवंदन और 3. द्वादशावर्त्तवन्दन।[25]

1. फेटावंदन– फिट्टा अर्थात मार्ग। रास्ते चलते हुए मुनि को बद्धांजलि पूर्वक मस्तक झुकाकर वंदन करना फेटावंदन है।

2. थोभवंदन– स्तोभ अर्थात खड़े होकर वंदन करना अथवा दोनों हाथ, दोनों घुटने एवं मस्तक– इन पाँच अंगों को झुकाकर वंदन करना थोभवंदन है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की वर्तमान परम्परा में 'सुगुरु सुखशाता पृच्छा सूत्र' और 'अब्भुट्ठिओमि सूत्र' तथा स्थानकवासी-तेरापंथी परम्परा में 'तिक्खुत्तो' पाठ के उच्चारण पूर्वक यह वन्दन किया जाता है।

3. द्वादशावर्त्तवंदन– बारह आवर्त्त आदि विशिष्ट क्रियापूर्वक वंदन करना द्वादशावर्त्त वंदन है।

उक्त तीन प्रकारों को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट वंदन भी कहा गया है। जघन्य वंदन के समय मस्तक झुकाते हुए हाथ जोड़कर 'मत्थएण वंदामि' बोला जाता है। मध्यम वंदन करते समय खमासमणसूत्र, सुहराईसूत्र, अब्भुट्ठिओमि सूत्र आदि कहे जाते हैं तथा उत्कृष्ट वंदन करने हेतु सुगुरुवांदणा सूत्र बोलते हुए थोभ वंदन किया जाता है।

गीतार्थ परम्परानुसार प्रारम्भिक दो वंदन के अधिकारी सभी साधु-साध्वी हैं जबकि तीसरा द्वादशावर्त्तवंदन आचार्य आदि पदस्थ मुनियों को ही करना चाहिए। इस वंदनसूत्र की विशद व्याख्या यथास्थान करेंगे।

चैत्यवंदन भाष्य में प्रकारान्तर से तीन प्रणाम कहे गये हैं जो पूर्वकथित त्रिविध वंदन से प्राय: साम्य रखते हैं–

1. **अंजलि प्रणाम–** करबद्ध दोनों हाथों को मस्तक पर रखते हुए वंदन करना, अंजलि प्रणाम है।
2. **अर्धावनत प्रणाम–** खड़े हुए किंचित मस्तक झुकाते हुए वन्दन करना, अर्धावनत प्रणाम है।
3. **पंचांग प्रणाम–** दोनों हाथ, दोनों घुटने एवं मस्तक– इन पाँच अंगों के भूमिस्पर्श पूर्वक वंदन करना, पंचांग प्रणाम है।[26]

दिगम्बर के मूलाचार में वन्दना के छह प्रकार निक्षेप दृष्टि से बतलाये गये हैं–

1. **नाम वन्दना–** एक तीर्थंकर का नाम उच्चरित करना अथवा आचार्यादि के नाम का उच्चारण करना, नाम वन्दना है।

2. **स्थापना वन्दना–** एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का अथवा आचार्य आदि के प्रतिबिम्बों का स्तवन करना, स्थापना वन्दना है।
3. **द्रव्य वन्दना–** एक तीर्थंकर के शरीर का अथवा आचार्य आदि के शरीर का स्तवन करना, द्रव्य वन्दना है।
4. **क्षेत्र वन्दना–** तीर्थंकर और आचार्यादि से अधिष्ठित क्षेत्र की स्तुति करना अर्थात जहाँ तीर्थंकर आदि विचरण कर रहे हैं उस क्षेत्र का गुणगान करना, क्षेत्र वन्दना है।
5. **काल वन्दना–** जिस काल में तीर्थंकर आदि हुए, उस युग की स्तुति करना, काल वंदना है।
6. **भाव वंदना–** एक तीर्थंकर और आचार्य आदि के गुणों का शुद्ध परिणाम से स्तवन करना, भाव वन्दना है।[27]

गुणभृत पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना तथा कषायों और इन्द्रियों को नम्र करना विनय है। वन्दना, विनय का साकार रूप है। वन्दना के पाँच नामान्तरों में एक विनयकर्म भी माना गया है। इस तरह विनयरूप वन्दन के अनेक भेद-प्रभेद हैं। मूलाचार में सामान्यत: पाँच प्रकार का विनय बतलाया गया हैं–

1. **लोकानुवृत्ति विनय–** पूज्यजनों के आने पर आसन से उठकर खड़े होना, अंजलि जोड़ना, अपने आवास में आये हुए को आसन देना, अतिथि पूजा (अतिथिसंविभाग) करना, अपने वैभव के अनुसार देव पूजा करना, अनुकूल वचन बोलना, अनुकूल प्रवृत्ति करना, देशकाल के योग्य दान देना और लोक के अनुकूल रहना, लोकानुवृत्ति विनय है।
2. **अर्थनिमित्त विनय–** अर्थ के प्रयोजन से या कार्य सिद्धि के लिए उपर्युक्त क्रियाएँ करना, अर्थनिमित्त विनय है।
3. **कामतन्त्र विनय–** काम पुरुषार्थ के निमित्त पूर्व प्रकार का विनय करना, कामतन्त्र विनय है।
4. **भय विनय–** भय से रक्षा करने के लिए पूर्ववत विनय करना, भय विनय है।
5. **मोक्ष विनय–** मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञानादि का विनय करना, मोक्ष विनय है।[28]

मोक्ष विनय तीन, चार और पाँच प्रकार का कहा गया है–

(i) **दर्शन विनय–** सम्यग्दर्शन के अंगों का पालन, भक्ति, पूजा आदि गुणों का धारण और शंकादि दोषों का त्याग करना अथवा तीर्थंकर उपदिष्ट तत्त्व स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करना, दर्शन विनय है।

(ii) **ज्ञान विनय–** काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ, तदुभय– इन आठ प्रकार के ज्ञानाचार का पालन करना अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना ज्ञान विनय है।

(iii) **चारित्र विनय–** इन्द्रिय और कषायों के परिणाम का त्याग करना तथा गुप्ति-समिति आदि चारित्र के अंगों का पालन करना, चारित्र विनय है।

(iv) **तप विनय–** संयमधर्म के उत्तरगुणों जैसे– परीषह, भावना, तप आदि में उद्यम करना, परीषहों को सहन करना, तपस्वी की भक्ति करना, चारित्रनिष्ठ मुनियों का सम्मान करना, तप विनय है।

(v) **उपचार विनय–** आचार्य आदि के आने पर खड़े होना, नमस्कार करना, तदनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना आदि उपचार विनय है। यह विनय तीन प्रकार का है– (i) कायिक (ii) वाचिक और (iii) मानसिक। उनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष।

आचार्य आदि के उपस्थित रहते हुए तथा उनके परोक्ष में भी काय, वचन और मन से नमस्कार करना, उनके गुणों का कीर्त्तन करना और स्मरण करना उपचार विनय है। यहाँ उपरोक्त पाँच भेदों में पूर्वोक्त तीन और चार भेद भी समाविष्ट हो जाते हैं।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विनय आचार के अनेक स्तर एवं कोटियाँ हैं उनमें वन्दन सर्वोत्कृष्ट प्रकार है।[29]

गुरुवन्दन विधि

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में वन्दन के तीन प्रकार उल्लेखित हैं। उनकी प्रचलित विधि इस प्रकार है–

1. फेटा वंदन– जोड़े हुए दोनों हाथों को मस्तक पर रखते हुए **'मत्थएण वंदामि'** कहना अथवा बद्धांजलि सहित मस्तक झुकाना फेटा वंदन है। यह वन्दन प्राय: मार्ग चलते हुए मुनि को किया जाता है।

2. थोभ वंदन– सर्वप्रथम 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से दो बार पंचांग प्रणिपात करें। फिर अर्धावनत मुद्रा में खड़े होकर 'इच्छकार सुहराई' पाठ से सुखपृच्छा करें।

सुखपृच्छासूत्र– इच्छकार भगवन्! सुहराई? (सुहदेवसी) सुख तप शरीर निराबाध? सुख-संयम-यात्रा निर्वहते हो जी? स्वामिन्। शाता है जी?

फिर 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से एक बार वन्दना करें। पश्चात अर्धावनत मुद्रा में निम्न पाठ बोलते हुए आज्ञा लें।

"**इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं (देवसियं) खामेउं! इच्छं खामेमि**" बोलते हुए पाँचों अंग झुकाकर दाहिना हाथ जमीन पर और बायाँ हाथ मुख पर लगाकर 'गुरु क्षमापना' पाठ बोलें।

गुरु क्षमापनासूत्र– इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं खामेउं। इच्छं, खामेमि)– राइयं (देवसियं) जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं, भत्ते,पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतर भासाए, उवरि भासाए, जं किंचि मज्झ विणय परिहीणं, सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न जाणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

यह वन्दन पंचमहाव्रतधारी साधु-साध्वियों को किया जाता है। जैसे स्थानकवासी परम्परा में तीन बार 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दन करते हैं वैसे ही मूर्तिपूजक परम्परा में पूर्वोक्त सुखपृच्छासूत्र एवं गुरु क्षमापनासूत्र बोलकर गुरुवन्दन करते हैं।

3. द्वादशावर्त्त वन्दन– बारह आवर्त्त आदि विशिष्ट मुद्राओं के द्वारा वन्दन करना द्वादशावर्त्तवन्दन है। परम्परागत सामाचारी के अनुसार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और रत्नाधिक– इन पदस्थ मुनियों को यही वन्दन किया जाता है। तृतीय वन्दन आवश्यक से अभिप्रेत इसी वन्दन से है। इस वन्दन का यथावत पालन करने वाला वन्दन आवश्यक का कर्त्ता होता है। इस आवश्यक काल में प्रतिपाद्यमान विधि-प्रक्रिया के अनुसार सुगुरुवंदनसूत्र (द्वादशावर्त्तसूत्र) बोला जाता है। उसका मूलपाठ यह है–

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, अणुजाणह मे मिउग्गहं, निसीहि अहो कायं काय-संफासं खमणिज्जो भे! किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे! दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे? जवणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं, आवस्सिआए पडिक्कमामि। खमासमणाणं देवसिआए, आसायणाए, तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए, मण-दुक्कडाए वय-दुक्कडाए काय-दुक्कडाए, कोहाए माणाए मायाए लोभाए, सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्व धम्माइक्कमणाए, आसायणाए जो मे अइआरो कओ, तस्स खमासमणो। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।[30]

वन्दन आवश्यक का पालन कर्त्ता सुगुरुवंदनसूत्र को निम्न विधिपूर्वक उच्चारित करें–

1. सर्वप्रथम खड़े होकर **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह'** इतना पद बोलकर गुरु अवग्रह में प्रवेश करने के लिए आज्ञा मांगे।
2. फिर **'मे मिउग्गहं निसीहि'** शब्द बोलते हुए अवग्रह में प्रवेश कर गोदोहिक आसन में बैठें।
3. फिर **अ** – शब्द आसन पर रखे हुए रजोहरण, चरवला या मुखवस्त्रिका[31] पर गुरु चरणों की कल्पना करके दोनों हाथों की दसों अंगुलियों से उसका स्पर्श करते हुए बोलें।

   हो – शब्द दसों अंगुलियों से ललाट को स्पर्श करते हुए बोलें।
   का – शब्द दसों अंगुलियों से चरवला आदि को स्पर्श करते हुए बोलें।
   यं – शब्द दसों अंगुलियों से ललाट को स्पर्श करते हुए बोलें।
   का – शब्द दसों अंगुलियों से चरवला आदि को स्पर्श करते हुए बोलें।
   य – शब्द दसों अंगुलियों से ललाट को स्पर्श करते हुए बोलें।
4. **संफासं** – पद मुखवस्त्रिका पर अंजलिबद्ध हाथों को स्पर्शित कर, मस्तक झुकाते हुए बोलें।
5. **'खमणिज्जो भे किलामो'** से लेकर **'वइंक्कंतो'** तक के पद करसंपुट को मस्तक पर रखते हुए बोलें।
6. **ज** – शब्द कल्पित गुरुचरणों की स्थापना को दोनों हाथों की दसों

अंगुलियों से स्पर्श करते हुए अनुदात्त स्वर में बोलें।

ता – शब्द, गुरुचरणों की स्थापना से उठाये हुए दोनों हाथों को हृदय की सीध में रखते हुए स्वरित स्वर में बोलें।

भे – शब्द, दृष्टि को गुरु के समक्ष रखते हुए और दोनों हाथों को ललाट पर लगाते हुए उदात्त स्वर में बोलें।

ज – शब्द, कल्पित गुरुचरणों की स्थापना को दोनों हाथों की दसों अंगुलियों से स्पर्श करते हुए, अनुदात्त स्वर में बोलें।

व – शब्द, गुरु चरणों की स्थापना से उठाये हुए दोनों हाथों को हृदय की सीध में रखते हुए स्वरित स्वर में बोलें।

णि – शब्द, दोनों हाथों को ललाट पर स्पर्शित करते हुए उदात्त स्वर में बोलें।

ज्जं – शब्द, गुरुचरणों की स्थापना को दोनों हाथों से स्पर्श करते हुए अनुदात्त स्वर में बोलें।

च – शब्द, चरणों की स्थापना से उठाये हुए दोनों हाथों को हृदय की सीध में चौड़े करते हुए स्वरित स्वर में बोलें।

भे – शब्द, दोनों हाथों को ललाट पर स्पर्शित करते हुए उदात्त स्वर में बोलें।

7. **खामेमि खमासमणो–** यह पद मुखवस्त्रिका पर अंजलिबद्ध हाथों को स्थापित करते हुए और मस्तक को लगाते हुए बोलें। फिर खड़े होकर **'देवसिय वइक्कमं आवस्सियाए'** इस पद को बोलते हुए अवग्रह से बाहर निकलें। फिर ऊर्ध्वस्थित मुद्रा में ही **'पडिक्कमामि खमासमणाणं' से 'अप्पाणं वोसिरामि'** तक शेष पाठ बोलें। इसी तरह दूसरी बार द्वादशावर्त्तवन्दन करते हुए 'आवस्सियाए' शब्द को छोड़कर शेष पाठ अवग्रह में ही खड़े होकर बोलें।

निष्पत्ति– श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की **खरतरगच्छ, तपागच्छ, अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ** आदि परम्पराओं में वन्दन के तीनों प्रकार प्रचलित हैं। इसी के साथ वन्दन विधि एवं तद्विषयक सूत्रपाठों को लेकर सभी में पूर्ण समानता है।

स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में पूर्वोक्त तीनों वन्दन मान्य हैं किन्तु उनमें सूत्रभेद एवं विधिभेद है। प्रथम फेटावंदन मंदिरमार्गी परम्परा के समान ही

है। दूसरा थोभवंदन करते समय तीन बार **'तिक्खुत्तो'** पाठ बोलते हुए पंचांग प्रणिपात करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में सम्भवत: फेटा वंदन और द्वादशावर्त्त वंदन ही प्रचलित है। यहाँ द्वादशावर्त्तवन्दन को 'कृतिकर्म' कहा गया है। मूलाचार का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस परम्परा में देववन्दन, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ कृतिकर्म पूर्वक सम्पन्न होती हैं। दूसरे, दिगम्बर परम्परा में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय आदि नव देवता को यह कृतिकर्म किया जाता है। कृतिकर्म काल में दो अवनति, बारह आवर्त्त, चार शिरोनति, तीन शुद्धि और यथाजात- ये बाईस क्रियाकर्म होते हैं।[32]

दो अवनति- 'नमस्कारमंत्र' के आदि में एक बार अवनति अर्थात भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशतिस्तव के आदि में दूसरी बार अवनति अर्थात भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना- ये दो अवनति है।

द्वादश आवर्त्त- नमस्कार मंत्र के उच्चारण के प्रारम्भ में मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति होना- ये तीन आवर्त्त, नमस्कारमंत्र की समाप्ति में मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति होना- ये तीन आवर्त्त। इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव के प्रारम्भ में मन, वचन, काया की शुभप्रवृत्ति होना- ये तीन आवर्त्त एवं चतुर्विंशतिस्तव की समाप्ति में मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति होना- ये तीन आवर्त्त। इस तरह मन-वचन-काया की शुभप्रवृत्ति रूप बारह आवर्त्त होते हैं अथवा चारों ही दिशाओं में चार प्रणाम, ऐसे तीन प्रदक्षिणा में बारह हो जाते हैं।

चार शिरोनति- नमस्कार मंत्र के उच्चारण के आदि और अन्त में दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर लगाना, इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव के उच्चारण के आदि और अन्त में बद्धांजलि को मस्तक पर लगाना- ऐसे चार शिरोनति होती है।

यथाजात- जिस आकार में जन्म लिया है, उस मुद्रा से युक्त होकर वन्दन करना, यथाजात कहलाता है।

तीन शुद्धि- मन, वचन, काया की शुद्धि रखना।

इस तरह एक कृतिकर्म में दो अवनति, बारह आवर्त्त, चार शिरोनति, तीन शुद्धि एवं यथाजात- ऐसे बाईस क्रियाकर्म होते हैं।[33]

मूलाचार के पर्यावलोकन से यह भी अवगत होता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में देववन्दन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान करते समय कायोत्सर्ग विधि की जाती है और वह कृतिकर्म पूर्वक ही होती है। कृतिकर्म में **'सामायिक दण्डक'** और **'थोस्सामिस्तव'**– ये दो पाठ बोले जाते हैं। इन दो सूत्रपाठों के प्रारम्भ और अन्त में ही उपर्युक्त क्रियाकर्म सम्पन्न करते हैं। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर मान्य कृतिकर्म विधि श्वेताम्बर परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं, यद्यपि बारह आवर्त्त, चार शिरोनति आदि के नामों में साम्य है।

तुलना– यदि पूर्व निर्दिष्ट वंदन विधि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं–

• श्वेताम्बर परम्परा में बारह आवर्त्त आदि 25 आवश्यक रूप क्रियाओं को कृतिकर्म कहा है तथा इस क्रियानुष्ठान के लिए एक स्वतन्त्र सूत्र है, जो 'सुगुरु वंदन सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है जबकि दिगम्बर परम्परा में वैसा नहीं है।

• श्वेताम्बर परम्परा में कृतिकर्म (द्वादशावर्त्तवन्दन) के आठ कारण माने गये हैं जबकि दिगम्बर मत में कृतिकर्म के प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, वन्दन और योगभक्ति– ऐसे चार कारण माने गये हैं।

• श्वेताम्बर मान्य आवश्यकनिर्युक्ति एवं दिगम्बर मान्य मूलाचार में मुनियों के लिए दिन में चौदह बार कृतिकर्म करने का उल्लेख है। प्रभातकालीन प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय काल के तीन, इसी तरह सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय काल के तीन 7 + 7 = चौदह क्रिया कर्म होते हैं। किन्तु मूलाचार में अहोरात्रि में अट्ठाईस कायोत्सर्ग करने का भी निरूपण है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि दिन के 14 और रात्रि के 14 कुल मिलाकर 28 कृतिकर्म होते हैं और प्रत्येक कृतिकर्म का एक कायोत्सर्ग होता है अथवा प्रत्येक कायोत्सर्ग में एक कृतिकर्म होता है। ऐसा वर्णन श्वेताम्बर परम्परा में प्राप्त नहीं होता है।[34] दिगम्बर मान्यतानुसार दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी आठ, त्रिकाल देववन्दन सम्बन्धी छह, पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्वरात्रि और अपररात्रि– इन चार कालों में तीन बार स्वाध्याय सम्बन्धी बारह, रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन– इन दो समयों में दो बार योगभक्ति सम्बन्धी दो– इस प्रकार कुल अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं।[35]

• यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि दिगम्बर के अनुसार देववन्दन, प्रतिक्रमण,

आदि सर्व क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारम्भ में कृतिकर्म किया जाता है। जैसे कि देववन्दन का समय है और चैत्यभक्ति का पाठ पढ़ना है तो उसके प्रारम्भ में ।

1. पूर्व या उत्तराभिमुख खड़े होकर अथवा योग्य आसन में बैठकर निम्न वाक्य का उच्चारण करें–

"अथ पौर्वाह्निक-देववन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्री चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं"– यह कायोत्सर्ग के लिए प्रतिज्ञा वचन है।

2. तदनन्तर भूमि स्पर्श करते हुए पंचांग नमस्कार (वन्दन) करें। यह एक अवनति हुई। 3. तदनन्तर पूर्ववत खड़े होकर या बैठकर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके "णमो अरिहंताणं...चत्तारिमंगलं... अड्ढाइज्जदीव... इत्यादि पाठ बोलते हुए...दुच्चरियं वोसिरामि" तक पाठ बोलें, यह सामायिकस्तव कहलाता है। 4. पुन: तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करें। इस तरह सामायिक-दण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त्त और एक-एक शिरोनति = छह आवर्त्त और दो शिरोनति होती है। 5. फिर सत्ताईस श्वासोश्वास परिमाण नौ बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करें। 6. भूमि स्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें। इस तरह प्रतिज्ञा के अनन्तर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो जाती है। 7. फिर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके 'थोस्सामिस्तव' पढ़ें। पुन: अन्त में तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करें। इस तरह चतुर्विंशतिस्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त्त और दो शिरोनति हो जाती है। सामायिकस्तव सम्बन्धी छह आवर्त्त और दो शिरोनति तथा चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी छह आवर्त्त और दो शिरोनति = 12 आवर्त्त एवं 4 शिरोनति हो जाती है। इतना कृतिकर्म करने के पश्चात 'जयतु भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति पाठ पढ़ा जाता है।[36]

फलितार्थ है कि प्रतिक्रमण, देववन्दन, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान भक्ति पाठ के स्मरण द्वारा ही प्रारम्भ किये जाते हैं तथा भक्तिपाठ कायोत्सर्ग और कृतिकर्म करने के अनन्तर ही पढ़ा जाता है। यही कृतिकर्म विधि है।

• तुलनीय पक्ष से यह भी उल्लेख्य है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों की कृतिकर्म (द्वादशावर्त्तवन्दन) विधि में अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परानुसार कृतिकर्म

करते समय 'सुगुरुवंदन सूत्र' बोला जाता है और इसके 25 आवश्यक कर्म होते हैं, जबकि दिगम्बर मतानुसार सामायिकदण्डक, थोस्सामिस्तव आदि पढ़े जाते हैं और इसके क्रियाकर्म 22 होते हैं। श्वेताम्बर मतानुसार कृतिकर्म के दरम्यान कायोत्सर्ग विधि नहीं होती है, किन्तु दिगम्बर आम्नाय में छह आवर्त्त के पश्चात नौ नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग (स्मरण) किया जाता है।

मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन-विधि

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में सामायिक, प्रतिक्रमण, आचार्य आदि पदस्थ मुनियों को द्वादशावर्त्त वन्दन, प्रत्याख्यान ग्रहण आदि क्रियाओं में 25 बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका एवं 25 बोलपूर्वक शरीर की प्रतिलेखना की जाती है। उसकी विधि यह है–

1. सूत्र, अर्थ, सांचो सद्दहुं[37]

'सूत्र'-शब्द बोलते समय मुखवस्त्रिका के एक तरफ का सम्यक निरीक्षण करें।

'अर्थ, सांचो सद्दहुं'–यह शब्द बोलते समय मुखवस्त्रिका को बायें हाथ के ऊपर रखें, फिर बायें हाथ से पकड़ें हुए छोर (किनारे) को दाहिने हाथ में पकड़ें तथा दाहिने हाथ से पकड़े हुए छोर को बायें हाथ में पकड़ें। इस तरह मुखवस्त्रिका के दूसरे भाग को सामने लाकर उस भाग की प्रतिलेखना करें।

यह क्रिया करते हुए सूत्र एवं अर्थ रूप तत्त्व को सत्य समझें और उसकी प्रतीति कर उस पर श्रद्धा रखें।

2. पुरिम[38]–फिर मुखवस्त्रिका के बायें हाथ की तरफ का भाग तीन बार झाड़े-खंखेरे। इस समय (2 से 4) **सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय परिहरूं**– ये तीन बोल मन में बोलें।

दर्शन मोहनीय कर्म की उक्त तीनों प्रकृतियाँ दूर करने जैसी है अत: इन प्रकृतियों का चिन्तन करते हुए मुखवस्त्रिका को तीन बार खंखेरते हैं।

3. फिर मुखवस्त्रिका को बायें हाथ पर रखते हुए, उसके पार्श्व को मोड़कर दाहिने हाथ की तरफ के भाग को तीन बार खंखेरें। उस समय (5-6) **कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूँ**– ये तीन बोल मन में बोलें।

काम आदि तीन प्रकार के राग छोड़ने जैसे हैं अत: मुखवस्त्रिका को तीन

बार खंखेरते हैं।

4. पुरिम करने के पश्चात मुखवस्त्रिका को बायें हाथ पर डालकर दायें हाथ से इस प्रकार खींचे कि मुखवस्त्रिका के दो पट हो जाये।

5. **वधूटक**[39]– उसके बाद दाहिने हाथ की चार अंगुलियों के बीच दो या तीन वधूटक करें।

6. फिर दाहिने हाथ की चार अंगुलियों के तीन आंतरों के बीच में मुखवस्त्रिका को भरकर (वधूटक करके) नौ बार हल्के से खंखेरने की और नौ बार ग्रहण करने की क्रिया करें।

जैन शब्दावली में ग्रहण करने की क्रिया को अक्खोडा और खंखेरने की क्रिया को पक्खोडा कहते हैं। इस तरह नौ अक्खोडा और नौ पक्खोडा होते हैं।

7. **अक्खोडा**[40]**–** दायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वधूटक कर, दोनों जंघाओं के बीच स्थित बायें हाथ पर मुखवस्त्रिका को स्पर्श न करवाते हुए जैसे किसी को अन्दर ले जा रहे हों– इस तरह हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जन करें। उस समय (8 से 10) **सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूं–** ये तीन बोल बोलें।

8. **पक्खोडा**[41]**–** फिर पूर्ववत दायें हाथ में ग्रहण की हुई मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए जैसे–किसी वस्तु को झाड़ रहे हों– इस तरह कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जन करें। उस समय (11 से 13) **कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूं–** ये तीन बोल मन में कहें।

9. **अक्खोडा–** पुनः वधूटक पूर्वक दायें हाथ में ग्रहण की हुई मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श न करवाते हुए हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जना करें। उस समय (14-16) **ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं–** इन तीन बोलों का चिन्तन करें।

10. **पक्खोडा–** पुनः वधूटक पूर्वक दायें हाथ में गृहीत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जना करें। उस समय (17 से 19) **ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं–** ये बोल कहें।

11. **अक्खोडा–** पुनः पूर्ववत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श न करवाते हुए हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जना करें। उस समय (20 से

22) **मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं**– ये तीन बोल कहें।

12. पक्खोडा– पुनः पूर्ववत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जना करें। उस समय (23 से 25) **मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूं–** ये तीन बोल मन में कहें।[42]

इस प्रकार मुखवस्त्रिका प्रतिलेखना के समय 1 दृष्टि प्रतिलेखन + 6 पुरिम + 9 अक्खोडा + 9 पक्खोडा = 25 बोल से प्रमार्जना होती है। अंतः मुखवस्त्रिका प्रतिलेखना के 25 स्थान हैं।[43]

शरीर प्रतिलेखना– मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना शरीर प्रतिलेखना सहित होती है। प्रवचनसारोद्धार एवं गुरुवंदणभाष्य के अनुसार शरीर प्रतिलेखना की विधि इस प्रकार है[44]–

1. बायां हाथ– उकडु आसन में बैठकर दायें हाथ की अंगुलियों के बीच मुखवस्त्रिका को (वधूटक पूर्वक) पकड़ें। फिर बायें हाथ का प्रतिलेखन– **हास्य** कहते हुए बीच में, **रति** कहते हुए दायीं तरफ एवं **अरति परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

2. दायां हाथ– पुनः पूर्ववत आसन में बैठे हुए बायें हाथ की अंगुलियों के बीच मुखवस्त्रिका को पकड़ें। फिर दायें हाथ का प्रतिलेखन– **भय** कहते हुए मध्य में, **शोक** कहते हुए दायीं तरफ एवं **दुगुंछा परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

3. मस्तक– पुनः पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों से पकड़कर, ललाट की प्रतिलेखना– **कृष्ण लेश्या** कहते हुए बीच में, **नील लेश्या** कहते हुए दायीं तरफ एवं **कापोत लेश्या परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

4. मुख– पुनः पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों में पकड़कर, मुख की प्रतिलेखना– **ऋद्धि गारव**[45] कहते हुए मध्य में, **रस गारव** कहते हुए दायीं तरफ एवं **साता गारव परिहरुं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

5. हृदय– तदनन्तर पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों से पकड़कर, हृदय की प्रतिलेखना– **माया शल्य** कहते हुए मध्य भाग में, **निदान शल्य** कहते हुए दायीं तरफ एवं **मिथ्यादर्शन शल्य परिहरूं**

कहते हुए बायीं तरफ करें।

6. कंधा– फिर **क्रोध मान परिहरूं** कहते हुए दायें कंधे का प्रतिलेखन करें। फिर **माया लोभ परिहरूं** कहते हुए बायें कंधे का प्रतिलेखन करें।

7. पाँव– तत्पश्चात **पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय जयणा करूं** कहते हुए क्रमशः दाहिने पाँव के मध्य, दायें एवं बायें भाग की प्रतिलेखना रजोहरण या चरवला से करें। फिर **वाउकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय जयणा करूं** कहते हुए क्रमशः बायें पाँव के मध्य आदि भागों की प्रतिलेखना रजोहरण से करें।

इस प्रकार बायें हाथ की 3, दायें हाथ की 3, मस्तक की 3, मुख की 3, हृदय की 3, दायें-बायें कंधे की 4, दायें पांव की 3, बायें पाँव की 3 ऐसे कुल शरीर के 25 स्थानों की प्रतिलेखना और प्रमार्जना होती है।

ध्यातव्य है कि उक्त पच्चीस प्रकार की शरीर प्रतिलेखना पुरुष के होती है। स्त्रियों के गोप्य अवयव आवृत्त होने से उनके दोनों हाथ की 6, दोनों पाँव की 6, मुख की 3 ऐसे कुल 15 स्थानों की ही प्रमार्जना होती है। मुखवस्त्रिका एवं शरीर प्रतिलेखना की प्रायोगिक विधि गुरूगम पूर्वक सीखनी चाहिए। यहाँ तो उस विधि का उल्लेख मात्र किया है।

संडाशक प्रमार्जन विधि

सामायिक, प्रतिक्रमण, द्वादशावर्त्तवन्दन आदि करते समय संकोच-विस्तार को प्राप्त होने वाले संधिस्थानीय अंग संडाशक कहलाते हैं। वन्दन करते वक्त अहिंसाव्रत के परिपालनार्थ इन अंगीय स्थानों की प्रमार्जना आवश्यक है। उसकी विधि यह है–

सर्वप्रथम **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए'** इतना पाठ दोनों हाथ जोड़कर बोलें।

(1 से 3) **पाँव के पीछे का भाग–** पीछे के भाग में 1. सर्वप्रथम दाहिना पाँव पूरा (कटि भाग से पिंडली तक), फिर दाएं और बाएं पाँव के बीच का भाग, फिर बायां पाँव पूरा (कटि भाग से लेकर पिंडली तक) ऐसे तीन स्थानों की प्रमार्जना करें।

(4 से 6) **पाँव के आगे का भाग–** फिर पूर्ववत विधि से, पाँव के अग्र भाग में – दायाँ पाँव पूरा, फिर दायें एवं बायें पावँ के बीच का भाग, फिर बायाँ पाँव पूरा– इन तीन स्थानों की चरवला या रजोहरण से प्रमार्जना करें।

(7 से 9) **पैरों के आगे की भूमि का भाग–** तत्पश्चात भूमि के ऊपर 1. दायें पाँव के सम्मुख 2. फिर दायें एवं बायें पाँव के बीच की भूमि के सम्मुख 3. फिर बायें पाँव के सम्मुख– इन तीन स्थानों की प्रमार्जना करें।

10. बायें हाथ का भाग– तदनन्तर नीचे बैठकर एवं दायें हाथ में मुखवस्त्रिका ग्रहण करके ललाट के दायीं ओर से सलंग प्रमार्जन करते हुए पूरा ललाट, पूरा बायाँ हाथ एवं बायें हाथ के पीछे के भाग में कोहनी तक प्रमार्जना करें।

11. दायें हाथ का भाग– फिर बायें हाथ में मुखवस्त्रिका ग्रहण कर बायीं तरफ से प्रमार्जन करते हुए पूरा ललाट, पूरा दाहिना हाथ एवं दाहिने हाथ के पीछे के भाग में कोहनी तक प्रमार्जना करें।

(12 से 14) **रजोहरण या चरवला का भाग–** तत्पश्चात रजोहरण या चरवला के ऊपर मुखवस्त्रिका से तीन बार आडी प्रमार्जना करें।

(15 से 17) **पैरों के पीछे की भूमि का भाग–** फिर खड़े होने के समय पाँव के पीछे की भूमि का रजोहरण से तीन बार प्रमार्जन करें।

इस प्रकार 3 प्रमार्जना पाँव के पीछे के भाग में, 3 प्रमार्जना पाँव के आगे के भाग में, 3 प्रमार्जना पाँव के आगे की भूमि में रजोहरण या चरवला से की जाती है।

2 प्रमार्जना ललाट से लेकर दोनों हाथ की कोहनी तक मुखवस्त्रिका से की जाती है।

3 प्रमार्जना रजोहरण के दसियाँ की और 3 प्रमार्जना पाँव के पीछे की भूमि पर रजोहरण या चरवला से की जाती है।

इस तरह कुल सत्रह संधिस्थानों (संडाशक) की प्रमार्जना होती है।

वन्दन आवश्यक में प्रयुक्त सूत्रों का परिचय

वन्दन आवश्यक से तात्पर्य द्वादशावर्त्तवन्दन (कृतिकर्म) से है, शेष दोनों वन्दन से नहीं। किन्तु वन्दन अधिकार के सन्दर्भ में त्रिविध वन्दन-विधि दर्शायी गई है क्योंकि दैनिक धार्मिक कृत्यों में उनका उपयोग होता है अत: इनमें प्रयुक्त सभी सूत्रों का परिचय दिया जा रहा है–

खमासमणसूत्र– थोभ (स्तोभ/छोभ) वंदन में उपयोगी सूत्र। स्तोभ का अर्थ है– अटकना। इस शब्दार्थ के अनुसार खड़े रहकर जो वंदन किया जाता

है वह स्तोभवंदन कहलाता है।

थोभवंदन– दो खमासमण पूर्वक होता है। दो हाथ, दो घुटने एवं मस्तक– इन पाँच अंगों को झुकाकर वन्दन करना थोभवंदन है। थोभ का प्राकृत-देशज शब्द 'छोभ' है अत: मूलपाठ में इसका नाम छोभ ही है। इस प्रकार थोभवंदन करते समय इस सूत्र का उच्चारण किया जाता है।

इस सूत्र का दूसरा नाम प्रणिपातसूत्र है। यह सूत्रपाठ क्षमाश्रमण (मुनि) को वन्दन करने में उपयोगी होने से इसका एक नाम खमासमणसूत्र भी है।

यह ज्ञातव्य है कि सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन आदि धार्मिक क्रियाओं में खमासमणसूत्र का विशेष प्रयोग होता है अत: इस सूत्र की परिगणना अति उपयोगी सूत्र में की गई है।

प्रबोध टीकाकार के अनुसार खमासमणसूत्र–सुगुरुवंदनसूत्र के आधार से योजित है तथा ओघनिर्युक्ति (203) की द्रोणाचार्य टीका में इसका पाठ उपलब्ध है।[46]

सुखशाता-पृच्छासूत्र– इसका दूसरा नाम 'गुरु निमंत्रण सूत्र' है। इस सूत्र के द्वारा शिष्य गुरु से सुखपृच्छा करता है कि आपकी विगत रात्रि या विगत दिन सुखपूर्वक बीता होगा, आपकी तपश्चर्या सुखपूर्वक प्रवर्त्तमान होगी, आपकी संयमयात्रा का निर्वाह सुखपूर्वक हो रहा होगा। तत्पश्चात आहार-पानी के लिए निमंत्रण देकर 'धर्मलाभ' प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करता है। तब गुरु-आमंत्रण स्वीकार या निषेध न करते हुए 'वर्तमान योग' शब्द का उच्चारण करते हैं।

नियमत: साधुओं का व्यवहार वर्तमानकालिक होता है। महानिशीथसूत्र में कहा भी गया है कि– आयुष्य का विश्वास नहीं है और करणीय कार्यों में अनेक अंतराय संभव है, इस कारण साधुओं का व्यवहार सदैव वर्तमान योग पूर्वक ही होता है।[47]

वन्दन के लिए उपस्थित शिष्य द्वारा यह सूत्रपाठ दोनों हाथ जुड़े हुए अर्धावनत मुद्रा में बोला जाता है।

इस सूत्र के माध्यम से शरीर-संयम-तप आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूछने का प्रयोजन यह है कि निष्परिग्रही-निर्ममत्वी मुनियों की वास्तविक परिस्थिति का संकेत मात्र भी मिल जाए या किसी तरह के उपायों की योजना करनी हो, तो सम्भव होता है। इससे गुरु सेवा का पुण्य लाभ अर्जित होता है, जो तीर्थंकर

प्रकृति का उपार्जन करने में हेतुभूत है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जाए तो आगमिक एवं आगमेतर साहित्य में यह सूत्र स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं होता है। प्रबोध टीकाकार[48] के अनुसार इस सूत्र का 'शाता छे जी' पर्यन्त पाठ आवश्यक मूलसूत्र के तृतीय अध्ययन में गुंफित 'सुगुरुवंदन' के निम्न पाठ का सारांश हो, ऐसा ज्ञात होता है–

"अप्प-किलंताणं बहुसुभेण भे! दिवसो वइक्कंतो? (राई वइक्कंता) जत्ता भे? जवणिज्जं च भे?" आदि।

"भात-पाणी का लाभ देना जी"– यह पंक्ति गुरु निमंत्रणसूत्र के स्थान में योजित की गई ज्ञात होती है। गुरु निमंत्रणसूत्र का यह पाठ भगवती आदि सूत्रों में आगत निम्न आलापक के आधार से निर्मित किया गया प्रतीत होता है।

'समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह–कंबल-पायपुंछणेणं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं पडिलाभेमाणे विहरइ'।

श्री हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र स्वोपज्ञविवरण (पृ. 181) में अतिथिसंविभाग व्रत के प्रसंग में उक्त आलापक का उल्लेख है। इस तरह सुखशाता-पृच्छासूत्र की रचना पूर्वोक्त सूत्रों के आधार पर की गई मालूम होती है।

अब्भुट्ठिओसूत्र– इसका अपर नाम 'गुरु क्षमापनासूत्र' है। इस सूत्र के द्वारा शिष्य गुरु के प्रति होने वाले छोटे-बड़े समस्त अपराधों की क्षमायाचना करता है। गुरु भी शिष्य से क्षमापना करके क्षमादान देते हैं अत: इसका नाम क्षमापनासूत्र है। इस सूत्र का मूल पाठ 'अब्भुट्ठिओ' शब्द से शुरू होता है इसलिए अब्भुट्ठिओसूत्र के नाम से भी प्रसिद्ध है।

प्रतिदिन गुरुवंदन करते समय प्रथम दो खमासमण देने के पश्चात तथा सुखपृच्छासूत्र द्वारा शाता आदि पूछने के बाद (पदस्थ हो तो पुन: एक खमासमण देकर) वज्रासन में स्थित हो, मस्तक को भूमि पर स्पर्शित करते हुए, बाएं हाथ में धारण की गई मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखकर तथा गुरु के चरणों का स्पर्श कर रहा हूँ ऐसा विचार करते हुए दाएं हाथ को उस दिशा की ओर लम्बा करके यह सूत्र बोला जाता है। प्रतिक्रमण में भी इस सूत्र का उपयोग होता है।

चारित्रनिष्ठ मुनियों के प्रति तीन प्रकार के अपराध सम्भव है–

1. अप्रीति या विशेष अप्रीति उत्पन्न करने वाले कार्यों में जैसे–आहार-पानी, औपचारिक विनय, दशविध वैयावृत्य, आसन ग्रहण और वार्त्तालाप आदि प्रसंगों में अपराध होना सम्भव है।

2. किसी तरह के अविनय कृत्य से, जिसका शिष्य को ध्यान हो।

3. किसी तरह के अविनय आचरण से, जिसका शिष्य को ध्यान न हो, परन्तु गुरु को बराबर ध्यान में हो।

अब्भुट्ठिओसूत्र द्वारा 'जं किंचि अपत्तिअं परपत्तिअं भत्ते पाणे विणए वेआवच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए''– इतने पद बोलकर प्रथम प्रकार के अपराधों की क्षमा मांगते हैं।

फिर 'जं किंचि मज्झ विणय परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा'– ये पद बोलकर दूसरे प्रकार के अपराधों की क्षमापना करते हैं और अन्त में 'तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं'– इतना पाठ कहकर तीसरे प्रकार के अपराधों की क्षमायाचना करते हैं।[49]

आवश्यकसूत्र के पाँचवें अध्ययन में शब्दान्तर से यह पाठ उपलब्ध है।

सुगुरुवंदनसूत्र– गुरु को द्वादशावर्त्त वंदन करते समय यह सूत्र बोला जाता है, अतः इसका नाम गुरुवंदनसूत्र है। यहाँ गुरु शब्द से अभिप्रेत आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और रत्नाधिक– इन पदस्थ मुनियों से है। गुरु शब्द सद्गुरु का वाचक है, नामधारी गुरुओं का वाचक नहीं है अतः सद्गुरु ही वंदन करने योग्य है।

पूर्वनिर्दिष्ट वंदन के तीन प्रकारों में यह वंदन का उत्कृष्ट प्रकार है तथा द्वादशावर्त्त वंदन मुख्य होने से इस सूत्र को 'द्वादशावर्त्त वन्दनसूत्र' भी कहा जाता है।

श्वेताम्बर परम्परानुसार संकल्प रूप से स्थापित गुरु के चरणों का स्पर्श करके स्वयं के मस्तक का स्पर्श करना, आवर्त्त कहलाता है। एक वंदन में छः आवर्त्त होते हैं, इसलिए दो बार वंदन करने पर बारह आवर्त्त होते हैं।

सामान्यतया गुरुवंदन को वंदनकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म कहा जाता है। इन पाँचों वन्दन में द्वादशावर्त्तवंदन के लिए 'कृतिकर्म' शब्द का प्रयोग होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने वंदन का विशिष्ट अर्थ बतलाते हुए कहा है कि वंदन योग्य धर्माचार्यों को 25 आवश्यक से विशुद्ध और 32 दोषों से रहित नमस्कार करना है।[50] द्वादशावर्त्तवन्दन पच्चीस आवश्यक क्रियाओं से समन्वित होकर ही किया जाता है।

गुरुवंदन के पच्चीस आवश्यक— आवश्यकनिर्युक्ति, गुरुवंदनभाष्य आदि में उल्लेखित पच्चीस आवश्यक निम्न हैं–

दो अवनत, यथाजातमुद्रा, द्वादशावर्त्त रूप कृतिकर्म, चार शिरोनमन, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण– ये पच्चीस वंदन कर्म हैं।

अवनमन— सिर झुकाकर वन्दन करना अवनमन कहलाता है। गुरुवन्दन करते समय दो अवनमन होते हैं–

(i) इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए– इन पाँच पदों के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने हेतु आज्ञा माँगते हुए किंचित मस्तक झुकाना, प्रथम अवनमन है।

(ii) दूसरी बार वन्दन करते समय पुनः इन्हीं पदों के उच्चारण पूर्वक मस्तक सहित आधा शरीर झुकाना, दूसरा अवनमन है।

यथाजात— जन्म के समय जैसी मुद्रा हो अथवा दीक्षा ग्रहण करते समय जैसी मुद्रा धारण की जाती है उस नम्र मुद्रा (जुड़े हुए हाथों को मस्तक पर लगाना ऐसी मुद्रा) से युक्त होकर वन्दन करना, यथाजात आवश्यक है। जन्म दो प्रकार का होता है–

(i) भवजन्म– माता के गर्भ से बाहर आना।

(ii) दीक्षाजन्म– संसार माया रूपी स्त्री की कुक्षि से बाहर आना।

यहाँ यथाजात का प्रयोजन उभय जन्मों से है। भव जन्म के समय शिशु के दोनों हाथ ललाट पर लगे हुए होते हैं उसी तरह वंदन-कर्त्ता शिष्य भी दोनों हाथ ललाट पर लगाते हुए विनम्र मुद्रा से वंदन करें। दीक्षा लेते समय मुनि के चोलपट्ट, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका– ये तीन उपकरण मुख्य होते हैं वैसे ही द्वादशावर्त्तवंदन के समय गृहस्थ या मुनि तीन उपकरण ही रखें। मुनि हो, तो पूर्वोक्त तीन उपकरण रखें तथा गृहस्थ हो, तो धोती-चरवला एवं मुखवस्त्रिका– ये तीन उपकरण रखें। शरीर का ऊर्ध्वभाग आवृत्त रहना चाहिए।

आवर्त्त— सूत्रोच्चारण पूर्वक विशेष प्रकार की शारीरिक क्रिया आवर्त्त

कहलाती है। द्वादशावर्त्तवंदन करते समय 'अहो-कायं-काय' ये तीन और 'जत्ता भे, जवणि, ज्जं च भे'– ये तीन पद बोलते हुए मुखवस्त्रिका या चरवले पर कल्पित गुरु के चरण कमलों का हाथों से स्पर्श कर, फिर मस्तक से स्पर्श करना आवर्त्त कहलाता है।

प्रथम बार के वन्दन में अहो...कायं...काय संफासं = 3 आवर्त्त, जत्ता भे...जवणि...जं च भे = 3 आवर्त्त

इसी तरह दूसरी बार के वन्दन में 6 आवर्त्त होते हैं। इस प्रकार 6 + 6 = 12 आवर्त्त होते हैं।

'अहो कायं...' आदि बोलने की विशिष्ट रीति बता चुके हैं।

शिरोनमन– द्वादशावर्त्त वन्दन करते समय पूरी तरह से मस्तक झुकाना, शिरोनमन है। इस वन्दन के बीच चार बार सिर-नमन होता है। एक मतानुसार शिष्य के दो तथा गुरु के दो-ऐसे चार शिर नमन होते हैं

'खामेमि खमासमणो...देवसियं वइक्कमं...' यह पद बोलते हुए शिष्य के द्वारा मस्तक झुकाना।

'अहमवि खामेमि तुमं...' यह सुगुरुवंदनसूत्र का मूल पद नहीं है, किन्तु शिष्य के द्वारा क्षमायाचना की जाने पर गुरु भी प्रत्युत्तर में क्षमापना करते हुए किंचिद् झुकते हैं। इस प्रकार दुबारा वन्दन करते समय शिष्य का और गुरु का 1-1 नमन। इस तरह दो बार में चार शिरोनमन होते हैं। अन्य मतानुसार 'कायसंफासं' पद बोलते हुए अपने मस्तक को गुरु चरणों में झुकाना अथवा मुखवस्त्रिका पर कर युगल को स्थापित कर उस पर मस्तक लगाना एक शिरोनमन है और 'खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कमं' पद बोलते हुए अपने मस्तक को पुनः गुरु चरणों में झुकाना, दूसरा शिरोनमन है। इस प्रकार दुबारा वन्दन करते समय भी पूर्ववत दो शिरोनमन होते हैं ऐसे कुल चार शिरोनमन हो जाते हैं। ये चारों 'सिरनमन' शिष्य के ही हैं। वर्तमान में यही व्यवहार प्रचलित है।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दो अवनमन भी शीर्ष नमन है और चार शीर्ष नमन में भी वही है, फिर इन दोनों आवश्यकों में क्या अन्तर है? इसका समाधान है कि अवनत आवश्यक में शिष्य के किंचिद् नमन की अपेक्षा रहती है, जबकि शीर्ष आवश्यक में नमन करते हुए समग्र शीर्ष की और उसमें

भी शिष्य के विशेष शीर्ष नमन की मुख्यता है, यही दोनों में भेद है।

गुप्ति– मन, वचन और काया को बाह्य व्यापार से निवृत्त रखते हुए वन्दन करना त्रिगुप्त वन्दन है।

मन की एकाग्रता पूर्वक वंदन करना मनगुप्ति है।

सूत्राक्षरों का शुद्ध एवं अस्खलित उच्चारण करते हुए वन्दन करना वचनगुप्ति है।

बत्तीस दोष रहित वन्दन करना कायगुप्ति है।

प्रवेश– गुरु को वन्दन करने के लिए उनके अवग्रह में अनुमति पूर्वक प्रवेश करना, प्रवेश आवश्यक है। वन्दन करते समय दो बार प्रवेश होता है– प्रथम वन्दन के समय 'निसीहिआए' या 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' पद बोलते हुए गुरु के अवग्रह में प्रवेश करना पहला प्रवेश है। इसी प्रकार दूसरे वन्दन के समय प्रवेश करना, दूसरा प्रवेश है।

निष्क्रमण– गुरु के अवग्रह में से 'आवस्सियाए' पद बोलते हुए बाहर निकलना निष्क्रमण आवश्यक है। यह द्वादशावर्त्त वन्दन में एक ही बार होता है, क्योंकि प्रथम बार के वन्दन में 'आवस्सियाए' बोलते हुए अवग्रह से बाहर निकलना होता है। परन्तु दुबारा वन्दन में आवर्त्त करने के पश्चात अवग्रह में खड़े रहकर ही शेष सूत्रपाठ बोलना होता है, इसी कारण दूसरी बार के वन्दन में 'आवस्सियाए' पद नहीं बोला जाता है, ऐसा विधिमार्ग है।

वन्दन इच्छुक साधकों को इन पच्चीस आवश्यक स्थानों का यथावत अनुसरण करना चाहिए।[51]

षट्स्थान– कृतिकर्म करने वाला शिष्य द्वादशावर्त्तवंदन सूत्र के द्वारा गुरु से छ: प्रकार के प्रश्न करता है, तब गुरु प्रत्युत्तर देते हैं। इस प्रकार शिष्य और गुरु दोनों के छह छह स्थान होते हैं। शिष्य के आलापक (वचनस्थान) वंदनसूत्र में ही समाविष्ट हैं जबकि गुरु के वचन गुरुवंदनभाष्य आदि में इस प्रकार प्राप्त होते हैं–

1. इच्छा निवेदनस्थान

शिष्य– **'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए'–**

हे क्षमाश्रमण! मैं आपको निर्विकार और निष्पाप काया से वंदन करने की इच्छा करता हूँ, ऐसी आज्ञा मांगे।

• इस आलापक के द्वारा वंदन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, इसलिए यह इच्छा निवेदनस्थान कहलाता है।

गुरु–**'छंदेणं'** – तुम इच्छानुसार प्रवृत्ति करो, ऐसा कहे। वृत्तिकार के अनुसार गुरु को वंदन करवाना हो तो 'छंदेणं' शब्द कहें। यदि कार्यादि में व्यस्त हो या क्षोभादि से युक्त हो तो **'त्रिविधेन'**– मन, वचन, काया से वन्दन करना निषिद्ध है, ऐसा कहें। तब शिष्य संक्षेप में वन्दन करें।

2. अनुज्ञापन स्थान

शिष्य– **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'**– मुझे आपके समीप आने की अनुज्ञा दीजिए, इस तरह अवग्रह में प्रवेश करने की अनुमति मांगे।

गुरु– **'अणुजाणामि'** – अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा है, ऐसा कहे।

3. अव्याबाध पृच्छास्थान

शिष्य– **'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो'**– अल्प ग्लानि वाले (सदैव प्रसन्न चित्त वाले) आपका दिवस सुखपूर्वक व्यतीत हुआ होगा, ऐसा पूछे।

गुरु– **'तहत्ति'** – मैं वैसा ही हूँ, मेरा दिवस सुखपूर्वक सम्पन्न हुआ है।

4. यात्रा पृच्छास्थान

शिष्य– **'जत्ता भे'** आपकी संयम यात्रा सुखपूर्वक चल रही है?

गुरु– **'तुब्भंपि वट्टए'** – हाँ! मेरी तो सुखपूर्वक चल रही है, पर तुम्हारी भी सुखपूर्वक चल रही है न?

5. यापना पृच्छास्थान

शिष्य– **'जवणि ज्जं च भे'**– हे भगवन्! आपकी इन्द्रियाँ और कषाय नियन्त्रित है न? आपके आत्मस्वरूप का उपघात तो नहीं कर रही है न?

गुरु– **'एवं'** ऐसा ही है।

6. अपराध क्षमापनास्थान

शिष्य– **'खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं'**– हे क्षमाश्रमण! आज दिन के अन्तराल में मेरे द्वारा आपका जो कुछ अपराध हुआ हो, उसकी क्षमायाचना करता हूँ।

गुरु– **'अहमवि खामेमि तुमं'** – मैं भी अज्ञानवश हुए दोषों के लिए

तुमसे क्षमा मांगता हूँ।

इस प्रकार वंदनसूत्र एवं वंदनविधि के माध्यम से गुरु और शिष्य के मध्य उच्चकोटि का आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होता है। गुरु-शिष्य के प्रशस्त सम्बन्ध पर ही धर्म मार्ग का प्रवर्त्तन अवलम्बित है। अत: अर्हत् उपदिष्ट वन्दन आवश्यक अपरिहार्य रूप से अनुसरणीय है।[52]

यह सूत्र आवश्यकसूत्र के वंदन नामक तृतीय अध्ययन में उल्लेखित हैं।

कृतिकर्म करने का अधिकारी कौन?

वन्दन चित्त निर्मलता एवं परिणाम विशुद्धि का प्रतीक है अत: योग्य व्यक्ति ही इस क्रिया का अधिकारी हो सकता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु दिगम्बर साहित्य में इसका स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य वट्टकेर रचित मूलाचार में वन्दन अधिकारी की चर्चा करते हुए निरूपित किया है कि जो पाँच महाव्रतों के अनुष्ठान में तत्पर हैं, धर्म के प्रति उत्साही हैं, उद्यमवान् हैं, मान कषाय रहित हैं, कर्म निर्जरा के इच्छुक हैं, दीक्षा से लघु हैं, ऐसा चारित्रात्मा कृतिकर्म करें।[53] यद्यपि मूलाचार मुनि आचार का ग्रन्थ होने से इसमें मुनियों के लिए कृतिकर्म का उपदेश दिया है, परन्तु यथोचित गुणनिष्पन्न गृहस्थ भी कृतिकर्म कर सकता है।

अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है कि जिस प्रकार रोगी को निरोगता की प्राप्ति होने पर तथा चक्षुहीन को नेत्रज्योति की प्राप्ति होने पर प्रसन्नता एवं संतोष होता है उसी प्रकार जिनप्रतिमा के दर्शन से जिसका हृदय प्रफुल्लित होता हो, परीषहों को जीतने में समर्थ हो, शान्त परिणामी हो, जिनागम विशारद हो, सम्यग्दर्शन से युक्त हो, आवेश रहित हो, गुरुजनों के प्रति समर्पित हो, प्रिय भाषी हो, ऐसा साधक इस आवश्यक कर्म को करने का अधिकारी हो सकता है।[54] चारित्रसार में सम्यग्दृष्टि जीव को वन्दन करने के योग्य माना गया है।[55]

वन्दन योग्य कौन?

अनन्त संसार सागर से तिरना हो, तो गुरु रूपी वाहन अनिवार्य है, भयंकर भवारण्य को निर्बाध रूप से पार करना हो, तो गुरु रूपी सार्थवाह की जरूरत है, इसी तरह अज्ञान रूपी घोर अंधकार का नाश करके आत्म ज्योति

का साक्षात्कार करना हो, तो गुरु रूपी दीपक आवश्यक है। प्राज्ञ पुरुषों का अनुभव कहता है कि जहाँ गुरु नहीं वहाँ ज्ञान नहीं, जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ विरति नहीं, जहाँ विरति नहीं वहाँ चारित्र नहीं और जहाँ चारित्र नहीं वहाँ मोक्ष नहीं। अतएव आत्म विकास के इच्छुक साधकों को गुरु की शरण स्वीकार करनी चाहिए और उनके मार्गदर्शन में साधना क्रम का अनुसरण करना चाहिए।

गुरु की प्रसन्नता विनय या वंदन से प्राप्त होती हैं। कहा भी गया है कि सर्वज्ञ प्रणीत आचार का मूल विनय है, विनय गुणवंत की सेवा-भक्ति रूप है और सेवा-भक्ति विधिपूर्वक वंदन द्वारा ही संभव है।

प्रश्न होता है वंदन किसे करना चाहिए, वंदन योग्य कौन है? इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि बुद्धिमान, संयत, भावसमाधि धारण किया हुआ पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का पालन करने वाला और असंयम के प्रति जुगुप्सा करने वाला श्रमण वंदन योग्य होता है।[56]

मूलाचार के अनुसार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर– ये पाँचों कृतिकर्म करने योग्य हैं तथा इन्हें वंदन करने से निर्जरा होती है।[57] गोम्मटसार के मतानुसार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, शास्त्र, चैत्य, जिनप्रतिमा और जिनधर्म– ये नवदेवता वन्दन के योग्य हैं।[58]

प्रवचनसारोद्धार में आचार्य आदि पाँच को कृतिकर्म के योग्य बतलाया है और कहा गया है कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और रत्नाधिक– इन पाँच को वन्दन करने से विपुल कर्मों की निर्जरा होती है।[59]

स्पष्ट है कि जो चारित्र एवं गुणों से सम्पन्न हों तथा द्रव्य एवं भाव दोनों से एकरूप हों वे सन्त वंदनीय हैं। साधारण जन मानस के लिए ऐसे आदर्श की आवश्यकता है जिसका जीवन व्यवहार और निश्चय दोनों पक्षों से परिपूर्ण हों। आचार्य भद्रबाहु ने इस कथन का समर्थन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार वही सिक्का ग्राह्य होता है जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो, उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति ही वन्दन करवाने का अधिकारी होता है।[60]

वन्दनीय को वन्दन कब करना चाहिए?

जैन धर्म विवेक प्रधान है। यहाँ प्रत्येक तथ्य का सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। जैनाचार्य कहते हैं कि वन्दनीय आचार्यादि को जब कभी वन्दन नहीं करना चाहिए, वे निम्न स्थितियों में वन्दन करने योग्य होते हैं–

1. शान्त भाव में स्थिर हों
2. आसन पर बैठे हुए हों।
3. उपशान्त अर्थात क्रोधादि से रहित हों।
4. शिष्य को 'छंदेणं' इत्यादि वचन कहने के लिए तत्पर हों।
5. स्वाध्याय आदि में तल्लीन हों।

आवश्यक प्रवृत्ति करते हुए साधु-साध्वियों को वन्दन करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्रतिलेखनादि क्रियाओं में व्यस्त साधु यदि गृहस्थ को धर्मलाभ देना चूक जाये तो वन्दन कर्त्ता के मन में गलत धारणाएँ पनप सकती हैं अतः उक्त निर्देशों के प्रति सचेत रहना चाहिए।[61]

वन्दनीय को वन्दन कब नहीं करना चाहिए?

जैन धर्म विनय प्रधान है अतएव शास्त्रकारों ने निर्देश दिया है कि निम्न परिस्थितियों में पूज्य पुरुषों को वन्दन नहीं करना चाहिए–

1. प्रवचन आदि धर्मकार्य में व्यस्त हों।
2. वंदन कर्त्ता की ओर मुख करके बैठे हुए न हों।
3. क्रोध, निद्रा आदि प्रमाद से युक्त हों।
4. आहार कर रहे हों।
5. लघुशंका, मलोत्सर्ग आदि शारीरिक कार्य कर रहे हों।

उपर्युक्त पाँच स्थितियों में वन्दन करने पर क्रमशः निम्न दोष लगते हैं– 1. धर्म का अन्तराय 2. वन्दन का अनवधारण 3. प्रकोप 4. आहार में अन्तराय और 5. लज्जावश कायिक संज्ञा का अवरोध।[62]

वन्दना करवाने के अपवाद

जिनमत में उपकारी एवं गुणी पुरुषों को अप्रतिम स्थान प्राप्त है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए गुरुवंदनभाष्य में कहा गया है कि दीक्षित माता, दीक्षित पिता, दीक्षित ज्येष्ठ भाई एवं उम्र में अल्प होने पर भी रत्नाधिक (ज्ञानादि गुणों से श्रेष्ठ) हो तो इन चारों के द्वारा मुनि को वंदन नहीं करवाना चाहिए। यदि माता-पितादि गृहस्थ अवस्था में हो तो वंदन करवा सकते हैं,

किन्तु वर्तमान में दोनों स्थितियों में वंदन नहीं करवाने का ही व्यवहार है। शेष साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के द्वारा वंदन करवा सकते हैं। रत्नाधिक के द्वारा वंदन न करवाने का मुख्य कारण ज्ञानादि गुण का बहुमान और उचित व्यवहार है।[63]

कृतिकर्म कहाँ स्थित होकर करना चाहिए?

जैन विचारणा में गुरुत्व पद का सम्मान करते हुए उनके अत्यन्त निकट उपस्थित होकर वन्दन करने का निषेध किया गया है क्योंकि इससे करस्पर्श, अंगस्पर्श आदि की सम्भावना रहती है जो दोष का कारण है।

गुरु का चारों दिशाओं में जघन्य से साढ़े तीन हाथ का और उत्कृष्ट से तेरह हाथ का अवग्रह होता है स्पष्ट है कि गुरु का आभामण्डल चारों दिशाओं में साढ़े तीन या तेरह हाथ पर्यन्त व्याप्त रहता है। उस परिमित क्षेत्र में गुरु की अनुमति पूर्वक प्रवेश करना चाहिए।

गुरुवन्दनभाष्य में स्वपक्ष वालों के लिए साढ़े तीन हाथ एवं परपक्ष वालों के लिए तेरह हाथ दूर रहकर वन्दन करने का निर्देश किया गया है।[64] स्वपक्ष और परपक्ष दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं–

1. पुरुष की अपेक्षा पुरुष स्वपक्ष है 2. स्त्री की अपेक्षा स्त्री स्वपक्ष है 3. पुरुष की अपेक्षा स्त्री परपक्ष है 4. स्त्री की अपेक्षा पुरुष परपक्ष है। इसके स्पष्टीकरण के लिए निम्न तालिका दृष्टव्य है–

स्वपक्ष सम्बन्धी

1. साधु को साधु से
   श्रावक को साधु से– साढ़े तीन हाथ दूर रहकर वन्दन करना चाहिए।
2. साध्वी को साध्वी से
   श्राविका को साध्वी से– साढ़े तीन हाथ दूर खड़े होकर वन्दन करना चाहिए।

परपक्ष सम्बन्धी

1. साध्वी को साधु से
   श्राविका को साधु से– तेरह हाथ का अन्तराल रखते हुए वन्दन करना चाहिए।
2. साधु को साध्वी से

श्रावक को साध्वी से– तेरह हाथ दूर रहकर वन्दन करना चाहिए।

दिगम्बर परम्परानुसार देव, आचार्य आदि की वन्दना करते समय साधु को कम से कम एक हाथ दूर रहना चाहिए तथा वन्दना के पूर्व पिच्छिका से शरीर आदि का प्रमार्जन करना चाहिए।[65] आर्यिकाओं को पाँच हाथ की दूरी से आचार्य की, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय की और सात हाथ की दूरी से श्रमण की वन्दना गवासन मैं बैठकर करनी चाहिए। गुरु वन्दना को शुद्ध भाव से स्वीकार करते हुए प्रत्युत्तर में आशीर्वाद दें।[66]

इस मर्यादा का निर्वहन करने पर गुरु सम्बन्धी आशातनाओं से बचाव होता है तथा इनका यथोचित अनुसरण करना परमकल्याण का हेतुभूत है।

वर्तमान में चरणस्पर्श या जानुस्पर्श पूर्वक वन्दन करने की जो परम्परा है, वह नियमविरुद्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में ज्येष्ठ साधु को कनिष्ठ साधु, साधु को साध्वी, बड़ी साध्वी को छोटी साध्वी वन्दन करते समय विधिपूर्वक सूत्र बोलते हैं। उसके पश्चात वन्दन करने वाला 'मत्थएण वंदामि' शब्द पूर्वक जिनको वन्दन किया गया है उनसे सुखपृच्छा करता है तब प्रत्युत्तर में गुरु या ज्येष्ठ साधु अपने से छोटे साधु-साध्वी से स्वयं भी मस्तक झुकाते हुए 'मत्थएण वंदामि' शब्द पूर्वक 'देव-गुरु पसाय' कहते हैं।

यदि श्रावक-श्राविका साधु या साध्वी को वन्दन करें तब वन्दन विधि एवं सुखपृच्छा विधि पूर्ववत ही करते हैं परन्तु साधु-साध्वी प्रत्युत्तर में 'धर्मलाभ' कहते हैं।

दिगम्बर परम्परा में वन्दन करते समय ऐलक और क्षुल्लक परस्पर 'इच्छामि' कहते हैं। मुनियों को सभी लोग 'नमोऽस्तु' (नमस्कार हो) तथा आर्यिकाओं को 'वंदामि' (वन्दन करता हूँ) कहते हैं। मुनि और आर्यिकाएँ नमस्कार करने वालों को निम्न पद बोलकर आशीर्वाद देते हैं– यदि व्रती हों तो 'समाधिरस्तु' (समाधि की प्राप्ति हो) या 'कर्मक्षयोऽस्तु' (कर्मों का क्षय हो), अव्रती श्रावक-श्राविकाएँ हों तो 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' (सद्धर्म की वृद्धि हो) 'शुभमस्तु' (शुभ हो) या 'शान्तिरस्तु' (शान्ति हो), यदि अन्य धर्मावलम्बी हों तो 'धर्मलाभोऽस्तु' (धर्मलाभ हो), यदि निम्नकोटि वाले (चाण्डालादि) हों तो 'पापक्षयोऽस्तु' (पाप का विनाश हो)।[67]

कृतिकर्म (द्वादशावर्त्तवन्दन) कब करना चाहिए?

जैन आराधकों के लिए कृतिकर्म एक परम आवश्यक कृत्य है। यद्यपि इसे अमुक अवसर पर ही करने का विधान है। श्वेताम्बर आचार्यों ने कृतिकर्म के प्रमुख आठ कारण निरूपित किये हैं, जो निम्न है–[68]

1. **प्रतिक्रमण के समय–** प्रतिक्रमण करते समय दो-दो के क्रम से चार बार द्वादशावर्त्तवन्दन करते हैं, वह प्रतिक्रमण के उद्देश्य से किया जाता है।
2. **स्वाध्याय के समय–** गुरु मुख से आगम आदि सूत्रपाठों की वाचना ग्रहण करनी हो, तब साधु सामाचारी के अनुसार स्वाध्याय प्रस्थापन, स्वाध्याय प्रवेदन एवं काल प्रवेदन– ऐसे तीन बार गुरु वंदन करना चाहिए।
3. **कायोत्सर्ग के समय–** योगोद्वहन काल में आयंबिल प्रत्याख्यान को पूर्णकर नीवि प्रत्याख्यान (विगय परिभोग) के लिए कायोत्सर्ग करते हैं, उसे गुरु को वन्दन करने के पश्चात करना चाहिए।
4. **अपराध के समय–** गुरु के प्रति किसी प्रकार का अपराध हुआ हो, तो कृतिकर्म पूर्वक उनसे क्षमायाचना करनी चाहिए।
5. **प्राघूर्णक (अतिथि) मुनियों के आने पर–** यदि आगन्तुक (प्राघूर्णक) मुनि ज्येष्ठ हो तो स्थित लघु साधु द्वारा उन्हें वंदन करना चाहिए और अतिथि मुनि कनिष्ठ हो तो उनके द्वारा स्थित ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन करना चाहिए। प्राघूर्णक मुनि भी दो तरह के होते हैं–

   (i) सांभोगिक और (ii) असांभोगिक।

   समान सामाचारी वाले सांभोगिक और इसके विपरीत असांभोगिक कहलाते हैं। यदि आगन्तुक मुनि सांभोगिक एवं ज्येष्ठ हों तो आचार्य की अनुमति लेकर स्थित मुनि उन्हें वन्दन करें। यदि आगन्तुक मुनि असांभोगिक हो तो पहले आचार्य (गुरु) को वन्दन कर उनसे अनुमति लेने के पश्चात आगन्तुक मुनियों को वन्दन करें या उनसे वन्दन करवाएँ।[69]
6. **आलोचना के समय–** स्वेच्छा से गृहीत महाव्रत आदि मूलगुणों एवं समिति-गुप्ति आदि उत्तरगुणों में अतिचार आदि दोष लगे हों और उनसे निवृत्त (पापमुक्त) होने के लिए प्रायश्चित्त आदि स्वीकार करना हो, तो प्रथम गुरुवंदन करके आलोचना आदि करना चाहिए।

7. **संवर के समय–** नमुक्कारसी, पौरुषी, एकासना, आयंबिल, उपवास आदि कोई भी प्रत्याख्यान ग्रहण करना हो, तो पहले गुरुवंदन करना चाहिए।
8. **अनशन अथवा संलेखना के समय–** अनशन आदि विशिष्ट साधना को स्वीकार करने से पूर्व गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन करना चाहिए।

उपर्युक्त आठ कारणों में से कुछ वन्दन नियत कालिक हैं और कुछ अनियतकालिक। पूर्वाह्ण सम्बन्धी प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय के तीन वंदन तथा अपराह्ण सम्बन्धी प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय के तीन वंदन– कुल 14 ध्रुववंदन प्रतिदिन करने योग्य हैं। शेष कायोत्सर्ग आदि से सम्बन्धित वंदन तत्सम्बन्धी प्रयोजन उपस्थित होने पर ही करने योग्य होने से अध्रुव वंदन हैं।

दिगम्बर आचार्यों ने कृतिकर्म के पाँच कारण प्रदर्शित किये हैं–

1. आलोचना के समय अथवा छह आवश्यक रूप क्रियाओं के समय 2. किसी तरह की जिज्ञासा का निवारण या प्रश्नादि करते समय, 3. जिन प्रतिमा का पूजन करते समय 4. स्वाध्याय करते समय 5. अपराध भाव से विमुक्त होने के लिए आचार्यादि को वन्दन करना चाहिए।[70]

स्पष्टार्थ है कि गुणवंत को पंचांगप्रणिपात आदि सामान्य वंदन अनेक बार किया जा सकता है, परन्तु कृतिकर्म निर्दिष्ट स्थितियों में ही करना चाहिए।

कृतिकर्म कितनी बार करना चाहिए?

सुज्ञ पाठकों के लिए यह निश्चित रूप से मननीय है कि द्वादशावर्त्त रूप कृतिकर्म कब, कितनी बार करना चाहिए? श्वेताम्बर–दिगम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य में दिन सम्बन्धी 14 बार कृतिकर्म करने का उल्लेख है, किन्तु दिगम्बर आचार्यों ने रात्रि में भी 14 कृतिकर्म करने का निर्देश किया है। इस प्रकार श्वेताम्बर के अनुसार 14 बार और दिगम्बर के अनुसार 14 + 14 = 28 बार कृतिकर्म करना चाहिए। कृतिकर्म कब करना चाहिए, इस विषय में दोनों परम्पराओं के मन्तव्यानुसार प्रतिक्रमण काल में चार और स्वाध्याय काल में तीन, ऐसे पूर्वाह्ण में सात और अपराह्ण में सात कुल 14 कृतिकर्म हो जाते हैं। विधि प्रयोग की दृष्टि से दोनों में अन्तर है।[71]

प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म कैसे?

श्वेताम्बर परम्परा में तृतीय आवश्यक में प्रवेश करने से पूर्व, गुरु से क्षमायाचना करने से पूर्व, पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक में प्रवेश करने से पूर्व

एवं छठे प्रत्याख्यान आवश्यक में प्रवेश करने से पूर्व- ऐसे चार बार कृतिकर्म (द्वादशावर्त्त वन्दन) होता है।

दिगम्बर परम्परा में आलोचना भक्ति करने से पूर्व, प्रतिक्रमण भक्ति करने से पूर्व, वीर भक्ति करने से पूर्व एवं चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करने से पूर्व- ऐसे चार बार कृतिकर्म होता है।[72]

स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म कैसे?

श्वेताम्बर परम्परा में स्वाध्याय प्रस्थापन, स्वाध्याय प्रवेदन एवं कालप्रवेदन- ऐसे तीन बार कृतिकर्म होता है। दिगम्बर मत में स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति करने से पूर्व, आचार्य भक्ति करने से पूर्व तथा स्वाध्याय की समाप्ति में श्रुतभक्ति करने से पूर्व ऐसे तीन कृतिकर्म होते हैं।[73]

पूर्वाह्न के सात और अपराह्न के सात- कुल 14 कृतिकर्म जानने चाहिए। पुनश्च दिगम्बर मान्यता की अपेक्षा स्वाध्याय के बारह, वन्दना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो-ऐसे अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं।

सुगुरुवंदनसूत्र, भक्तिपाठ आदि क्रियाकर्म आवश्यक क्यों?

ग्रन्थकारों ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि मोक्ष का साधक तो आत्मध्यान ही है, तब मुमुक्षु को आत्मध्यान ही करना चाहिए, वन्दनासूत्र, भक्तिपाठ आदि क्रियाओं की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि आत्मध्यान की सिद्धि हेतु चित्त को एकाग्र करना परमावश्यक है और चित्त एकाग्रता के लिए बाह्य क्रियाएँ आवश्यक हैं। साधु और गृहस्थ के लिए किया गया है। षडावश्यक का निरूपण इसी दृष्टि से किया गया है। इसके माध्यम से वे निरूद्यमी और प्रमादी नहीं होते हैं। वर्तमान में ऐसे कई लोग हैं जो क्रियाकाण्ड को व्यर्थ समझकर न आत्मसाधना करते हैं और न क्रियाकर्म ही करते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो आत्मा की बात भी नहीं करते हैं और श्रावकोचित क्रियाकाण्ड में फँसे रहते हैं। ये दोनों प्रकार के साधक परमार्थत: मुमुक्षु नहीं हैं।

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है- जो कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर हैं, उसके पक्षपाती हैं वे डूबते हैं। जो ज्ञान से अनभिज्ञ होते हुए भी ज्ञान के पक्षपाती हैं,

क्रियाकाण्ड नहीं करते हुए स्व-स्वरूप को प्राप्त करने में प्रमादी हैं, वे भी डूबते हैं, किन्तु जो ज्ञानरूप में परिणत हुए कर्म नहीं करते हैं और प्रमाद के वशीभूत नहीं होते हैं, वे लोकान्त (सिद्धस्थान) को प्राप्त कर लेते हैं। स्पष्ट है कि जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानते और व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर को ही मोक्ष का कारण मानकर उसमें तच्चित्त रहते हैं वे कर्मनयावलम्बी संसार-समुद्र में डूबते हैं तथा जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तो नहीं जानते और उसके पक्षपातवश व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती भी डूबते हैं, क्योंकि वे बाह्यक्रिया को छोड़कर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और स्वरूप के विषय में प्रमत्त बने रहते है। किन्तु जो पक्षपात का अभिप्राय छोड़कर निरन्तर ज्ञानरूप में प्रवृत्ति करते हैं, कर्मकाण्ड नहीं करते। यद्यपि जब तक ज्ञानरूप आत्मा में परिणमन करना शक्य नहीं होता, तब तक अशुभ कर्म को छोड़कर स्वरूप उपलब्धि के साधन रूप शुभ क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं। वे कर्मक्षय करके संसार से मुक्त हो जाते हैं।

आशय यह है कि जब तक आत्म स्वरूप की प्रतीति नहीं हो जाती, ऐन्द्रिक चंचलता समाप्त नहीं हो जाती, उस स्थिति में पूर्वकाल तक शुभ क्रियाओं में निरत रहना आवश्यक है।[74]

अवन्दनीय कौन?

अर्हत प्रणीत धर्म गुणमूलक है, व्यक्ति मूलक नहीं। इस शासन में सद्गुणी पुरुष को ही वन्दनीय माना गया है, फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महेश हो। आचार्य भद्रबाहु ने अवन्दनीय को वन्दन करने का स्पष्ट निषेध किया है। वे कहते हैं कि गुणहीन को नमस्कार नहीं करना चाहिए। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से न तो कर्म निर्जरा होती है और न ही कीर्ति प्रसरित होती है, प्रत्युत असंयमी और दुराचारी का अनुमोदन करने से नवीन कर्मों का उपार्जन होता है।[75] उन्होंने यह भी कहा है कि अवन्दनीय व्यक्ति जो यह जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है फिर भी सद्गुणी से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह स्वयं के जीवन को दूषित करता है तथा असंयम भाव की अभिवृद्धि कर स्वयं को पतनोन्मुख करता है।[76]

जिन शासन में पाँच पुरुष अवन्दनीय कहे गये हैं। आवश्यक टीकानुसार वह निरूपण अधोलिखित है-

1. पासत्थ- इस शब्द के संस्कृत में दो रूप बनते हैं पार्श्वस्थ और पाशस्थ।

(i) पार्श्वस्थ- जो साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यक् उपयोग नहीं रखता है तथा ज्ञानादि के समीप रहकर भी उन्हें अपनाता नहीं है, वह पार्श्वस्थ कहलाता है।

(ii) पाशत्थ- कर्म बन्धन के हेतुभूत मिथ्यात्व आदि का आचरण करने वाला, पाशस्थ कहलाता है। पार्श्वस्थ साधु भी दो प्रकार के होते हैं- (i) सर्व पार्श्वस्थ (ii) देश पार्श्वस्थ।

(i) सर्व पार्श्वस्थ- ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना नहीं करने वाला, केवल वेषधारी साधु सर्वपार्श्वस्थ कहा जाता है।

(ii) देश पार्श्वस्थ- निष्कारण शय्यातरपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिण्ड और सम्मुख लाये हुए आहार का भोजन करने वाला देश पार्श्वस्थ कहा जाता है।

2. ओसन्न (अवसन्न)- मुनि सम्बन्धी दस प्रकार की सामाचारी पालन में प्रमाद करने वाला, अवसन्न कहलाता है। अवसन्न के दो प्रकार हैं- (i) सर्व अवसन्न (ii) देश अवसन्न।

(i) सर्व अवसन्न- एक पक्ष के अन्तराल में पीठ, फलक आदि के बन्धन खोलकर प्रतिलेखन नहीं करने वाला, बार-बार सोने के लिए संस्तारक बिछाये रखने वाला, स्थापना (साधु के निमित्त रखा हुआ) और प्राभृतिका (साधु के निमित्त विवाहादि के प्रसंग को आगे-पीछे करके बनाया हुआ, ऐसे) दोष से दूषित आहार ग्रहण करने वाला, सर्व अवसन्न कहलाता है।

(ii) देश अवसन्न- प्रतिक्रमण नहीं करने वाला, अविधिपूर्वक, हीनाधिक दोषयुक्त या असमय में प्रतिक्रमण करने वाला, स्वाध्याय नहीं करने वाला या असमय में स्वाध्याय करने वाला, प्रतिलेखन नहीं करने वाला या असावधानी से प्रतिलेखन करने वाला, भिक्षाचर्या नहीं करने वाला या अनुपयोगपूर्वक भिक्षाचर्या करने वाला, साधुमंडली में बैठकर भोजन नहीं करने वाला, मांडली के संयोजनादि पाँच दोषों का सेवन करने वाला, आवस्सही आदि सामाचारी का

पालन नहीं करने वाला, ईर्यापथ आदि में लगे हुए दोषों से मुक्त होने के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण नहीं करने वाला, कृत दोषों की सम्यक् आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करने वाला, स्वयं के लिए कृत्याकृत्य का विचार नहीं करने वाला, गुर्वाज्ञा का यथावत अनुसरण नहीं करने वाला ऐसे अनेक तरह से संयम में दूषण लगाने वाला मुनि देश अवसन्न कहलाता है।

3. **कुशील–** कुत्सित चारित्र का पालन करने वाला साधु कुशील कहलाता है। कुशील साधु तीन प्रकार के हैं– ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील एवं चारित्र कुशील।

(i) ज्ञान कुशील– काल, विनय, बहुमान आदि अष्टविध ज्ञानाचार की विराधना करने वाला ज्ञान कुशील कहलाता है।

(ii) दर्शन कुशील– निःशंकित, निःकांक्षित आदि अष्टविध दर्शनाचार की विराधना करने वाला दर्शन कुशील है।

(iii) चारित्र कुशील– 1. कौतुक कर्म 2. भूति कर्म 3. प्रश्नाप्रश्न 4. निमित्त 5. आजीविका 6. कल्ककुरूका 7. लक्षण 8. विद्या 9. मंत्रादि के प्रयोग से चारित्र को दूषित करने वाला, चारित्र कुशील है।

• कौतुककर्म– लोकप्रसिद्धि अर्जित करने के लिए या संतान प्राप्ति के लिए अनेक औषधियों से मिश्रित जलादि द्वारा स्त्रियों को स्नान कराना, उनके शरीर पर जड़ी-बूंटी आदि बांधना अथवा आश्चर्यजनक करतब दिखाना जैसे– मुख में गोले निगल कर कान-नाक आदि से पुनः निकालना, मुँह से आग निकालना आदि कौतुक कर्म है।

• भूतिकर्म– ज्वर आदि रोग निवारण के लिए ताबीज, डोरे आदि बनाना, अभिमंत्रित भस्म आदि प्रदान करना भूतिकर्म है।

• प्रश्नाप्रश्न– प्रश्नकर्त्ता द्वारा पूछे गये या बिना पूछे गये प्रश्नों का कर्ण पिशाचिनी आदि विद्या द्वारा या मंत्राभिषिक्त घटिका द्वारा स्वप्न में समाधान करना, प्रश्नाप्रश्न है।

• निमित्त– भूत, भविष्य या वर्तमान विषयक लाभ-अलाभ आदि बताना निमित्त है।

आजीवक– जाति आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाला साधु। जैसे–

• जाति आजीवक– श्रीमाल जाति के सेठ को देखकर कहना कि मैं भी श्रीमाल जाति का हूँ, यह सुनकर सेठ द्वारा साधु को अपनी जाति का

समझकर भिक्षादि से उसका सत्कार करना।

- कुल आजीवक– गृहस्थ के यहाँ 'मैं भी तुम्हारे कुल का हूँ, ऐसा कहकर भिक्षा प्राप्त करना।
- शिल्प आजीवक– शिल्प निष्णात गृहस्थ के यहाँ 'मुझे भी यह शिल्प आता है या मैंने भी अमुक आचार्य से यह शिल्प सीखा है' ऐसा कहकर भिक्षा प्राप्त करना।
- कर्म आजीवक– यह कार्य मुझे भी आता है, ऐसा कहकर भिक्षा प्राप्त करना।
- गण आजीवक– 'मैं भी मल्लक गण का हूँ' आदि कथनों से भिक्षादि प्राप्त करना, आजीवक है।

• कल्ककुरूका– इस शब्द के दो अर्थ हैं– 1. कपटवृत्ति से दूसरों को ठगना 2. कल्क– शरीर के कुछ भागों में या पूरे शरीर में लोद्र वगेरे का उबटन लगाना अथवा त्वचा सम्बन्धी रोगों में चमड़ी पर क्षारादि लगाना। कुरूका– उबटनादि लगाने के पश्चात हाथ-पैर आदि धोना या सम्पूर्ण स्नान करना, कल्ककुरूका है।

• लक्षण– स्त्री-पुरुष के शारीरिक शुभाशुभ लक्षण बताना।

• विद्या– जिसकी अधिष्ठायिका देवी होती है और जिसे साधना द्वारा सिद्ध किया जाता है, उस विद्या प्रयोग से शुभाशुभ करना, विद्या कर्म है।

• मंत्र– जिसका अधिष्ठाता देवता होता है तथा जिसे सिद्ध नहीं करना पड़ता, उस मंत्र प्रयोग से शुभाशुभ करना, मंत्र कर्म है। कुशील साधु पूर्वोक्त मंत्रादि का प्रयोग करने वाला होने से अवन्दनीय है।

4. संसक्त– मूलगुणों एवं उत्तरगुणों से सम्बन्धित दोषों का सेवन करने वाला मुनि संसक्त कहलाता है। संसक्त साधु दो तरह के होते हैं– संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट।

(i) संक्लिष्ट संसक्त– प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति करने वाला, ऋद्धि आदि तीन गारव में आसक्त, स्त्री का प्रतिसेवन करने वाला साधु संक्लिष्ट संसक्त है।

(ii) असंक्लिष्ट संसक्त– संगति के अनुसार आचरण करने वाला, जैसे– पार्श्वस्थ आदि के साथ तद्रूप आचरण करने वाला और संयमनिष्ठ मुनियों के साथ तदनुकूल वर्त्तन करने वाला असंक्लिष्ट संसक्त कहा जाता है। जैसे– कथा

के अनुसार नट के हाव-भाव, वेश-भूषा आदि बदलते रहते हैं वैसे ही असंक्लिष्ट मुनि का आचार बदलता रहता है।

5. यथाच्छंद– उत्सूत्र (सिद्धान्त विपरीत) प्ररूपणा करने वाला, सूत्र विरुद्ध आचरण करने वाला, गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में प्रवृत्ति करने वाला, स्वमति कल्पित अपुष्टालम्बन का आश्रय लेकर सुख चाहने वाला, विगय आदि स्वादिष्ट आहार में आसक्त साधु यथाछन्द कहलाता है।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार के वेषधारी साधु सामान्य रूप से सभी के लिए अवन्दनीय हैं, किन्तु परिस्थिति विशेष में व्यवहारतः वन्दनीय होते हैं। क्योंकि पार्श्वस्थ आदि मुनियों में चारित्र का सर्वथा अभाव नहीं होता है। यदि ऐसा हो, तो उनके सर्वतः और देशतः ये दो भेद करना व्यर्थ होगा। वस्तुतः वे दोष युक्त चारित्री होते हैं।[77]

गुरु सम्बन्धी तैतीस आशातनाएँ

सम्यक्त्व, ज्ञान आदि की उपलब्धि में बाधा डालने वाली अथवा न्यूनता उत्पन्न करने वाली अवज्ञापूर्ण प्रवृत्ति आशातना कहलाती है। दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति के अनुसार आशातना के दो अर्थ हैं– आशातना और आसादना अर्थात मिथ्या प्रतिपत्ति और लाभ।[78]

(i) मिथ्याप्रतिपत्ति का अर्थ है सम्यक स्वीकार नहीं करना। जो अर्थ जैसे सद्भूत होते हैं, उनको अयथार्थ रूप में स्वीकार करना आशातना है। यहाँ विवेच्य तैंतीस आशातनाएँ इसी अर्थ की सूचक हैं।[79]

(ii) लाभ आसादना के छह निक्षेप हैं– नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें से प्रत्येक के इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो-दो भेद हैं।[80] भिक्षु आगमकोश में प्रतिपादित इन भेद-प्रभेदों का सामान्य वर्णन इस प्रकार है–

1. **द्रव्य आसादना–** चोरों द्वारा साधुओं की चुराई गई उपधि का पुनः लाभ होना अनिष्ट द्रव्य आसादना है तथा एषणा शुद्धि के द्वारा उपधि की प्राप्ति होना इष्ट द्रव्य आसादना है। इसी तरह ग्लानादि साधुओं के लिए अनेषणीय की प्राप्ति होना अनिष्ट द्रव्य आसादना तथा एषणीय की प्राप्ति होना इष्ट द्रव्य आसादना है।
2. **क्षेत्र आसादना–** प्रवास के योग्य-अयोग्य क्षेत्र की प्राप्ति होना इष्ट-अनिष्ट क्षेत्र आसादना है।

3. **काल आसादना–** आहार के योग्य-अयोग्य अथवा सुभिक्ष-दुर्भिक्ष काल की प्राप्ति होना, इष्ट-अनिष्ट काल आसादना है।

4. **भाव आसादना–** औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक भाव की प्राप्ति होना भाव आसादना है।

यह वर्णन आशातना शब्द के स्पष्टीकरण हेतु किया गया है।[81] निशीथभाष्य में मिथ्याप्रतिपत्ति रूप आशातना के चार प्रकार बतलाये गये हैं–

1. **द्रव्य आशातना–** गुरु से पूछे बिना या उनकी अनुज्ञा के बिना आहार, वस्त्र आदि का उपभोग करना, द्रव्य आशातना है।

2. **क्षेत्र आशातना–** गुरु के आगे-पीछे या पार्श्व में सटकर चलना, बैठना या खड़े होना क्षेत्र आशातना है।

3. **काल आशातना–** रात्रि या विकाल में गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर सुनकर भी अनसुना कर देना काल आशातना है।

4. **भाव आशातना–** गुरु की बात को स्वीकार नहीं करना, उनके समक्ष कठोर बोलना, बीच में बोलना आदि भाव आशातना है।

कदाच गुरु द्वारा व्याख्यान देते हुए या वाचना मंडली आदि में किसी गलत तत्त्व की प्ररूपणा हो जाये तो शिष्य वहाँ कुछ भी न बोले। यदि वह उसका सम्यक् अर्थ जानता हो, तो गुरु को एकांत में बतलाए। ऐसा करने वाला शिष्य आशातना से बच जाता है।

यद्यपि उक्त चार प्रकार की आशातना में समस्त आशातनाओं का अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु वन्दन आवश्यक के मूलसूत्र में 'आसायणाए तित्तीसन्नयराए' पद है। इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म तैंतीस प्रकार की आशातना से निवृत्त होने का संकल्प किया गया है। अतः वन्दन आवश्यक के अधिकारी को इन आशातनाओं से बचना चाहिए, ताकि इस क्रिया का सम्यक् फलित प्राप्त कर सके।[82]

दशाश्रुतस्कन्ध,[83] प्रवनचसारोद्धार[84], गुरुवंदणभाष्य[85] में वर्णित तैंतीस आशातनाएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **पुरोगमन–** पुरः– आगे, शिष्य के द्वारा बिना कारण गुरु से आगे चलना, पहली आशातना है। मार्ग दिखाने आदि कारणों से आगे चलने में कोई दोष नहीं है।

2. पक्षगमन– पक्ष-पार्श्व, शिष्य के द्वारा गुरु से सटकर या अति निकट होकर चलना।

3. पृष्ठगमन– पृष्ठ-पीछे, बिना कारण गुरु के पीछे सटकर चलना।

4. पुरःस्थ– शिष्य के द्वारा बिना कारण गुरु के आगे खड़े रहना।

5. पक्षस्थ– बिना कारण गुरु की समश्रेणि में अति निकट खड़े होना।

6. पृष्ठ आसन्न–बिना कारण गुरु के पीछे, किन्तु अत्यन्त समीप में खड़े होना।

7. पुरो निषीदन– निषीदन-बैठना, शिष्य के द्वारा गुरू के आगे बैठना।

8. पक्ष निषीदन– बिना कारण गुरु की समश्रेणि में अतिनिकट बैठना।

9. पृष्ठ आसन्न– बिना कारण गुरु के पीछे अत्यन्त समीप में बैठना।

10. आचमन– गुरु के साथ मलोत्सर्ग भूमि के लिए साथ गये हुए शिष्य के द्वारा, वहाँ से लौटकर गुरु से पहले हाथ-पाँव की शुद्धि कर लेना। आहारादि के समय भी गुरु से पहले मुख आदि की शुद्धि कर लेना आशातना है।

11. आलोचन– गुरु के साथ बहिर्भूमि या विहार आदि के लिए साथ गये हुए शिष्य के द्वारा वहाँ से वसति में लौटकर गुरु से पहले गमनागमन विषयक आलोचना कर लेना।

12. अप्रतिश्रवण– गुरु रात्रि में या विकाल में यह पूछे कि कौन सो रहा है? कौन जग रहा है? यह सुनकर भी शिष्य के द्वारा अनसुनी करके कोई उत्तर न देना।

13. पूर्वालापन– कोई व्यक्ति गुरु के पास वार्त्तालाप आदि के उद्देश्य से आया हुआ हो, शिष्य के द्वारा गुरु से पूर्व उससे बातचीत कर लेना।

14. पूर्वालोचन– आहारादि लाने के पश्चात उसमें लगे हुए दोषों की पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करके, फिर गुरु के समक्ष आलोचना करना।

15. पूर्वोपदर्शन– शिष्य के द्वारा आहारादि लाने के पश्चात पहले किसी अन्य साधु को दिखाकर फिर गुरु को दिखाना।

16. पूर्व निमन्त्रण– शिष्य के द्वारा आहारादि ले आने के पश्चात उसके सेवन हेतु गुरु को निमन्त्रण देने से पूर्व अन्य मुनियों को निमंत्रित करना।

17. खद्ध दान– खद्ध अर्थात खाद्य आहार अथवा प्रचुर मात्रा में आहार। शिष्य के द्वारा निर्दोष आहार आदि ले आने के पश्चात गुरु की अनुमति लिये

बिना ही अन्य साधुओं को रूचि अनुसार प्रचुर मात्रा में आहार वितरित कर देना।

18. खद्धादन— खद्ध अर्थात खाद्य आहार, अदन अर्थात उपभोग करना। दशाश्रुतस्कंध के अनुसार गुरु के साथ आहार करते हुए शिष्य के द्वारा उत्तम भोज्य पदार्थों को बड़े-बड़े कवल द्वारा शीघ्रता से खा लेना खद्धादन आशातना है।

मतान्तर से शिष्य के द्वारा आहार ले आने के पश्चात उसमें से आचार्य को थोड़ा देकर शेष स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ आदि स्वादिष्ट पदार्थ स्वयं खा लेना खद्धादन आशातना है।

19. अप्रतिश्रवण— गुरु के द्वारा बुलाए जाने पर या उनकी आवाज सुनकर प्रत्युत्तर न देना। उल्लेख्य है कि बारहवीं आशातना भी इसी नाम वाली है, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि 12वीं आशातना रात्रिकालीन निद्रा से सम्बन्धित है और यह 19वीं आशातना दिन में बोलने से सम्बन्धित है।

20. खद्ध (भाषण)— गुरु के साथ कर्कश और तीखी आवाज में बोलना।

21. तत्रगत (भाषण)— गुरु या रत्नाधिक के बुलाने पर शिष्य के द्वारा आसन पर बैठे-बैठे ही प्रत्युत्तर देना। नियमतः गुरु द्वारा बुलाए जाने पर शिष्य को तुरन्त अपने स्थान से उठकर 'मत्थएण वंदामि' कहते हुए गुरु के सम्मुख उपस्थित हो जाना चाहिए।

22. किं भाषण— गुरु के द्वारा आवाज देने पर क्या? क्या है? क्या कह रहे हो? इत्यादि शब्द बोलना तथा गुरु के समीप जाकर आवाज देने का कारण नहीं पूछना।

23. तुं भाषण— गुरु को भगवन्! श्रीपूज्य! आप आदि सम्मानजनक शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए। इसके विपरीत तूं, तुम, ताहरा आदि निम्न कोटि वाले शब्दों से सम्बोधित करना अथवा मुझे उपदेश देने वाले तुम कौन होते हो? ऐसे तुच्छ वाक्यों का प्रयोग करना।

24. तज्जात (भाषण)— गुरु जिन शब्दों में कहे, पुनः उन्हीं शब्दों में गुरु के सामने प्रत्युत्तर देना, जैसे आचार्य कहे— "तूं बीमार की सेवा क्यों नहीं करता? तूं बहुत प्रमादी हो गया है" तब शिष्य कहे कि "तुम स्वयं सेवा क्यों नहीं करते, तुम स्वयं प्रमादी हो गये हो" आदि प्रकार से गुरु को ही शिक्षा देते

हुए जवाब देना।

25. नोसुमन– सुमन-अच्छा मन, नो- नहीं। गुरु पर्षदा के बीच प्रवचन आदि करें, तब उनकी प्रशंसा करनी चाहिए कि 'अहो! आपने बहुत अच्छा कहा।'' किन्तु शिष्य के द्वारा प्रशंसा न करके मन बिगाड़ना, मुँह बिगाड़ना, मुझसे भी अधिक व्याख्यान कला है? आदि विचारों से ईर्ष्याभाव करना।

26. नोस्मरण– गुरु व्याख्यान दे रहे हो, तब शिष्य के द्वारा बीच में यह कहना कि– ''आपको याद नहीं है, इसका अर्थ इस तरह नहीं है'' आदि।

27. कथाछेद– गुरु धर्मकथा कर रहे हो तब शिष्य के द्वारा श्रोताओं को यह कहना कि – 'यह कथा मैं तुम लोगों को बाद में अच्छी तरह समझाऊँगा' अथवा 'अब मैं प्रवनच करूंगा' ऐसा कहकर गुरु द्वारा चल रहे व्याख्यान का भंग करना।

28. परिषद् भेद– गुरु व्याख्यान कर रहे हो और पर्षदा जिनवाणी को सुनने में तन्मय हो रही हो, तब शिष्य के द्वारा यह कहना कि 'अभी प्रवचन कितना लम्बा करोगे, गोचरी का समय हो गया है, अथवा सूत्र पौरूषी का समय हो चुका है' इस तरह सभाजनों के चित्त का भंग करना। यदि पहले से ही कुछ लोग उठकर जा रहे हों तब भी आशातना होती है।

29. अनुत्थित कथा– गुरु व्याख्यान कर रहे हो उस दौरान अथवा प्रवचन पूर्ण होने के तुरन्त बाद पर्षदा बैठी हुई हो, उस समय स्वयं की विद्वत्ता दर्शाने के लिए गुरु द्वारा उपदिष्ट तत्त्व अथवा अर्थ का विस्तृत प्रतिपादन करना अथवा कुछ नया ज्ञान प्रदान करना।

30. संथारपादघट्टन– गुरु की शय्या, संस्तारक आदि के पैर लगने पर या अनुमति के बिना स्पर्श करने पर उनसे क्षमायाचना नहीं करना आशातना है। गुरु से सम्बद्ध होने के कारण गुरु के उपकरण भी पूज्य होते हैं अत: उनकी आज्ञा के बिना उन धर्मोपकरणों को छूना भी नहीं चाहिए। शय्या– साढ़े तीन हाथ की शरीर परिमाण होती है और संस्तारक– ढाई हाथ परिमाण होता है।

31. संथारावस्थान– गुरु के संस्तारक पर सोना, बैठना या करवट आदि बदलना।

32. उच्चासन– गुरु के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठना।

33. समासन– गुरु के समक्ष समान आसन पर बैठना।

सुयोग्य शिष्य को उपर्युक्त तैंतीस आशातनाओं का वर्जन करना चाहिए। जो शिष्य गुरु की अवज्ञा आदि आशातना नहीं करता है उस पर गुरु की अनायास कृपा होती है और उसके बल से ज्ञान आदि की प्राप्ति सुगम होती है। क्योंकि ज्ञान आदि की प्राप्ति में गुरु हेतुभूत होते हैं। गुरु का अविनय करने से उनकी प्राप्ति नहीं होती। विनय धर्म का मूल है अत: अविनय करने वाला धर्मवृक्ष का उच्छेद करता है। धर्म का मूल सम्यक्त्व भी है, गुरु की आशातना करने से सम्यक्त्व विच्छिन्न होता है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अनुसार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय– गुरुमूलक होते हैं। जो गुरु की आशातना करता है वह इन गुणों की आराधना कैसे कर सकता है? अर्थात वह इन गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता है इसलिए आशातनाओं का परिहार करना चाहिए।[86] उक्त आशातनाएँ मुख्य रूप से श्रमण के दृष्टिकोण से कही गई हैं, किन्तु गृहस्थ को भी इनमें से तद्योग्य आशातनाओं को टालना चाहिए।

गुरु वन्दना के बत्तीस दोष

जो चारित्र और गुणों से सम्पन्न हैं वे ही आत्माएँ वन्दनीय हैं। जैन परम्परा में गुरुवन्दन की एक निश्चित विधि है। सामान्य रूप से वन्दन करते समय 32 प्रकार के दोष लगने की सम्भावना रहती है। वंदन-अधिकारी को इन दोषों का परिज्ञान होना आवश्यक है, ताकि दोषों से बचा जा सके। प्रवचनसारोद्धार, गुरुवंदनभाष्य आदि में उल्लिखित बत्तीस दोष इस प्रकार हैं–[87]

1. **अनादृत–** उत्सुकता रहित अनादर भाव से वन्दन करना।

2. **स्तब्ध–** जाति आदि आठ प्रकार के मद से गर्वित होकर अथवा देह आदि की अकड़ पूर्वक वन्दन करना। प्रवचनसारोद्धार की टीका में द्रव्य और भाव गर्वित दो तरह के बतलाये हैं– (i) वायुजन्य पीड़ादि के कारण शरीर का नहीं झुकना द्रव्य गर्वित है और (ii) अभिमानवश दैहिक अंगों का न झुकना भाव गर्वित है। इसके चार विकल्प इस प्रकार बनते हैं– 1. द्रव्य से गर्वित, भाव से अगर्वित 2. भाव से गर्वित, द्रव्य से अगर्वित 3. द्रव्य से गर्वित, भाव से भी गर्वित 4. द्रव्य से अगर्वित, भाव से भी अगर्वित।

इनमें चौथा विकल्प सर्वशुद्ध है, दूसरा एवं तीसरा विकल्प सर्वथा अशुद्ध है, प्रथम विकल्प शुद्धाशुद्ध है।

3. प्रविद्ध– जैसे-तैसे वन्दन करना अथवा भाड़ूती वाहन की तरह अधूरा वन्दन करके छोड़ देना। जैसे– किराये की गाड़ी वाले ने किसी व्यापारी के गृह सामान को अन्य नगर से उस व्यापारी के वहाँ लेकर आया और मालिक से पूछा कि– सामान कहाँ उतारना है? मालिक ने कहा– मैं सामान रखने का उचित स्थान देखकर आता हूँ, तब तक प्रतीक्षा करो। लेकिन किराये की गाड़ी वाला इतनी देर कहाँ रूकने वाला था, वह गाँव के मार्ग पर ही सामान उतारकर आगे प्रस्थित हो गया उसी तरह अधूरा वन्दन छोड़कर भग जाना।

4. परिपिंडित– एक साथ विराजित अनेक आचार्यों को पृथक-पृथक वंदन न करके एक ही वन्दन से सभी को वंदन कर लेना अथवा आवर्त्त प्रयोग और तद्योग्य सूत्राक्षरों को यथाविधि न बोलते हुए अव्यक्त सूत्रोच्चार पूर्वक वन्दन करना अथवा परि = ऊपर, पिंडित = एकत्रित अर्थात कुक्षि के ऊपर दोनों हाथ स्थापित कर या टेककर वन्दन करना।

5. टोलगति– टोल अर्थात टिड्डी की तरह आगे-पीछे कूदते हुए वन्दन करना।

6. अंकुश–जैसे हाथी को अंकुश द्वारा यथास्थान ले जाया जा सकता है अथवा बिठाया जा सकता है वैसे ही सोये हुए, खड़े हुए या काम में व्यग्र आचार्य आदि के हाथ को पकड़कर एवं उन्हें जबर्दस्ती बिठाकर वन्दन करना।

आवश्यकटीका के अनुसार दोनों हाथों में अंकुश की तरह रजोहरण पकड़कर वन्दन करना, अंकुश दोष है। किन्हीं मतानुसार अंकुश से पीड़ित हाथी की तरह सिर को ऊँचा-नीचा करते हुए वन्दन करना अंकुश दोष है।

7. कच्छपरिंगित– कच्छप – कछुआ, रिंगित – अभिमुख अर्थात कछुए की तरह आगे-पीछे खिसकते हुए वन्दन करना।

8. मत्स्योद्वृत्त– जिस प्रकार मछली जल में उछाला मारती हुई शीघ्र ऊपर आ जाती है और पुनः अपना शरीर उलटाकर शीघ्र डूब जाती है उसी प्रकार वन्दन काल में खड़े होते और बैठते समय फुदकने की तरह शीघ्र उठना और बैठना अथवा जैसे मछली उछलकर डूबते समय सहसा शरीर को पलट देती है वैसे ही एक आचार्य को वन्दन करके उनके समीप बैठे हुए अन्य आचार्य आदि को वन्दन करने के लिए वहाँ बैठे-बैठे ही मत्स्य की तरह शरीर

पलट कर वन्दन करना। यहाँ मत्स्य उद्धृत अर्थात ऊँचा उछलना और मत्स्य आवर्त्त अर्थात शरीर को गोलाकार में परावर्तित करना, फेरना, घुमाना, ऐसा अर्थ है।

9. मनः प्रदुष्ट– वंदनीय आचार्य आदि किसी गुण से हीन हो, तो उस अवगुण का अन्तर्मन में चिन्तन करते हुए अरुचि पूर्वक वन्दन करना अथवा आत्मप्रत्यय और परप्रत्यय से उत्पन्न हुए मनोद्वेष पूर्वक वन्दन करना, मन: प्रदुष्ट दोष है।

गुरु द्वारा शिष्य को साक्षात दिए गए उपालंभ से उत्पन्न हुआ द्वेष आत्मप्रत्यय कहलाता है तथा गुरु द्वारा शिष्य के सम्बन्धी, मित्रादि के समक्ष उसके सन्दर्भ में कटुसत्य कहने से उत्पन्न हुआ द्वेष परप्रत्यय कहलाता है।

10. वेदिकाबद्ध– वेदिका – हाथ की रचना, बद्ध – युक्त अर्थात दोनों हाथों को घुटनों के ऊपर या घुटनों के बाह्य भाग में या घुटनों के पार्श्व भाग में स्थापित करके अथवा गोद में रखकर या बाएँ घूटने को दोनों हाथों के बीच रखकर या दाएँ घुटने को दोनों हाथों के बीच रखकर वन्दन करना, इस तरह पाँच प्रकार का वेदिकाबद्ध दोष जानना चाहिए।

11. भजन्त– यह गुरु मेरे अनुकूल है, भविष्य में भी मेरे अनुकूल रहेंगे– इस अभिप्राय से वन्दन करना अथवा हे आचार्य प्रवर! हम आपको वन्दन करने के लिए खड़े हैं, इस तरह गुरु को एहसान जताते हुए वन्दन करना।

12. भय– यदि मैं वंदन नहीं करूंगा तो गुरु मुझे संघ, कुल, गच्छ या क्षेत्र से बाहर कर देंगे, इस भय से वन्दन करना।

13. मैत्री– अमुक आचार्य मेरे मित्र हैं या अमुक आचार्य के साथ मेरी मित्रता होगी, यह सोचकर वन्दन करना।

14. गौरव– सभी साधुजन यह समझें कि 'मैं वन्दनादि सामाचारी में कुशल हूँ' इस प्रकार गर्व से या प्रशंसा पाने के लिए आवर्त्तादि वन्दन विधि यथावस्थित करना।

15. कारण– ज्ञान, दर्शन व चारित्र के लाभ– इन तीन कारणों को छोड़कर वस्त्र, पात्र आदि की अभिलाषा से गुरु को वन्दन करना।

16. स्तेन– वन्दन करने से मेरी लघुता प्रगट होगी, यदि दूसरे देखेंगे तो कहेंगे कि– 'अहो! ये विद्वान् होते हुए भी वन्दन करते हैं, इससे मेरा अपमान

होगा।' यह सोचकर चोर की तरह छुपकर वन्दन करना अथवा कोई देख नहीं ले, इस तरह अतिवेग से वन्दन करना।

17. **प्रत्यनीक**— आचार्य आदि के आहार, नीहार आदि के समय वन्दन करना।

18. **रूष्ट**— गुरु क्रोधाविष्ट हो, उस समय वन्दन करना अथवा स्वयं क्रोधयुक्त हो, तब वन्दन करना।

19. **तर्जना**— हे गुरुदेव! तुम काष्ठ के महादेव के समान हो। वंदन करने से न प्रसन्न होते हो और न ही नाराज। फिर तुम्हें वंदन करने से क्या लाभ? आप दोनों स्थितियों में सम हो। इस प्रकार तर्जना करते हुए वंदन करना अथवा भृकुटी, तर्जनी आदि से तर्जना करते हुए वन्दन करना।

20. **शठ**— वंदन विश्वास उत्पन्न करने का प्रमुख कारण है, ऐसा सोचकर लोगों में विश्वास उत्पन्न करने के अभिप्राय से यथार्थ विधिपूर्वक वन्दन करना अथवा रुग्णता आदि का झूंठा मार्ग निकालकर यथाविधि वंदन न करना भी शठ दोष है। आजकल कई लोग अस्वस्थता आदि का बहाना ढूँढ़कर विधिवत वन्दन से बचाव कर लेते हैं।

21. **हीलित**— हे भगवन्! आपको वन्दन करने से क्या लाभ होगा? आदि वचनों से हीलना-अवज्ञा करते हुए वंदन करना।

22. **विपलि(रि) कुंचित**— 'वि'+'परि' उपसर्ग है और 'कुंच' धातु अल्पीकृत या अर्धीकृत अर्थ की सूचक है। विकथा करते हुए अल्पवंदन करना अथवा वंदन का एक चरण पूर्ण करके बीच में देश कथा आदि करना, इस प्रकार विपरीत एवं आधा-अधूरा वंदन करना।

23. **दृष्टादृष्ट**— अनेक साधु वंदन कर रहे हो उस समय किसी साधु की ओट में रहकर अथवा अंधेरे में गुरु देख नहीं सके ऐसी मन स्थिति से वंदन किए बिना खड़े रहना या बैठ जाना और गुरु देखने लगे तो तुरंत वंदन करना शुरू कर देना।

24. **शृंग**— जैसे- पशु के दो सींग मस्तक के बाएँ-दाएँ भाग में होते हैं वैसे ही अहो-कायं-काय वगैरह आवर्त्त ललाट के मध्य भाग में न करते हुए बायें-दायें भाग पर करना।

25. **कर**— राज्य के टैक्स की तरह तीर्थंकर परमात्मा या गुरु का टैक्स

समझकर वन्दन करना।

26. करमोचन– गृहस्थ जीवन का त्याग करने के कारण लौकिक कर से तो मुक्त हो गए किन्तु अरिहंत रूपी राजा के वन्दन रूपी कर से मुक्त नहीं हुए हैं, ऐसा समझकर वन्दन करना।

27. आश्लिष्ट–अनाश्लिष्ट– अहो–कायं-काय आदि आवर्त्त करते समय दोनों हाथों से रजोहरण को और फिर मस्तक को स्पर्श करना चाहिए, किन्तु वैसा विधिपूर्वक नहीं करना। यहाँ स्पर्श के चार विकल्प बनते हैं, उनमें पहला विकल्प शुद्ध है–

1. दोनों हाथों से रजोहरण को स्पर्श करना और मस्तक को स्पर्श करना। 2. दोनों हाथों से रजोहरण को स्पर्श करना और मस्तक को स्पर्श नहीं करना। 3. दोनों हाथों से रजोहरण को स्पर्श नहीं करना और मस्तक को स्पर्श करना। 4. दोनों हाथों से रजोहरण को स्पर्श नहीं करना और मस्तक को स्पर्श नहीं करना।

28. न्यून– वंदनसूत्र के व्यंजन (अक्षर), अभिलाप (पद-वाक्य) आदि कम बोलते हुए या अवनमन आदि पच्चीस आवश्यक पूर्ण न करते हुए वन्दन करना।

29. उत्तर चूलिका– उत्तर – पश्चात, चूलिका – शिखा के समान ऊँचा। वन्दन करने के बाद 'मत्थएण वंदामि' पद जोर से बोलना अथवा चूलिका रूप में अधिक कहना।

30. मूक– गूंगे की तरह वंदनसूत्र के अक्षर, आलापक या आवर्त्त आदि को प्रकट स्वर में न बोलकर मुँह में गणगण या मन में बोलते हुए वन्दन करना।

31. ढड्ढर– वंदनसूत्र को तीव्र स्वर या जोर से बोलते हुए वंदन करना।

32. चूडलिक– चुडलिक का अर्थ है जलता हुआ काष्ठ। रजोहरण या चरवला को अलात (जलते हुए काष्ठ) की तरह गोल घुमाते हुए वन्दन करना अथवा हाथ को आयताकार करके 'मैं वंदना करता हूँ' ऐसा कहते हुए वन्दन करना।

तुलना– दिगम्बर परम्परा में भी वन्दना के बत्तीस दोष स्वीकारे गये हैं। यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो इन दोनों परम्पराओं में इस विषयक नाम, क्रम और स्वरूप को लेकर क्वचित असमानता है। श्रृंग, कर, आश्लिष्ट-

अनाश्लिष्ट, चूडलिक आदि कुछ दोष श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर के अनगारधर्मामृत एवं मूलाचार में भी दोषों के नाम आदि में किंचिद् अन्तर है। स्पष्टबोध के लिए दिगम्बर मान्य 32 दोषों के नाम निम्न प्रकार है–

1.अनादृत– अनादर भाव से वन्दन करना। 2. स्तब्ध-जाति आदि के मद से युक्त होकर वन्दन करना। 3. प्रविष्ट–अर्हन्त आदि परमेष्ठियों के अति निकट होकर वन्दन करना। 4. परिपीड़ित– अपने हाथों से घुटनों का संस्पर्श करते हुए वन्दन करना। 5. दोलायित– झूले की तरह शरीर को आगे-पीछे करते हुए वन्दन करना। 6. अंकुशित– अपने मस्तक पर अंकुश की तरह अंगूठा रखते हुए वन्दन करना। 7. कच्छ परिङ्गित– कछुए की तरह बैठे-बैठे ही सरकते हुए या कटिभाग को इधर-उधर करते हुए वन्दन करना। 8. मत्स्योद्वर्त्त– मछली की भाँति एक पार्श्व से उछलते हुए वन्दन करना। 9. मनोदुष्ट– गुरु आदि के प्रति चित्त में खेद पैदा करते हुए वन्दन करना। 10. वेदिकाबद्ध– दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बाँधते हुए या दोनों हाथों से दोनों स्तनों को दबाते हुए वन्दन करना। 11. भय– सात प्रकार के भय से वन्दन करना।

12. विभ्यता– आचार्य के भय से कृतिकर्म करना। 13. ऋद्धि गौरव– संघ के मुनि मेरे भक्त बन जायेंगे, इस भावना से वन्दन करना। 14. गौरव– यश या आहार आदि की इच्छा से वन्दन करना 15. स्तेनित– गुरु आदि से छिपकर वन्दन करना। 16. प्रतिनीत– प्रतिकूल वृत्ति एवं गुरु अवज्ञा करते हुए वन्दन करना। 17. प्रद्वेष– वन्दनीय के साथ कलह आदि हुआ हो तो उनसे क्षमा न मांगते हुए वन्दन करना। 18. तर्जित– अपनी तर्जनी अंगुली से भय दिखाते हुए वन्दन करना। 19. शब्द– वार्त्तालाप करते हुए वन्दन करना। मूलाचार (7/108) की टीका में शब्ददोष के स्थान पर शाठ्यदोष का उल्लेख है। शठता से या प्रपंच से वन्दन करना शाठ्य दोष है। 20. हेलित– दूसरों का उपहास आदि करते हुए या आचार्य आदि का वचन से तिरस्कार करते हुए वन्दन करना।
21. त्रिवलित-मस्तक में त्रिवली डालकर वन्दन करना।

22. कुंचित– कुंचित हाथों से सिर का स्पर्श करते हुए वन्दन करना। 23. दृष्ट– अन्य दिशा की ओर देखते हुए वन्दन करना। 24. अदृष्ट– गुरु की आँखों

से ओझल होते हुए वन्दन करना। 25. संघकर मोचन– वन्दना को संघ की ज्यादती मानते हुए करना। मूलाचार (7/1093) की टीका में 'संघ को कर चुकाना' मानते हुए वन्दन करना, ऐसा अर्थ किया है। 26. आलब्ध– उपकरण आदि की प्राप्ति होने के कारण वन्दन करना। 27. अनालब्ध– उपकरण प्राप्ति के आशय से वन्दन करना। 28. हीन–सूत्रार्थ और कालादि के प्रमाणानुसार वन्दन नहीं करना। 29. उत्तरचूलिका– वन्दन क्रिया शीघ्र करके उसकी चूलिका रूप आलोचना आदि में अधिक समय लगाना। 30 मूक– मूक की तरह मुख में ही सूत्रोच्चारण करते हुए वन्दन करना। 31. दर्दुर– दूसरों के शब्द सुनाई न दे सके, इस तरह उच्च स्वर से सूत्रपाठ बोलते हुए वन्दन करना। 32. सुललित– सूत्रपाठ को पंचम स्वर में गाते हुए वन्दन करना। मूलाचार में अन्तिम दोष का नाम चुलुलित है। इसका अर्थ– एक प्रदेश में स्थित होकर हाथों को मुकुलित करके एवं घुमा करके सभी को वन्दन करना भी किया है।[88]

उपर्युक्त विवरण से द्विविध संप्रदायों में अन्तर्निहित वन्दना के दोषों का स्वरूप भेद भी स्पष्ट हो जाता है। आवश्यक कर्त्ता को इन दोषों का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। जैनाचार्यों ने कहा है कि जो भव्यात्मा 32 दोषों से रहित अत्यंत शुद्ध भाव से कृतिकर्म (द्वादशावर्त्त वंदन) करता है वह शीघ्रमेव निर्वाण पद को या वैमानिक देवलोक को प्राप्त करता है।

मोक्षमार्ग में वन्दन का स्थान

गुरु के प्रति भक्ति और बहुमान को प्रकट करना हमारी कल्याण-परम्पराओं का मूल स्रोत है। आचार्य उमास्वाति का कथन है कि सद्गुरु के प्रति विनय भाव रखने से सेवाभाव का उदय होता है, सेवा करने से शास्त्रों के गंभीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है और पापाचार की निवृत्ति का फल आस्रव निरोध है।

आस्रवनिरोध रूप संवर का फल तपश्चरण हैं, तपश्चरण से कर्मफल की निर्जरा होती है, निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रिया निवृत्ति से मन, वचन व काययोग पर विजय प्राप्त होती है।

त्रियोग पर विजय प्राप्त करने के पश्चात जन्म-मरण की दीर्घ परम्परा का क्षय होता है और उससे आत्मा को मोक्षपद की संप्राप्ति होती है। इस कार्य कारण भाव की निश्चित शृंखला से सूचित होता है कि समग्र कल्याणों का

एकमात्र मूल कारण विनय है।

'इच्छामि खमासमणो' रूप गुरु वंदन का पाठ विनय गुण का साक्षात आदर्श उपस्थित करता है। उपाध्याय अमरमुनि के शब्दों में कहें तो वंदन काल में शिष्य के मुख से एक-एक शब्द प्रेम और श्रद्धा के अमृत रस में डूबा निकलता है। वन्दना करने के लिए पास में आने की भी अनुमति मांगना, चरण छूने से पहले अपने संबंध में 'निसीहिआए' पद के द्वारा सदाचार से पवित्र रहने का गुरु को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट की क्षमायाचना करना, सायंकाल में दिन संबंधी और प्रात:।काल में रात्रि संबंधी कुशलक्षेम पूछना, संयम यात्रा की अस्खलना पूछना, आवश्यक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशातना हुई हो तदर्थ क्षमा माँगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये क्रम से संयम जीवन के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना आदि वन्दन का क्रम कितना भावपूर्ण है। पुनः पुनः 'क्षमाश्रमण' संबोधन का प्रयोग शिष्य के चित्त में क्षमापना की आतुरता प्रकट करता है और गुरु को उच्च कोटि का क्षमामूर्ति संत प्रमाणित करता है।

वन्दन–आत्मविशुद्धि की श्रेष्ठ क्रिया है, विनयगुण का सशक्त आधार है। किसी अपेक्षा वन्दन और विनय को एकार्थक अथवा समतुल्य भी माना जा सकता है।

जैनाचार्यों ने विनय को सर्वोपरि बतलाते हुए कहा है कि विनयहीन पुरुष का शास्त्र पढ़ना निष्फल है, क्योंकि विद्या का फल विनय है और उसका फल मोक्षसुख की उपलब्धि है।[89]

राजवार्तिककार के अनुसार विनय गुण के माध्यम से ज्ञानलाभ, आचार विशुद्धि और सम्यग् आराधना आदि की सिद्धि होती है और अन्त में इसके अवलम्बन से ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है अत: विनयधर्म (वन्दनकर्म) का अवश्य पालन करना चाहिए।[90]

भगवती आराधना के टीकाकार इसके मूल्य को दर्शाते हुए कहते हैं कि शास्त्रकथित विधि के अनुसार श्रुत अध्ययन करना चाहिए, श्रुतदाता गुरु की भक्ति करनी चाहिए, श्रुत को आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए, श्रुतदाता एवं शास्त्र का नाम छिपाना नहीं चाहिए, अर्थ, व्यंजन एवं तदुभय की शुद्धिपूर्वक श्रुताभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार विनय भावपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान ही

पूर्वबद्ध कर्मों का संवरण और क्षरण करता है, अन्यथा ज्ञानावरणी कर्मबन्ध का हेतु बनता है। यहाँ विनय शब्द दो अर्थों का सूचक है क्योंकि श्रुत अध्ययन, वाचना, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान वन्दनपूर्वक ही होते हैं और जहाँ भाववन्दन होता है वहाँ विनयगुण का सद्भाव रहता ही है।[91]

वसुनन्दि श्रावकाचार में बतलाया गया है कि विनय गुण का सदाचरण करने वाला व्यक्ति चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश समूह से दिगन्त को धवलित करता है, सर्वत्र सबका प्रिय हो जाता है तथा उसके वचन सर्वदा आदर योग्य होते हैं। जो कोई भी उपदेश इहलोक या परलोक में प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारक हैं, ऐसे अमृत वचनों को मनुष्य गुरुजनों के विनय से प्राप्त करते हैं। संसार में देवेन्द्र चक्रवर्ती और मण्डलीक राजा आदि के जो सुख प्राप्त होते हैं वह सब विनय का ही फल है और इसी प्रकार मोक्ष सुख भी विनय का ही फल है, चूँकि विनयवान पुरुष का शत्रु भी मित्र भाव को प्राप्त हो जाता है *अतएव मोक्ष इच्छुक को गुरुजनों के प्रति त्रियोग की शुद्धिपूर्वक विनयाचार* का वर्त्तन करना चाहिए।[92]

भारत के ऋषि-सन्तों ने वन्दन का वैशिष्ट्य बतलाते हुए यहाँ तक कहा है कि विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से संयम, तप और ज्ञान का अभिवर्धन होता है और आचार्य एवं सर्व संघ की सेवा हो सकती है। सम्यक् आचार, जीत-प्रायश्चित्त और कल्प प्रायश्चित्त के योग्य गुणों का प्रगट होना, कलह मुक्ति, सरलता, निर्लोभता, निष्कपटता, गुरुसेवाभाव आदि विनय गुण की निष्पत्तियाँ है।[93]

रयणसार आदि में यह भी कहा गया है कि जो साधक गुरु की उपासना अर्थात विनय आदि वन्दन व्यवहार नहीं करते हैं उनके लिए सूर्य उदित होने पर भी अन्धकार जैसा ही है तथा सद्गुरु की भक्ति से विहीन शिष्यों की समस्त क्रियाएँ ऊसर भूमि में पड़े बीज के समान व्यर्थ है।[94]

कहने का आशय यह है कि विनय गुण के अनुवर्त्तन द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर समस्त प्रकार की शक्तियाँ अनावृत्त और हस्तगत हो जाती है। इसके पश्चात कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है अत: मानना होगा कि साधना के क्षेत्र में विनय गर्भित वन्दन कर्म का सर्वोत्तम स्थान है।

वन्दन आवश्यक का उद्देश्य

'विणओ जिणसासणमूलो'– विनय जिन शासन का मूल है। जैनागमों में विनय और नम्रता को आभ्यन्तर तप की कोटि में स्थान दिया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि जिन शासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनयगुण से हीन है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप?[95] दशवैकालिकसूत्र में अनेक उपमानों से विनय के मूल्य को दर्शाया गया है। इस आगम ग्रन्थ का नौवाँ अध्ययन ही 'विनयसमाधि' नाम का है, जो प्रस्तुत विषय का गम्भीर प्रतिपादन करता है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है कि जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रमशः पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।[96]

अनगारधर्मामृत में विनय को इष्ट सद्गुणों का एकमात्र साधन दिखलाते हुए निर्दिष्ट किया गया है कि आर्यता, कुलीनता आदि गुणों से युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्याय का सार मुनिपद धारण करने में है। इस आर्हती शिक्षा का सार सम्यक् विनय है और इस विनय में सत्पुरुषों द्वारा अभिलषित समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैन शिक्षा का सार और इष्ट गुणों का मूल है।[97]

इस तरह उत्तराध्ययनसूत्र आदि में भी विनय की मूल्यवत्ता को सिद्ध करने वाले अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह समझ लेना अत्यन्त जरूरी है कि भले ही जैन धर्म में विनय को प्रधानता दी गई हो किन्तु वह धर्म वैनयिक नहीं है। भगवान महावीर के युग में एक ऐसा पन्थ था, जिसके अनुयायी पशु-पक्षी आदि जो भी मार्ग में मिल जाते, उन्हें वे नमस्कार कर लेते थे। जबकि परमात्मा महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है– हे मानव! तेरा मस्तक सद्गुणियों के चरणों में झुकना चाहिए, वही जीवन उत्कर्ष के लिए अर्थवान्-मूल्यवान् है। सद्गुणी के चरणों में झुकने का अर्थ है– सद्गुणों को नमन करना। सद्गुणों को नमन करने का अभिप्रेत है– उन गुणों को चरितार्थ कर लेना और स्वयं को तद्रूप बना लेना। नम्र होना अलग बात है और हर एक को आदरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। यहाँ विनय का मूल्य सद्गुणी, संतपुरुष, आप्त पुरुष की अपेक्षा से है।

वन्दन क्रिया का मूल उद्देश्य स्वयं को नम्रशील एवं ऋजु परिणामी बनाना

है। अर्हत वचन के अनुसार अहंकार नीच गोत्र का कारण है और नम्रता उच्च गोत्र का। जो नम्र है, ऋजुमना है, निष्कपट है, वही गुणीजनों के मूल्य की वास्तविक पहचान कर उनके अनुग्रह का अधिकारी बन सकता है और बहिरात्मा से परमात्मा की भूमिका को उपलब्ध कर सकता है।

वन्दन आवश्यक की मूल्यवत्ता

अर्हत शासन में विनम्र भावपूर्वक नमन करने को वन्दन कहा गया है। आरोग्य लाभ एवं आत्म उत्कर्ष की दृष्टि से वन्दन क्रिया की उपयोगिता सार्वकालिक सिद्ध होती है।

वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार नष्ट होता है, सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है। श्रुतधर्म की सम्यक् आराधना आत्म शक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बनती है।[98]

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि सद्गुरु का सत्संग करने से शास्त्र श्रवण का लाभ होता है, शास्त्र श्रावण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है। तत्पश्चात क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि लाभ होता है।[99]

भाव भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक किया गया विधि युक्त परमेष्ठी वंदन का अत्यन्त महत्त्व है। इस सन्दर्भ में जशकरणजी डागा द्वारा उद्घाटित कतिपय बिन्दु निश्चित रूप से उल्लेखनीय हैं।[100]

1. मुक्ति प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन– अध्यात्मयोगी देवचन्द्र जी ने कहा है–

एक बार प्रभु वंदना रे, आगम रीते थाय।
कारण सत्ते कार्यनी रे, सिद्धि प्रतीत कराय।।

अर्थात एक बार आगम विधि के अनुसार की गई प्रभु (परमेष्ठी) वंदना सत्य (मोक्ष) का कारण होकर उसकी सिद्धि कराने में समर्थ होती है।[101]

2. तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन का मुख्य हेतु– सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति रूप तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन बीस स्थानों की आराधना से होता है। पंचपरमेष्ठी की अंतःकरण पूर्वक वंदना-स्तुति करने से बीस स्थानों में से आठ

स्थानों की आराधना निम्न प्रकार हो जाती है– 1. अरिहंत की भक्ति 2. सिद्ध की भक्ति 3. प्रवचन– ज्ञान धारक संघ की भक्ति 4. गुरु की भक्ति 5. स्थविरों की भक्ति 6. बहुश्रुत मुनियों की भक्ति 7. तपस्वी मुनियों की भक्ति और 8. परमेष्ठी स्वरूप पूज्य पुरुषों का विनय। शेष बारह स्थानों की भी भाव वंदना से देश आराधना हो जाती है।[102]

3. स्वर्ग प्राप्ति का प्रमुख हेतु– शास्त्रकार कहते हैं कि जिसके स्मरण मात्र से पापी आत्मा भी निःसन्देह देवगति को प्राप्त करता है, उस परमेष्ठी महामंत्र का अन्तर्मन से स्मरण करो।[103] इससे सुस्पष्ट है कि जब पापी जीव भी परमेष्ठि के स्मरण मात्र से देवगति प्राप्त कर सकता है, तब जो भक्तिपूर्वक परमेष्ठी की स्तुति-वंदना करता है उसे निश्चित रूप से स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

4. पुण्यानुबंधी पुण्य अर्जन का हेतु– परमेष्ठी पद की भाव वंदना करते समय साध्य और साधन दोनों श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम होने से साधक उत्कृष्ट श्रद्धा एवं भक्ति जागृत कर सकता है। यह क्रिया उस वंदनकर्त्ता के लिए विपुल निर्जरा के साथ-साथ पुण्यानुबंधी पुण्य अर्जन का हेतु भी होता है। साथ ही परम्परा से मोक्ष उपलब्धि में कारणभूत बनती है।

5. आत्मिक शक्तियों को प्रकट करने का उत्तम हेतु– प्रत्येक देहधारी मनुष्य में अनंत शक्तियाँ विद्यमान हैं। वह जब तक मिथ्यात्वादि अंधकार में उलझा रहता है, वे शक्तियाँ भी सुप्त रहती हैं किन्तु गुणोत्कीर्त्तन, समर्पण, संस्तवन आदि से युक्त होकर भाव वंदना करने से, वे आत्म शक्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट हो जाती हैं।

6. ग्रहशान्ति एवं अनिष्ट निवारण में सहयोगी– परमेष्ठी पद के स्मरण, वंदन एवं स्तवन का महत्त्व दर्शाते हुए शास्त्रकारों ने कहा है– जिस साधक के मन में नमस्कार महामंत्र का ध्यान है, जो जिन शासन का सार और चौदह पूर्व का पिंड रूप है उसका संसार क्या कर सकता है? अर्थात संसार की कोई भी दुष्ट शक्ति उसे पीड़ा नहीं पहुँचा सकती है।[104] ज्योतिषशास्त्र के अनुसार परमेष्ठी पद का नियमित एवं विधिपूर्वक जाप आदि करने से ग्रहशान्ति भी तत्काल होती है।

7. लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति– परमेष्ठी पद का स्मरण-वंदन करने से

लोकोत्तर सिद्धियाँ वैसे ही स्वत: प्राप्त हो जाती है जैसे गेहूँ की खेती करने वालों को खाखला (घास, तृण आदि) प्राप्त हो जाता है।

8. साधना का सशक्त साधन– परमेष्ठी पद की भाव वंदना करते समय परमेष्ठी का पवित्र-निर्मल स्वरूप ध्यान में आने से स्वयं में परमेष्ठी पद प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। भाव द्वारा परमेष्ठी स्वरूप का साक्षात्कार भी होता है, जिसके परिणामस्वरूप उनके गुण वंदन-कर्त्ता के जीवन रूपी उपवन में विकसित होने लगते हैं। प्रवचनसारोद्धार में साधु पुरुषों की वन्दना और पर्युपासना के दस लाभ बतलाये हैं–

1. श्रवण फल 2. ज्ञान फल 3. विज्ञान फल 4. प्रत्याख्यान फल 5. संयम फल 6. संवर फल 7. तप फल 8. निर्जरा फल 9. अक्रिया फल और 10. सिद्धिगमन फल।[105]

उल्लेख्य है कि तृतीय आवश्यक में वंदन से अभिप्रेत गुरुवंदन से है न कि अरिहंत आदि से। यहाँ परमेष्ठी पद का ग्रहण प्रसंगवश ही किया गया है, क्योंकि इसके अन्तिम तीन पद गुरु स्थानीय ही हैं। दूसरे, पंच परमेष्ठी के पाँचों पदों के आरम्भ में 'णमो' शब्द वंदन का ही पर्याय है। अत: मोक्षमार्ग में अग्रसर होने हेतु परमेष्ठी पद का भावपूर्वक वंदन आवश्यक है।

यदि शारीरिक लाभ की दृष्टि से मनन किया जाए तो जिस मुद्रा के द्वारा वन्दन किया जाता है उसके फलस्वरूप • आँतों और जठर की निर्बलता, यकृत की विकृति एवं स्वादु पिण्ड की शिथिलता दूर होती है। • उदर और हृदय के सभी स्नायु बलवान होते हैं। • वात विकार, मंदाग्नि, अनिद्रा, अजीर्ण आदि रोगों का शमन होता है तथा इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

आधुनिक सन्दर्भ में वंदन आवश्यक की प्रासंगिकता

जैन शास्त्रों में वंदन को कर्म निकंदन का प्रमुख हेतु माना है। षडावश्यक में वंदन आवश्यक का तीसरा स्थान है। यदि मनोवैज्ञानिक एवं वैयक्तिक संदर्भ में इसकी उपादेयता का आकलन करें तो निम्न तथ्य ज्ञात होते हैं– वंदन करने से आत्मपरिणाम निर्मल बनते हैं, अहंकार का नाश होता है, विनय एवं लघुता गुण में वृद्धि होती है तथा शक्तियों का प्रवाह ऊर्ध्वगामी बनता है। गुरुजनों एवं बड़ों के आशीर्वाद से आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास होता है और आन्तरिक प्रसन्नता की प्राप्ति होती है जिससे मानसिक शांति मिलती है। वंदन आवश्यक

के माध्यम से विनय गुण की वृद्धि के साथ-साथ अन्य आन्तरिक गुणों का भी वर्धन होता है।

वर्तमान के सामाजिक परिवेश को देखते हुए यदि वंदन आवश्यक को सामाजिक उत्कर्ष का एक महत्त्वपूर्ण घटक कहें तो कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। अभिवादन, स्तुति, नमन, प्रणाम आदि कई अर्थों में वंदन को लिया जाता है। समाज में पारस्परिक सम्बन्ध एवं मधुरता बनाए रखने के लिए तथा आपसी सामंजस्य एवं सौजन्य स्थापित करने हेतु सरलता, लघुता, ऋजुत्ता विनम्रता आदि गुण आवश्यक है। जीवन में इन गुणों का अर्जन वंदन के माध्यम से हो सकता है। विनयी व्यक्ति को उत्तमोत्तम वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है। आज समाज में युवा वर्ग में बड़ों के प्रति आदर-समर्पण का भाव समाप्त होता जा रहा है। लोग वंदन आदि करना भार स्वरूप समझते हैं, कईयों को अपने ड्रेसिंग की चिंता होती है कि झुकने से उनके कपड़ों में सल पड़ जाएंगे और इसलिए झुकने की मात्र रस्म अदा करते हैं किन्तु ऐसी औपचारिकता से विनय गुण उत्पन्न नहीं होता और इन्हीं कारणों से आज पारिवारिक अलगाव की स्थिति बन रही है। गुरु भगवन्तों को भी कई लोग मात्र हाथ जोड़कर बैठ जाते हैं उनके प्रति विधि युक्त आदर-विनय का ध्यान नहीं रखते और इसी कारण आज सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है।

यदि आधुनिक जगत की समस्याओं के संदर्भ में वंदन आवश्यक की महत्ता पर चिंतन करें तो आज शिक्षक वर्ग एवं विद्यार्थी वर्ग तथा मालिक एवं कर्मचारियों के बीच जो भेद रेखा बढ़ रही है उसका एक मुख्य कारण विनय एवं वात्सल्य गुण का अभाव है। इसी कारण पारिवारिक दूरियाँ एवं Generation Gap भी बढ़ रहा है। आज ज्ञान के क्षेत्र में तो मनुष्य प्रगति कर रहा है। परन्तु इस ज्ञान से किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक, सांस्कृतिक या नैतिक विकास परिलक्षित नहीं होता। वर्तमान युग के लोगों में श्रद्धा समर्पण की आत्यंतिक कमी है और इन समस्याओं का निराकरण वंदन आवश्यक के रहस्य एवं गांभीर्य को समझकर हो सकता है।

Management या प्रबंधन के क्षेत्र में यदि वंदन की आवश्यकता पर विचार किया जाए तो इसके द्वारा भाव प्रबंधन, परिवार प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन, क्रोध प्रबन्धन, मान प्रबन्धन आदि में सहायता प्राप्त हो सकती है।

जैसे कि वंदन करने से आन्तरिक द्वन्द दूर होते हैं जिससे अन्तरंग भाव विशुद्ध बनते हैं और पारिवारिक सम्बन्धों में माधुर्य एवं औदार्य की वृद्धि होती है। समाज में भी सरलता, परस्पर सहयोग एवं सौजन्यता से आपसी मतभेदों एवं मनमुटाव को समाप्त किया जा सकता है। कहते हैं "नमे ते सहुने गमे" इस प्रकार झुकने वाला व्यक्ति सभी को प्रिय होता है जिसके माध्यम से वह अपने जीवन में उत्तरोत्तर विकास कर सकता है। इसी के साथ मन के आवेश एवं आवेगों को समाप्त करने, क्रोध को नियंत्रित करने तथा अहंकार एवं दंभ को बाहर निकालने का भी यह सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस प्रकार वंदन यह जीवन में संतुलन स्थापित करते हुए आध्यात्मिक एवं भौतिक उत्कर्ष को देने वाला है।

उपसंहार

जिनोपदिष्ट धर्म का मूल विनय है। वह दो प्रकार का है– निश्चय और व्यवहार। आत्मा के रत्नत्रय रूप गुण का आराधन करना निश्चय विनय है और रत्नत्रय धारी साधुओं का बहुमान आदि करना व्यवहार विनय है। मोक्षमार्ग में दोनों का अमूल्य स्थान है। ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु का विनय अपरिहार्य है। गुरु विनय के माध्यम से ग्रहण करने योग्य और आचरण करने योग्य दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है, जो फलित रूप में अविचल मोक्ष सुख को प्रदान करती है। इसलिए मोक्ष या निर्वाण सुख की इच्छा रखने वाले साधक को समस्त प्रकार से गुरु का विनय करना चाहिए। जो उपासक यथाविधि गुरु का विनय नहीं करता है और मोक्ष की कामना रखता है वह जीवित रहने की इच्छा होने पर भी अग्नि प्रवेश का कार्य करता है अर्थात गुरु का यथार्थ विनय नहीं करने वाला स्वयं की साधना के फल से भ्रष्ट हो जाता है और मानव भव आदि अमूल्य सामग्री से पराजित हो जाता है। धर्मरत्नप्रकरण में कहा गया है कि गुरु के चरणों की सेवा करने में निरत और गुर्वाज्ञा पालन करने में तत्पर साधु ही चारित्र का भार वहन करने में समर्थ होता है, अन्य नहीं, यह कथन नियम से है।[106]

कदाच गुरु मंद बुद्धिवाले हों, अल्प वयस्क हों या अल्प ज्ञानी हो, फिर भी विनीत शिष्य को उनका यथोचित विनय करना चाहिए। अन्यथा बांस के

फल के समान वह स्वयं के द्वारा ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैन शास्त्रों का स्पष्ट निर्देश है कि रत्नत्रय प्राप्ति का अभिलाषी शिष्य गुरु की विनयपूर्वक आराधना करके उन्हें प्रसन्न रखें। तदुपरान्त किसी कारणवश गुरु का अविनय हो जाए या आशातना हो जाए तो उन दोषों की मन-वचन-काया से क्षमा मांगनी चाहिए। यही वजह है कि गुरु को वन्दन करते समय, दिवस और रात्रि कालीन प्रतिक्रमण करते समय, पक्ष, चातुर्मास और संवत्सर के दरम्यान हुए अपराधों की आलोचना करते समय क्षमापना सूत्र बोलकर गुरु से क्षमापना की जाती है।[107] इस वर्णन से सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में गुरु का स्थान सदैव महान रहा है। साथ ही आत्मविद्या की साधना हेतु उनके प्रति वन्दन आदि रूप विनय का आचरण करना परमावश्यक है।

वैदिक परम्परा में भी सद्गुणों की वृद्धि के लिए वन्दन को आवश्यक माना है। मनुस्मृति में कहा गया है कि अभिवादनशील और वृद्धों की सेवा करने वाले व्यक्ति की आयु, विद्या, कीर्ति, और बल ये चारों बातें सदैव बढ़ती रहती है।[108] भागवतपुराण में नवधा भक्ति का उल्लेख है उसमें वंदन भी भक्ति का एक प्रकार माना गया है।[109]

यहाँ वन्दन को साधना के अंगरूप में स्वीकार किया गया है तभी तो गीता के अन्त में 'मां नमस्कुरू' कहकर श्रीकृष्ण ने वन्दन के लिए भक्तों को सम्प्रेरित किया है।[110]

बौद्ध परम्परा में वन्दन को महापुण्य फल वाला बतलाया है। इस सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा है कि पुण्य की अभिलाषा रखता हुआ व्यक्ति वर्ष भर में जो कुछ यज्ञ व हवन करता हैं, उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता। अतः सरल परिणामी महात्माओं का अभिवादन करना ही श्रेयस्कर है।[111] धम्मपद में यह भी कहा गया है कि वृद्ध सेवी और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती है– आयु, सौन्दर्य, सुख और बल।[112] सुस्पष्ट है कि वन्दन की शक्ति अप्रतिम है।

शास्त्रों में विनय को ज्ञान एवं धर्म का मूल माना है। यह एक गुण समस्त गुणों के विकास हेतु बिजरूप है। वन्दन आवश्यक के द्वारा व्यक्ति में ऐसे ही अनेक सद्गुणों का प्रस्फुटन होता है। प्रस्तुत अध्याय के माध्यम से साधक वर्ग

वन्दन क्रिया के स्वरूप से परिचित हो पाएगा एवं अपने भीतर सद्गुणों का सर्जन कर पाएगा।

सन्दर्भ-सूची

1. *आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 14*
2. *'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवने।*

   आवश्यकचूर्णि, पृ. 14
3. *विधिना कायवाङ्मनः प्रणिधाने। प्रवचनसारोद्धार, द्वार 2 की टीका*
4. *शिरसाऽभिवादने। धर्मसंग्रह, अधिकार 2*
5. *वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना..... कृतानतिश्च।*

   भगवती आराधना, गा. 511 की टीका, पृ. 381
6. *वही, गा. 118 की टीका, पृ. 154*
7. *एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम।*

   कषायपाहुड, 1/1-1/86/111/5
8. *धवला टीका, 8/3.41/84/3*
9. *वही, 8/3.42/92/5*
10. *योगसार प्राभृत, 5/49*
11. *जैन,बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक, भा.2, पृ. 397*
12. *वंदणचिइकिइकम्मं, पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।*

    कायव्वं कस्स व केण, वावि काहे व कइखुत्तो॥

    (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1103

    वंदणयं चिइकम्मं किइकम्मं, विणयकम्म पूअकम्मं।

    गुरुवंदण पण नामा, दव्वे भावे दुहाहरणा॥

    (ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 10

    किदियम्मं चिदियम्मं, पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।

    कादव्वं केण कस्स व, कधे व कहिं व कदिखुत्तो॥

    (ग) मूलाचार, 7/578

    वंदणचिइकिइकम्मं, पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।

    वंदणयस्स इमाइं, हवंति नामाइं पंचेव॥

    (घ) प्रवचनसारोद्धार, 2/127
13. *वन्दनकर्म द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च........ विनयक्रियेति*

आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 15

14. सीयलय खुड्डुए वीर, कन्ह सेवगदु पालए संबे।
पंचे ऐ दिट्ठंता, किइकम्मे दव्व भावेहिं ।।

(क) गुरुवंदनभाष्य, गा. 11

(ख) प्रवचनसारोद्धार, गा. 128 की टीका, पृ. 75

(ग) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1104 की टीका, पृ. 15

15. आवश्यकनिर्युक्ति, 1103 की टीका, पृ. 14
16. मूलाचार, 578 की टीका, पृ. 429
17. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1104 की टीका, पृ. 15-16
18. मूलाचार, 578 की टीका, पृ. 428
19. आवश्यकनिर्युक्ति, 1104 की टीका, पृ. 16-17
20. मूलाचार, 578 की टीका
21. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1104 की टीका, पृ. 17
22. वही, पृ. 17
23. द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावत: सम्यग्दृष्टेरूपयुक्तस्य।

आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 15

24. वंदना...अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्ति प्रत्येकं तयोरनेक भेदता...

भगवती आराधना, गा. 118 की टीका, पृ. 154

25. गुरुवंदणमह तिविहं, तं फिट्टा छोभ बारसाऽऽवत्तं।
सिरनमणाइसु पढमं, पुन्न खमासमणदुगि बीअं।।

गुरुवंदणभाष्य, गा. 1

26. अंजलिबद्धो अद्धोणओ अ पंचंगओ अ ति पणामा।

चैत्यवंदनभाष्य, गा. 9

27. नामट्ठवणा दव्वे खेत्ते, काले य होदि भावे य।
एसो खलु वंदणगे, णिक्खेवो छव्विहो होइ।।

मूलाचार, 577 की टीका

28. मूलाचार, 582-585 की टीका
29. ज्ञानदर्शनचारित्रोपचार:। (क) तत्त्वार्थसूत्र 1/23

विणओ तिविहो णाण-दंसण-चरित्तविणओत्ति।

(ख) धवलाटीका, 8/3,41/808

दंसणणाण चरित्ते, तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ, पंचविहो होदि णायव्वो॥

(ग) मूलाचार, 586

30. आवश्यकसूत्र, अध्ययन तृतीय
31. कुछ परम्पराओं में चरवला पर मुखवस्त्रिका के दोनों पट्ट को खोलकर उसकी गुरुचरण के रूप में स्थापना करते हैं, कुछ परम्पराओं में पट्ट सहित मुखवस्त्रिका पर और साधु-साध्वीजी प्रायः रजोहरण की डंडी पर दो भाग की कल्पना करते हुए चरण युगल की स्थापना करते हैं।
32. दोणदं तु जधाजादं, बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च, किदियम्मं पउंजदे॥

मूलाचार, 7/603

33. वही, 603 की टीका
34. चत्तारि पडिक्कमे, किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए।
पुव्वन्हे अवरन्हे किइकम्मा चउदस हवंति॥

(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1201

(ख) मूलाचार, 7/602

35. स्वाध्याये द्वादशेष्टा, षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योग भक्तौ, द्वौ चाहोरात्रगोचराः॥

अनगारधर्मामृत 8/75

36. मूलाचार, पृ. 443-444
37. तपागच्छीय परम्परा में 'सूत्र-अर्थ-तत्त्व खरी सद्दहुं' ऐसा पाठ बोलते हैं।
38. ये पूर्व क्रिया रूप होने से पुरिम कहलाते हैं तथा मुखवस्त्रिका के दोनों भाग की ओर तीन तीन बार होने से छह पुरिम होते हैं।
39. जिस प्रकार कुलवधू के द्वारा निकाला गया घूंघट झूलता रहता है उसी तरह अंगुलियों के अन्तराल में मुखवस्त्रिका का झुलता हुआ आकार बनाना वधूटक कहलाता है।
40. अक्खोड़ा (आस्फोटन) का अर्थ है- खींचना, आकर्षित करना।
41. पक्खोड़ा (प्रस्फोटन) का अर्थ है- खंखेरना, झाड़ना, गिराना। अक्खोड़ा और पक्खोड़ा 9-9 होते हैं, ये क्रमशः एक दूसरे के अन्तराल में होते हैं। यथा पहले

तीन अक्खोड़ा, फिर तीन पक्खोड़ा, फिर अक्खोड़ा-पक्खोड़ा इस तरह दोनों क्रियाएँ तीन-तीन बार = 9-9 बार की जाती है।

42. *नौ अक्खोड़ा और नौ पक्खोड़ा की क्रिया दायें हाथ पर या बायें हाथ पर या दोनों हाथ पर किस तरह की जानी चाहिये? इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक परम्परा के अनुसार यह क्रिया दायें हाथ के द्वारा मुखवस्त्रिका का वधूटक बनाकर बायें हाथ पर की जानी चाहिये। दूसरी परम्परा के मतानुसार क्रमशः दो अक्खोड़ा व एक पक्खोड़ा की क्रिया बांये हाथ पर तथा दो पक्खोड़ा व एक अक्खोड़ा की क्रिया दांये हाथ पर की जानी चाहिए अर्थात सुदेव, सुगुरू, सुधर्म आदरूँ, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं– ये 9 बोल बायें हाथ पर बोले जाने चाहिए तथा ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं, मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूं– ये 9 बोल दायें हाथ पर बोले जाने चाहिए।*

यह ध्यान रहे कि बायें हाथ पर बोल बोलते समय दायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वघूटक बनाये और बायें हाथ की प्रमार्जना करें। इसी तरह दायें हाथ पर बोलों का चिन्तन करते समय बायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वधूटक बनायें और दायें हाथ की प्रमार्जना करें।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि एक अक्खोड़ा या एक पक्खोड़ा की क्रिया में तीन बोल पूर्वक क्रमशः तीन प्रमार्जन की जाती है।

वर्तमान में दोनों परम्पराएँ प्रचलित है। अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार दोनों परम्पराएँ उचित भी है।

43. *दिट्ठिपडिलेहणेगा, नव अक्खोडा नवेव पक्खोड़ा।*
पुरिमिल्ला छच्च, भवे मुहपुत्ती होइ पणवीसा।।

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 96

दिट्ठिपडिलेह एगा, छ उड्ढ पप्फोड़ा तिगतिगंतरिआ।
अक्खोड पमज्जणया, नव नव मुहपत्ति पणवीसा।।

(ख) गुरुवंदण भाष्य, गा. 20

44. *बाहूसिरमुहहियये, पाएसु य हुंति तिन्नि पत्तेयं।*
पिट्ठीइ हुंति चउरो, एसा गुण देह-पणवीसा।।

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 97

पायाहिणेण तिअ तिअ, वामेअर बाहु सीस मुह हियए।
असुंड्ढाहो पिट्ठे, चउ छप्पय देह पणवीसा।।

(ख) गुरूवंदण भाष्य, गा.21

45. *किन्हीं ग्रन्थों में रसगारव, ऋद्धिगारव ऐसा क्रम भी मिलता है।*
46. *प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 59*
47. *आउसस्स न वीसामो, कज्जम्मि बहूणि अंतरायाणि।*
तम्हा हवइ साहूणं, वट्टमाण जोगेण ववहारो॥
महानिशीथ, उद्धृत प्रबोध टीका, भा. 1
48. *प्रबोध टीका, भा. 1, पृ. 64*
49. *वही, पृ. 74*
50. *वन्दनं वन्दन योग्यानां धर्माचार्याणां पञ्चविंशत्यावश्यकविशुद्धं द्वात्रिंशद्दोषरहितं नमस्करणम्।* *योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. 234*
51. *दो ओणयं अहाजायं, किइकम्मं बारसावयं।*
चउसिर तिगुत्तं च, दुपवेसं एग निक्खमणं॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1202
दोऽवणयमहाजायं, आवत्ता बार चउसिर तिगुत्तं।
दुपवेसिग निक्खमणं, पणवीसावसय किइकम्मे॥
(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 18
(ग) प्रवचनसारोद्धार, 2/68
52. *इच्छा य अणुन्नवणा, अव्वाबाहं च जत्त जवणा य।*
अवराह खामणावि अ, वंदणदायस्स छट्ठाणा॥
छंदेणणुजाणामि, तहत्ति तुब्भंपि वट्टए एवं।
अहमवि खामेमि तुमं, वयणाइं वंदणरिहस्स॥
(क) गुरुवंदनभाष्य, गा. 33-34
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 2/99, 101
53. *पंचमहव्वयजुत्तो, संविग्गोऽणालसो अमाणी य।*
किदियम्म णिज्जरट्ठी, कुणइ सदा ऊणरादिणिओ॥
मूलाचार, 7/592
54. *सव्याधेरिव कल्पत्वे, विदृष्टेरिव लोचने।*
जायते यस्य संतोषो, जिनवक्त्रविलोकने॥
परीषह सहः शान्तो, जिनसूत्र विशारदः।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो, गुरु भक्तः प्रियंवदः॥

आवश्यकमिदं धीरः, सर्वकर्म निसूदनम् ।
सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो, नापरस्यास्ति योग्यता ।।

अमितगति श्रावकाचार, 8/19-21

55. *सम्यग्दृष्टीनां क्रियार्हा भवन्ति। चारित्रसार, 158/6*

56. *समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं ।*
पंचसमिय-तिगुत्तं, असंजम-दुगुंछगं ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, 1106

57. *आयरिय उवज्झायाणं, पवत्तयत्थेरगण धरादीणं ।*
एदेसिं किदियम्मं, कादव्वं णिज्जरट्ठाए ।।

मूलाचार, 7/593

58. *गोम्मटसार, जीवकाण्ड की जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका, 116/278/22*

59. *आयरिय उवज्झाए, पवत्ति थेरे तहेव रायणिए ।*
एएसिं किइकम्मं, कायव्वं निज्जरट्ठाए ।।

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 102
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, 1195
(ग) गुरुवंदनभाष्य, गा. 13

60. *आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1138-1139*

61. *पसंते आसणत्थे य उवसंते उवट्ठिए ।*
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजइ ।।

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 125
(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 16
(ग) मूलाचार, गा. 600
(घ) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1199

62. *विक्खित्त पराहुत्ते, अ पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा ।*
आहारं नीहारं, कुणमाणे काउकामे य ।।

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 124
(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 15

63. *गुरुवंदनभाष्य, गा. 14*

64. *चउदिसि गुरुग्गहो इह, अहुट्ठतेरस करे सपरपक्खे ।*
अणणुन्नायस्स सया, न कप्पए तत्थ पविसेउं ।।

गुरुवंदनभाष्य, गा. 31

65. हत्थंतरेणबाधे, संफासपमज्जणं पउज्जंतो।
जाचेंतो वंदणयं, इच्छाकारं कुणइ भिक्खू॥

मूलाचार, गा. 611

66. पंच छ सत्त हत्थे, सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ, गवासणेणेव वंदंति॥

मूलाचार, गा. 195

67. नमोऽस्त्विति नतिः शास्ता, समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्य जने नते॥
धर्मवृद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशी रगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्॥

आचारसार, 66-67

68. पडिकमणे सज्झाए, काउस्सग्गा-वराह-पाहुणए।
आलोयण-संवरणे, उत्तम (अ) ट्ठे य वंदणयं॥

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 174

(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 17

69. प्रवचनसारोद्धार, गा. 174 की टीका

70. आलोयणायं करणे, पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।
अवराहे य गुरुणं, वंदणमेदेसु ठाणेसु॥

मूलाचार, 7/601

71. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1201
(ख) मूलाचार, गा. 602

72. मूलाचार, 602 की टीका

73. वही, 602 की टीका

74. अनगार धर्मामृत, 9/29, पृ. 658-659

75. पासत्थाई वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जराहोई।
कायकिलेसं एमेव, कुणइ तह कम्मबंधं च॥

आवश्यकनिर्युक्ति, 1108

76. जे बंभचेर भट्ठा पाए, उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा, बोही य सुदुल्लहा तेसिं॥

वही, 1109

77. (क) *आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 18-19*

(ख) *प्रवचनसारोद्धार, गा. 103-123*

(ग) *पासत्थो ओसन्नो, कुसील संसत्तओ अहाछंदो।*
दुग-दुग-ति-दु णेगविहा, अवंदणिज्जा जिणमयंमि ।।

गुरुवंदनभाष्य, गा. 12

78. *आसायणा उ दुविहा, मिच्छापडिवज्जणा य लाभे य।*

दशाश्रुतस्कन्धनियुक्ति, गा. 15

79. *वही, गा. 19*

80. *वही, गा. 15-17*

81. *भिक्षुआगम विषय कोश, भा. 2, पृ. 111*

82. *दव्वे खेत्ते काले, भावे आसायणा मुणेयव्वा... निशीथभाष्य,*

2641-2643, 2649

83. *सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं– इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ...*
तं जहा– 1. सेहे रायणियस्स पुरओ गंता, भवइ आसायणा सेहस्स।

दशाश्रुतस्कन्ध, मधुकरमुनि, दशा-3

84. *प्रवचनसारोद्धार, 2/129-149*

85. *पुरओ पक्खासन्ने, गंताचिट्ठण निसीअणा-यमणे।*
आलोअणऽपडिसुणणे, पुव्वालवणे य आलोए ।।
तह उवदंस निमंतण, खद्धाययणे तहा अपडिसुणणे।
खद्धत्ति त तत्थगए, किं तु तज्जाय नो सुमणे ।।
नो सरसि कहंछित्ता, परिसंभित्ता अणुट्ठयाइ कहे।
संथारपायघट्टण, चिट्ठुच्च समासणे आवि ।।

गुरुवंदणभाष्य, गा. 35-37

86. *दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गा. 21, 22, 24*

87. (क) *प्रवचनसारोद्धार, 2/150-173*

(ख) *दोस अणाडिय थड्डिय, पविद्ध परिपिंडियं च टोलगइं।*
अंकुस कच्छ भरिंगिय, मच्छुव्वत्तं मणपउट्ठं ।।
वेइयबद्ध भयंतं, भय गारव मित्त कारणा तिन्नं।
पडिणीय रूट्ठ तज्जिय, सड्ढहीलिय विपलिउं-चिययं ।।

दिट्ठमदिट्ठं सिंगं, कर तम्मोअण अणिद्धणालिद्धं।
ऊणं उत्तरचूलिअ, मूअं ढड्डर चुडलियं च॥
गुरुवंदनभाष्य, गा. 23-25

88. (क) *अनगार धर्मामृत, 8/98-111*
(ख) *मूलाचार, 7/605-609*

89. *विणएण विप्पहूणस्स, हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।*
विणओ सिक्खाए फलं, विणयफलं सव्वकल्लाणं॥
भगवती आराधना, गा. 130

90. *ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनय-भावनम्.....विनय भावनं क्रियते।*
तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक, 9/23 पृ. 622-623

91. *भगवती आराधना, गा. 302 की टीका पृ. 276*

92. *विणएण ससंकुज्जलजसोह, धवलिय दियंतओ पुरिसो।*
सव्वत्थ हवइ सुहओ, तहेव आदिज्जवयणो य॥
जे केइ वि उवएसा, इह परलोए सुहावहा संति।
विणएण गुरुजणाणं, सव्वे पाउणइ ते पुरिसा॥
देविंद चक्कहरमंडलीय, रायाइजं सुहं लोए।
तं सव्वं विणयफलं, णिव्वाण सुहं तहा चेव॥
सत्तू व मित्तभावं, जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स।
विणओ तिविहेण तओ, कायव्वो देसविरएण॥
वसुनन्दि श्रावकाचार, गा. 332-336

93. *विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं।*
णिगएणाराहिज्जइ, आयरियो सव्व संघो य॥
आयारजीदकप्प गुणदीवणा, अत्तसोधिणिज्झंझा।
अज्झव मद्दव लाघव, भत्ती पल्हाद करणं च॥
भगवती आराधना, 131-132

94. (क) *पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 6/19*
(ख) *रयणसार, गा. 78*

95. *विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।*
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो?
आवश्यकनिर्युक्ति, 1216

96. मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरूहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलं रसो य ।।
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुयं सिग्धं, निस्सेसं चा भिगच्छइ ।।
दशवैकालिकसूत्र, 9/2/1-2

97. सारं मुमानुषत्वेऽर्हद्, रूपसंपदिहार्हति ।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ।।
अनगार धर्मामृत, 7/62

98. विणओवयार माणस्स, भंजणा पूयणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा, सुयधम्माराहणाऽकिरिया ।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 1215

99. सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि ।।
भगवतीसूत्र, 2/5/112

100. जिनवाणी, प्रतिक्रमण विशेषांक, नवम्बर, 2006, पृ. 207-208

101. संभवनाथ स्तवन, गा. 5

102. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 6/23
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 10/310-319

103. स्मृतेन येन पापोऽपि, जन्तुः स्यान्तियतं सुरः ।
परमेष्ठि नमस्कार, मंत्र तं स्मर मानसे ।।
जिनवाणी, पृ. 208

104. जिण सासणसारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्धरो ।
जस्स मणे नवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ ।।
नवकारमहामन्त्रकल्प, पृ. 2

105. तहारूवाणं भंते समणं वा माहणं वा वंदमाणस्स वा पज्जुवासमणस्स वा वंदणा पज्जुवासणा य किं फला पन्नत्ता? उत्तर– गोयमा सवणफला,... सिद्धिगइगमणफलन्ति। प्रवचनसारोद्धार, पृ. 57

106. गुरुपय-सेवा निरओ, गुरु-आणाराहणंमि तल्लिच्छो ।
चरण-भर-धरण-सत्तो, होइ जई नन्नहा नियमा ।।
धर्मरत्नप्रकरण, गा. 126

107. प्रबोध टीका, भा. 1, पृ. 73-74

अध्याय-5

प्रतिक्रमण आवश्यक का अर्थ गांभीर्य

षडावश्यकों में प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है। यह सभी में प्रधान एवं प्रमुख है इसलिए वर्तमान व्यवहार में छहों आवश्यकों की संयुक्त क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहा जाता है। दैनिक कर्त्तव्य रूप इन आवश्यक क्रियाओं का पालन करते हुए आम तौर पर सभी परम्पराओं में यही बोला जाता है कि मैं प्रतिक्रमण कर रहा हूँ, प्रतिक्रमण करने जा रहा हूँ, आज संवत्सरी का प्रतिक्रमण करना है। किन्तु आवश्यक कर रहा हूँ या आवश्यक करना चाहिए ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रचलन में नहीं है।

वस्तुत: प्रतिक्रमण आवश्यक का एक स्वतन्त्र अंग है। आत्म संशुद्धि एवं दोष परिष्कार का जीवन्त साधन है, निर्मल विचारों को संपुष्ट करने का परमामृत है तथा अपनी आत्मा को परखने एवं निरखने का अमोघ उपाय है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से संयम धर्म की साधना करते हुए प्रमादवश किसी तरह की स्खलना हो जाए या व्रत आदि का अतिक्रमण हो जाए तो उसे मिथ्या समझकर अन्तर्भावना से उसकी निन्दा करना, उस अकृत्य के लिए पश्चात्ताप करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए जागरूक रहना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का सम्बन्ध तीनों कालों से है। भूतकाल में किए गए हिंसाजन्य कार्यों) की मन, वचन, काया से गर्हा करना भूतकाल का प्रतिक्रमण है, वर्तमान में संभावित सावद्य योगों का मन-वचन-काया से संवर करना अर्थात सामायिक की आराधना करना वर्तमान का प्रतिक्रमण है तथा अनागत काल के सावद्य योगों का परित्याग करने के लिए प्रत्याख्यान करना भावी प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ विन्यास

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+क्रमण=प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना' इतना ही होता है, परन्तु रूढ़ि प्रवाह से 'प्रतिक्रमण' शब्द चौथे आवश्यक का तथा छह आवश्यक के समुदाय

का भी बोध करवाता है। अंतिम अर्थ में इस शब्द का प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहों आवश्यकों के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस तरह व्यवहार में और अर्वाचीन ग्रंथों में 'प्रतिक्रमण' शब्द एक प्रकार से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्य आवश्यक के अर्थ में 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया है। प्रतिक्रमणहेतुगर्भ, प्रतिक्रमणविधि, धर्मसंग्रह आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्व साधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलित रूप से करते हुए देखे जाते हैं।

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है– पुनः लौटना, असंयम से संयम में लौटना। 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'क्रमु' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर प्रतिक्रमण शब्द बना है। प्रति का अर्थ है– पुनः, क्रमण का अर्थ है– लौटना अर्थात पाप कार्यों से पुनः लौटना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण एक प्रशस्त क्रिया है अतः प्रत्येक स्थिति में पुनः लौटना यह अर्थ युक्ति संगत नहीं होता है, इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कौन? किससे? किन उद्देश्यों से पुनः लौटे?

इन प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यह है कि आत्मा को प्रमादस्थान या पापस्थान से पीछे लौटना है। इस प्रसंग को अधिक स्पष्टता के साथ कहा जाए तो अनन्त चतुष्ट्य रूप स्वस्थान से प्रमाद आदि परस्थान में गयी हुई आत्मा को फिर से मूल स्थान में लाने की क्रिया करना प्रतिक्रमण कहलाता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र– ये आत्मा के स्वस्थान हैं और प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति-अरति, पर-परिवाद, माया-मृषावाद और मिथ्यात्वशल्य– ये अठारह पाप परस्थान हैं।

संसारी आत्मा प्रमादवश स्वस्थान को छोड़कर परस्थान की ओर अभिमुख होती है। यहाँ 'प्रमाद' शब्द से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय– इन चतुष्क का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पापकर्म की प्रवृत्ति करने में ये सभी सहकारी कारण हैं। मिथ्यात्व का अर्थ– विपरीत श्रद्धान, अविरति का अर्थ– असंयम, प्रमाद का अर्थ– ध्येय के प्रति उदासीन या निरपेक्ष भाव और कषाय

का अर्थ– अध्यवसायों की मलिनता है। इस आत्मा को मुहूर्त मात्र के लिए यह भान हो जाए कि 'मैं प्रमादवश स्वयं को भूल गया हूँ और असत मार्ग का अनुगामी बन चुका हूँ' तो वह पुनः स्वस्थान की ओर लौट सकता है। इस प्रकार स्वयं की ओर गमन करने की क्रिया प्रतिक्रमण कहलाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र टीका में इसका व्युत्पत्ति अर्थ करते हुए दर्शाया है कि शुभ योगों में से अशुभ योगों में गए हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[1]

दिगम्बर आचार्यों ने इसका निरुक्त्यर्थ करते हुए बतलाया है कि प्रमाद के द्वारा किये गये दोषों का जिस क्रिया के द्वारा निराकरण किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।[2]

प्रतिक्रमण की विभिन्न परिभाषाएँ

जैन परम्परा के प्रबुद्ध आचार्यों ने प्रतिक्रमण आवश्यक पर अनेकों टीकाएँ रची है। यदि उन व्याख्या साहित्य का सम्यक् अवलोकन किया जाए तो किंचिद् महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्न प्रकार उपलब्ध होती हैं–

भाष्यकार संघदासगणि ने प्रतिक्रमण का अर्थ भूतकाल के सावद्य योगों से निवृत्त होना बतलाया है तथा यह निवृत्ति अनुमोदन विरमण रूप होती है।[3]

चूर्णिकार जिनदासगणि के अनुसार सेवित दोषों को पुनः न करने का संकल्प करना, दोष शुद्धि के लिए यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करना और गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त को वहन करना प्रतिक्रमण है।[4] प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए आवश्यकचूर्णि में तीन महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक उद्धृत किंये हैं, जिनके अनुसार प्रतिक्रमण के निम्न अर्थ होते हैं–

1. प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् फिर से शुभ योग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।
2. औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौटना प्रतिक्रमण है। जैन सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष, मोह-ईर्ष्या आदि औदयिक भाव कहलाते हैं और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं। औदयिक भाव को संसार भ्रमण का हेतु और क्षायोपशमिक भाव को मोक्ष प्राप्ति का जनक माना गया है। अस्तु, क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से

क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तब यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

3. अशुभ योग से निवृत्त होकर नि:शल्य भाव से उत्तरोत्तर शुभ योगों में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[5]

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से जो कचरा आत्मभावों में आया है उसे सम्यक चिन्तन, आलोचन एवं पश्चाताप द्वारा बाहर करना, पीछे हटाना, प्रतिक्रमण है।

दशवैकालिकचूर्णि में मिथ्या दुष्कृत देने को प्रतिक्रमण कहा गया है। प्रस्तुत चूर्णि के अनुसार समिति-गुप्ति का आचरण करते हुए अथवा आवश्यक क्रिया करते हुए अतिक्रमण हो जाने पर, सहसा अतिक्रमण होने पर, दूसरे के द्वारा कहे जाने पर अथवा स्वयं के द्वारा उस अतिक्रमण को याद कर 'मिच्छामि दुक्कडं' देना प्रतिक्रमण है। इससे दोष शुद्धि होती है।[6]

अनुयोगद्वारचूर्णि के अनुसार मूलगुणों और उत्तरगुणों में स्खलना होने पर जब पुन: संवेग की प्राप्ति होती है उस समय मुनि भाव विशुद्धि के कारण प्रमाद की स्मृति करता हुआ आत्म निन्दा और गुरुसाक्षीपूर्वक दोषों की गर्हा (निन्दा) करता है, वह प्रतिक्रमण है।[7]

दिगम्बराचार्य पूज्यपाद ने इस विषय का निरूपण करते हुए कहा है कि 'मेरा दोष मिथ्या हो'– गुरु के समक्ष इस प्रकार निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना, प्रतिक्रमण है।[8]

आचार्य अकलंक, आचार्य वीरसेन, आचार्य अपराजित आदि ने दोष निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहा है। जैसे– राजवार्तिक का पाठ है कि कृत दोषों से निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[9] धवलाटीका का पाठांश है कि चौराशी लक्ष गुणों से संयुक्त पंच महाव्रतों में लगे हुए दोषों का शोधन करना, निवर्त्तन करना, प्रतिक्रमण है।[10] विजयोदया टीका में लिखा गया है कि अचेलकत्व आदि दस स्थिर कल्प का परिपालन करते हुए मुनि के द्वारा जिन अतिचारों का सेवन किया जाता है उसके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना आठवाँ स्थितिकल्प है।[11]

मूलाचार आदि कतिपय ग्रन्थों के उल्लेखानुसार कृत दोषों के लिए मिथ्यादुष्कृत देना प्रतिक्रमण है। मूलाचार में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का मन, वाणी एवं शरीर के

द्वारा निन्दा और गर्हा पूर्वक शोधन करना प्रतिक्रमण है।[12] इसका स्पष्टार्थ यह है कि आहार, शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसति, शयन, आसन और *गमन-आगमन आदि मार्ग* रूप क्षेत्र के *विषय में;* पूर्वाह्न, अपराह्न, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्य-वर्तमान आदि काल के विषय में और मन के परिणाम रूप भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादि चतुष्क के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण करना अथवा अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना, गृहीत व्रतों में स्थिर हो जाना अथवा अशुभ परिणाम पूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है।

यहाँ अपने दोषों को आत्मसाक्षी पूर्वक प्रकट करना निन्दा है और गुरु आदि के समक्ष दोषों का प्रकाशन करना गर्हा है।

नियमसार में वाचिक प्रतिक्रमण को स्वाध्याय कहा है।[13] धवलाटीका के रचयिता वीरसेनाचार्य ने पूर्वोक्त मतों का अनुसरण करते हुए कहा है कि सद्गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना, संवेग और निर्वेद से युक्त होकर, फिर से पूर्वकृत दोषों को न करने का संकल्प करते हुए अपराधों से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।[14]

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय दृष्टि से प्रतिक्रमण का स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि पूर्वकाल से आबद्ध शुभ एवं अशुभ कर्म से अपनी आत्मा को विलग रखना, वह आत्म प्रतिक्रमण है।[15] आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार में वर्णित है कि वाचिक प्रयोग को छोड़कर एवं रागादि भावों का निवारण करके जो केवल आत्मा को ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है। जो भव्य जीव विराधना का परिहार करके आराधना में प्रवर्त्तन करता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह *प्रतिक्रमणमय* है।[16] इसी प्रकार अनाचार को छोड़कर आचार में, उन्मार्ग का त्याग करके जिनमार्ग में, शल्यभाव को छोड़कर निःशल्य भाव से, आर्त्त-रौद्र ध्यान का वर्जन करके धर्म या शुक्ल ध्यान में, मिथ्यादर्शन आदि परित्याग करके सम्यग्दर्शन को ध्याता है, वह जीव प्रतिक्रमण है।[17] यहाँ आशय है कि राग-द्वेष के परिणामों से रहित आत्मा ही प्रतिक्रमण की अधिकारी होती है और उसके द्वारा किया गया प्रतिक्रमण ही यथार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है।

आचार्य अमितगति ने योगसार में प्रतिक्रमण की एक नई व्याख्या की है। उनके अनुसार पूर्वकाल में किए गए दुष्कर्मों के प्रदत्त फल को अपना नहीं मानना प्रतिक्रमण है।[18]

प्रवचनसार के अनुसार मूल स्वरूप को प्रकट करने वाली क्रिया बृहद् प्रतिक्रमण कहलाती है।[19]

सामान्य रूप में प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ 'पापों से निवृत्त होना' अथवा 'पापों से पीछे हटना' इस रूप में सर्वग्राह्य है। आत्मा की वृत्ति जो अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति में लाना अथवा अतीत के जीवन का प्रामाणिकता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसा संकल्प करना प्रतिक्रमण है।

शब्द विन्यास की दृष्टि से प्रतिक्रमण का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है– प्रति-प्रतिकूल, क्रम-पद निक्षेप। इसका स्पष्टार्थ है कि जिन पदों से मर्यादा के बाहर गया है उन्हीं पदों से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है। जैसा कि पूर्व में कहा भी गया है–

स्वस्थानाद यत्परस्थानं, प्रमादस्यवशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ।।

उपर्युक्त व्याख्याओं का समीकरण किया जाए तो निम्न निष्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं–

- व्रत, नियम या मर्यादा का उल्लंघन हुआ हो तो पुनः उस मर्यादा में आना प्रतिक्रमण है।
- शुभ योगों में से अशुभ योगों में प्रवृत्त हुई आत्मा का वापस शुभ योगों में आना प्रतिक्रमण है।
- प्रमाद वश विभाव की ओर उन्मुख हुई आत्मा का पुनः स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है।
- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से आत्मा को हटाकर सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान एवं सम्यकचारित्र में प्रवृत्त करना प्रतिक्रमण है।
- किये हुए पाप कार्यों की आलोचना एवं पश्चात्ताप करके, उन्हें फिर से न दोहराने का संकल्प करना प्रतिक्रमण है।

इस तरह प्रतिक्रमण एक प्रकार का आत्म स्नान है जिसके माध्यम से आत्मा कर्म रहित होकर हल्की एवं पवित्र बनती है।

छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण ऐसा अनुपम आवश्यक है जिसके सम्बन्ध में कईजन स्वतन्त्र जानकारी की अभिरुचि रखते हैं तथा इस क्रिया को निष्ठा के साथ सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं अत: इस आवश्यक की विस्तृत विवेचना खण्ड 12 में की जाएगी।

सन्दर्भ-सूची

1. *प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽ शुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्। योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति 3, पृ. 688*
2. *प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिककादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं। गोम्मटसार जीवकाण्ड, भा.2 367 की टीका, पृ. 613*
3. *नेयं पडिक्कमामि त्ति, भूय सावज्जओ निवत्तामि।*
   तत्तो य का निवत्ति?, तदणु मईओ विरमणं जं॥
   विशेषावश्यकभाष्य, 3572
4. *पडिक्कमामि नाम अपुणक्करणताए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जामि। आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 38*
5. *स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।*
   तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते॥
   क्षायोपशमिकाद्वापि भावादौदयिकं गतः।
   तत्रापि हि स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः॥
   पति पति पवत्तणं वा, सुभेषु जोगेसु मोक्खफलदेस।
   निस्सल्लस्य जतिस्या जं, तेणं तं पडिक्कमणं॥
   आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 52
6. *पडिक्कमणं पुण...पवयणमादिकादिसु आवस्सगाइक्कमे वा...'मिच्छामि दुक्कडं' करेति, एवं तस्स सुद्धी। दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 13*
7. *मूलुत्तरावराहक्खलणाए क्खलितो पच्चागतसंवेगे विसुज्झमाणभावो पमातकरणं संभरंतो अप्पणो णिंदण गरहणं करेति। अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. 18*
8. *मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्त प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्। सर्वार्थसिद्धि, 9/22, पृ. 336*
9. *अतीत दोष निवर्त्तनं प्रतिक्रमणम्। तत्वार्थ राजवार्तिक, 6/23, पृ. 530*

10. *पंचमहव्वएसु चउरासीदिलक्खण गुणगणकललिएसु समुप्पण्णकलंक पक्खालणं पडिक्कमणं णाम। धवला टीका, 8/2, 31/83/6*
11. *भगवती आराधना, गा. 313 की टीका, पृ. 331*
12. *दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराहसोहणयं।*
    णिंदणगरहण जुत्तो, मणवचकायेण पडिकमणं ।।
    मूलाचार, 1/26
13. *वयणमयं पडिक्कमणं ..... जाण सज्झायं।*
    नियमसार, 153
14. *गुरूणमालो च णाए विणा... पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं।*
    धवलाटीका, 13/5,3,26/60/8
15. *कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।*
    तत्तो णियत्तण अप्पयं, तु जो सो पडिक्कमणं ।।
    समयसार, 383
16. *मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।*
    अप्पाणं जो झायदि, तस्सदु होदित्ति पडिक्कमणं ।।
    आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
    सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।
    नियमसार, 83-83
17. *वही, 85-91*
18. *कृतानां कर्मणां पूर्वं, सर्वेषां पाकमीयुषाम्।*
    आत्मीयत्वपरित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ।।
    योगसार प्राभृत, 5/50

अध्याय-6

कायोत्सर्ग आवश्यक का मनोवैज्ञानिक अनुसंधान

कायोत्सर्ग षडावश्यक का पांचवाँ अंग है। यह पाप विमुक्ति एवं देह निर्ममत्व की अचूक साधना है। प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य कायोत्सर्ग है, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम है जिससे हम अपने अन्तर्मन में या आत्मस्वभाव में स्थित हो सकते हैं। वस्तुत: हमारे दु:खों का मूल कारण शरीर और ऐन्द्रिक सुख के प्रति रहा हुआ ममत्व भाव है। हम दिन-रात इन्द्रिय लालसा की सम्पूर्ति एवं ऐच्छिक सुख की प्राप्ति के लिए ही परिश्रम कर रहे हैं। शरीरजन्य अस्थायी सुख के पीछे इतने भ्रमित हैं कि इनका सम्पोषण करने वाले भौतिक संसाधनों को एकत्रित करने में समग्र जीवन बिता देते हैं। कभी-कभार ये सुख के साधन शरीर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। कायोत्सर्ग– इन बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से अंतर्मुखी होने का सशक्त आधार है।

हमारा कुटुम्बियों एवं मित्रों के प्रति जो रागात्मक भाव होता है वह भी अधिकांश दैहिक स्तर पर ही होता है। संसारी व्यक्ति राग दशा के कारण ही मोहपाश में बंधता है। ज्ञानीपुरुषों का उपदेश है कि बन्धन-मुक्त होने के लिए सम्बन्ध-मुक्त होना आवश्यक है। सम्बन्ध-मुक्ति के लिए देह से सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है। देहिक सम्बन्ध का विच्छेद होना ही कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग का अर्थ विन्यास

कायोत्सर्ग का शब्दानुसारी अर्थ है– काया का उत्सर्ग करना। इसका प्रयोजनभूत अर्थ है– शारीरिक प्रवृत्ति एवं शारीरिक ममत्व का विसर्जन करना अथवा देहातीत अवस्था का अनुभव करना। अनुयोगद्वार में कायोत्सर्ग का गुणनिष्पन्न नाम 'व्रण चिकित्सा' अर्थात घावों की चिकित्सा करने वाला कहा गया है। सावधानी पूर्वक धर्म आराधना एवं अहिंसादि व्रतों का सदाचरण करते हुए भी प्रमाद आदि के कारण अनेक दोष लग जाते हैं, अपराध वृत्ति पनप उठती है, आत्मा के ज्ञानादि गुण असत्प्रवृत्तियों से आच्छादित हो जाते हैं, ये निर्मल स्वरूपी आत्म शरीर के घाव हैं। इन दोष रूपी घावों को ठीक करने के

लिए कायोत्सर्ग चिकित्सा (उपचार) के समान है। यह मन में उत्पन्न हुए विकार रूपी घावों को दूर करने के लिए एक प्रकार का मरहम है। यह वह औषधि है जो दोष रूपी घावों को दूरकर एवं विमल स्वभावी आत्मा को स्वस्थ कर उसे परिपुष्ट करती है। अतः इसका व्रण चिकित्सा नाम सार्थक है। कायोत्सर्ग का शब्दार्थ है– काया का उत्सर्ग करना, शरीर का त्याग करना आदि।

शास्त्रकारों के अनुसार काय + उत्सर्ग– इन दो पदों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है– यहाँ 'काय' शब्द से मात्र औदारिक या स्थूल शरीर नहीं है, परन्तु उसके द्वारा होने वाला अमुक प्रकार का व्यापार या उसके प्रति रहा हुआ ममत्व है। 'उत्सर्ग' शब्द का अर्थ केवल परित्याग नहीं है, परन्तु 'चेष्टां प्रति परित्यागः'– चेष्टा सम्बन्धी शरीर का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

यहाँ शरीरत्याग का अर्थ– शारीरिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग है। आचार्य अपराजितसूरि ने विजयोदया टीका में शरीर त्याग के आशय को स्पष्ट करते हुए प्रश्न उठाया है कि आयु के पूर्ण होने पर ही आत्मा शरीर को छोड़ती है, अन्य समय में नहीं, तब अन्य समय में कायोत्सर्ग का कथन कैसे घटित हो सकता है? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि शरीर का वियोग न होने पर भी इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, असारत्व, क्षणिकत्व, दुःखहेतुत्व, संसार परिभ्रमण हेतुत्व आदि दोषों का विचार कर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा संकल्प उत्पन्न होने से शरीर के प्रति रहे हुए राग भाव का अभाव हो जाता है उससे शरीर का त्याग सिद्ध होता है। जैसे– प्रियतमा पत्नी से किसी तरह का अपराध हो जाने पर पतिसंग एक घर में रहते हुए भी पति का प्रेम हट जाने के कारण वह परित्यक्त कही जाती हैं, उसी तरह देह के प्रति निर्ममत्व भाव उत्पन्न हो जाने पर, आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान हो जाने पर देही व्यक्ति निश्चयतः विदेही कहलाता है।[1] दूसरा कारण यह है कि मुनिजन शारीरिक सुख-सुविधाओं को जुटाने एवं उसके अपाय मूलक कारणों को हटाने में निरुत्सक रहते हैं इसलिए उनकी कायोत्सर्ग साधना योग्य ही है।

कायोत्सर्ग की शास्त्रोक्त परिभाषाएँ

कायोत्सर्ग का एक नाम व्युत्सर्ग है। आगमवेत्ताओं ने कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग का सम्बोधन भी दिया है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से किंचिद् अन्तर होने पर भी प्रयोजनात्मक स्वरूप की अपेक्षा दोनों एकरूप हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के

अनुसार सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु काया को हिलाता-डुलाता नहीं है, उसके द्वारा कायिक चेष्टा का जो परित्याग किया जाता है वह कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) है।[2]

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो बार-बार शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग करता है उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह कहा जाता है।[3] आगमिक व्याख्याकारों ने भी कायोत्सर्ग को प्राय: 'व्युत्सर्ग' संज्ञा प्रदान की है। दशवैकालिक चूर्णिकार के अभिमत से अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार शारीरिक क्रिया का त्याग करना व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) है।[4] दशवैकालिक टीका के अनुसार शरीर के प्रति ममत्व का अभाव होना व्युत्सर्ग और शरीर की विभूषा नहीं करना त्याग है।[5]

उत्तराध्ययन टीका में आगमोक्त नीति के अनुसार शारीरिक क्रियाओं का निरोध एवं ममत्व विसर्जन करने को कायोत्सर्ग बतलाया है।[6] आचार्य वट्टकेर के अनुसार शरीर से ममत्व का त्याग करना और जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिन्तवन करना कायोत्सर्ग है।[7]

मूलाचार में कायोत्सर्ग के लिए व्युत्सर्ग शब्द का प्रयोग हुआ है।[8] इसमें कायोत्सर्ग का स्वरूप व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक आदि निश्चित क्रियाओं में शास्त्रोक्त उच्छ्वास की गणना से नमस्कार मंत्र पूर्वक जिनेश्वर गुणों के चिन्तन में तद्रूप होकर देह ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।[9]

नियमसार में इसकी आध्यात्मिक व्याख्या उपदर्शित करते हुए कहा गया है कि शरीर आदि पर द्रव्यों में स्थिर बुद्धि का परित्याग कर आत्मा का निर्विकल्प रूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है।[10]

राजवार्तिककार के अनुसार परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।[11] आचार्य अमितगति ने परमार्थ कायोत्सर्ग का अधिकारी उसे बतलाया है जो देह को अचेतन, नश्वर एवं कर्म निर्मित समझकर उसके परिपोषण के प्रयोजन से कोई कार्य नहीं करता है।[12]

कायोत्सर्ग को कायिक ध्यान, काय गुप्ति, काय विवेक, काय व्युत्सर्ग और काय प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है।[13]

समाहारत: बाह्य रूप से क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य आदि का और आभ्यन्तर रूप से कषाय आदि का त्याग करना अथवा नियत और अनियत काल के लिए देहानुराग का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के पर्यायवाची

जैन साहित्य में काय + उत्सर्ग के अनेक नामान्तर उल्लिखित हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने काय और उत्सर्ग के भिन्न-भिन्न पर्याय बतलाये हैं। काय शब्द के निम्न अर्थ हैं– काय, शरीर, देह, बोन्दी, चय: उपचय:, संघात, उच्छ्र्य, समुच्छ्र्य, कलेवर, तनु, पाणु आदि।[14]

उत्सर्ग शब्द के एकार्थवाची इस प्रकार हैं– उत्सर्ग, व्युत्सर्ग, उज्झना, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्याग, उन्मोचना, परिशातना, शातना आदि।[15]

इन पर्यायवाची नामों में काय, शरीर, देह, उत्सर्ग और व्युत्सर्ग शब्द अधिक प्रचलित हैं। वर्तमान में काया के स्थान पर देह और शरीर शब्द का अधिक प्रयोग होता है। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग का अर्थ हुआ– देह का उत्सर्ग, शरीर का उत्सर्ग। शास्त्रकारों ने व्युत्पत्ति सिद्ध यह अर्थ किया है– जिसमें अस्थि आदि पदार्थों का संग्रह होता है वह काय है [16] अथवा जो अन्न आदि से वृद्धि को प्राप्त होता है वह काय है [17] उस काया के ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है।

यहाँ काय शब्द से तात्पर्य स्थूल काया नहीं है, अपितु उसके प्रति रहा हुआ ममत्व या तत्सम्बन्धी मोह भाव है। आवश्यक टीका में कहा गया है कि व्यापार युक्त काया का परित्याग करना अर्थात स्थान, मौन और ध्यान के सिवाय काया से अन्य प्रवृत्ति नहीं करना यही कायोत्सर्ग का भावार्थ है।[18]

कायोत्सर्ग के प्रकार

कायोत्सर्ग ध्यान की प्रारम्भिक एवं मूल अवस्था है। पूर्वधर आचार्यों ने इस पद्धति के अनेक मार्ग निरूपित किये हैं।

द्विविध– चूर्णिकार जिनदासगणी ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बतलाये हैं– 1. द्रव्य कायोत्सर्ग और 2. भाव कायोत्सर्ग।

1. द्रव्य कायोत्सर्ग– शारीरिक चेष्टाओं का निरोध करना, चंचल वृत्तियों का परिहार करना, देह को स्थिर करना आदि द्रव्य कायोत्सर्ग है।

2. भाव कायोत्सर्ग– धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में रमण करना, अन्तश्चेतना को पवित्र विचारों से आप्लावित करना भाव कायोत्सर्ग है।[19]

आचार्य भद्रबाहु के अभिमतानुसार कायोत्सर्ग के दो प्रकार निम्न हैं–
1. चेष्टा और 2. अभिभव।

1. चेष्टा कायोत्सर्ग– भिक्षाचर्या, विहार, स्थंडिलगमन आदि की प्रवृत्ति के पश्चात कायोत्सर्ग करना चेष्टा कायोत्सर्ग है। चेष्टा कायोत्सर्ग विविध प्रयोजनों से किया जाता है अत: अनेक प्रकार का है।

2. अभिभव कायोत्सर्ग– देवता, मनुष्य या तिर्यञ्च कृत उपसर्गों को सहन करने के लिए, अष्टविध कर्मशत्रुओं को पराजित करने के लिए एवं शुभ ध्यान की सिद्धि करने के लिए कायोत्सर्ग करना अभिभव कायोत्सर्ग है।[20]

अभिभव कायोत्सर्ग निम्न दो प्रकार का कहा गया है–

(i) पराभिभूत– हूण, शक आदि आक्रामक लोगों से अभिभूत होकर 'मैं शरीर आदि सभी का व्युत्सर्ग करता हूँ'– इस संकल्प के साथ कायोत्सर्ग करना, योग्य स्थान पर निश्चेष्ट स्थिर हो जाना, पराभिभूत अभिभव कायोत्सर्ग है।

(ii) पराभिभव– अनुलोम-प्रतिलोम उपसर्ग करने वाले देव, मनुष्य आदि को तथा क्षुधा, ममता, परीषह, अज्ञान और भय– इन पाँचों को अभिभूत करने हेतु कायोत्सर्ग का संकल्प करना, पराभिभव कायोत्सर्ग है।[21]

चतुर्विध– आचार्य शिवार्य, आचार्य वट्टकेर आदि ने कायोत्सर्ग के चार रूपों का निरूपण किया है, जो द्रव्य और भाव रूप कायोत्सर्ग को समझने के लिए परम आवश्यक है–

1. उत्थित-उत्थित– धर्मध्यान या शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग करना उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग है। यह कायोत्सर्ग करने वाला पुरुष द्रव्य और भाव दोनों से उत्थित (जागृत) होता है। स्थाणु की भाँति शरीर का उन्नत एवं निश्चल रहना, द्रव्योत्थान है। आत्मा के मूल स्वरूप की प्राप्ति कराने में निमित्तभूत एक ही वस्तु में स्थिर रहना भावोत्थान है।

2. उत्थित निविष्ट– आर्त्त-रौद्र ध्यान की परिणति पूर्वक कायोत्सर्ग करना, उत्थित निविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है। इस कायोत्सर्ग में साधक द्रव्य से खड़ा होता है, परन्तु भाव से गिरा रहता है अर्थात इसमें शरीर तो खड़ा रहता है पर आत्मा बैठी रहती हैं। इसी से एक काल और एक क्षेत्र में उत्थान (खड़े होना) और निविष्ट (बैठना) इन दोनों आसनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों के निमित्त भिन्न हैं।

3. उपविष्ट उत्थित– बैठे हुए की मुद्रा में धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान करना, उपविष्ट उत्थित कायोत्सर्ग है। इस कायोत्सर्ग में साधक अशक्ति आदि कारणों से खड़ा तो नहीं हो पाता, परन्तु भाव से खड़ा रहता है अर्थात आत्मा जागृत रहती है।

4. उपविष्ट-निविष्ट– बैठे हुए आसन में आर्त्त-रौद्र ध्यान रूप अशुभ चिन्तन में लीन रहना, उपविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के इस प्रकार में न तो शरीर उत्थित रहता है और न शुभ परिणाम ही, दोनों आत्मिक दृष्टि से सुप्त रहते हैं। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र उसका दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग चतुष्टय में से साधक के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। ये दोनों कायोत्सर्ग वास्तविक रूप में कायोत्सर्ग माने जाते हैं। इनके द्वारा यह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर परमार्थ आनन्द की अनुभूति कर सकता है।[22]

नवविध– शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के नौ प्रकार भी उपदिष्ट किये हैं–[23]

1. **उच्छ्रित-उच्छ्रित**	खड़े होकर धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान में प्रवृत्त होना।
2. **उच्छ्रित**	खड़े होकर धर्म, शुक्ल, आर्त्त एवं रौद्र– किसी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना, चिन्तनशून्य रहना। इसमें खड़े होकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत: उच्छ्रित है, धर्म ध्यान का अभाव होना भावत: शून्य है।[24]
3. **उच्छ्रित-निषण्ण**	खड़े होकर आर्त्त-रौद्र ध्यान करना। यहाँ खड़े होकर ध्यान करना–द्रव्यत: उच्छ्रित है तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान करना भावत: निषण्ण है।
4. **निषण्ण-उच्छ्रित**	बैठ हुए धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान करना। यहाँ द्रव्यत: निषण्ण और भावत: उच्छ्रित है।
5. **निषण्ण**	बैठे हुए धर्म-शुक्ल अथवा आर्त्त-रौद्र किसी ध्यान में संलग्न नहीं होना। यहाँ द्रव्यत: निषण्ण और भावत: शून्य है।

6. **निषण्ण-निषण्ण**	बैठे हुए आर्त्त-रौद्र ध्यान में निरत रहना। यहाँ द्रव्यत: निषण्ण और भावत: भी निषण्ण है।
7. **निपन्न-उच्छ्रित**	लेटे हुए धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न होना। सोए हुए कायोत्सर्ग करना– द्रव्यत: निपन्न है तथा शुभ ध्यान करना– भावत: उच्छ्रित है।
8. **निपन्न**	लेटे हुए धर्म-शुक्ल अथवा आर्त्त-रौद्र किसी ध्यान में संलग्न नहीं होना। यहाँ द्रव्यत: निपन्न और भावत: शून्य है।
9. **निपन्न-निपन्न**	लेटे हुए आर्त्त एवं रौद्र ध्यान में निरत रहना। इस कोटि का साधक द्रव्य और भाव दोनों से निपन्न (सुप्त) है।

इनमें से पहला, चौथा एवं सातवाँ प्रकार ग्राह्य है।[25]

षड्विध– दिगम्बर परम्परा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मूलाचार में निक्षेप दृष्टि से कायोत्सर्ग के छह प्रकार उल्लिखित हैं–

1. नाम कायोत्सर्ग– तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त नामकरण के द्वारा उत्पन्न हुए अतिचारों का शोधन करने हेतु कायोत्सर्ग करना अथवा 'कायोत्सर्ग' ऐसा नामोच्चारण मात्र करना, नाम कायोत्सर्ग है।

2. स्थापना कायोत्सर्ग– अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतिचारों के शोधन निमित्त कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग से परिणत मुनि के प्रतिमा आदि की स्थापना करना, स्थापना कायोत्सर्ग है।

3. द्रव्य कायोत्सर्ग– सदोष द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत (अध्याय प्रमुख) का ज्ञानी, किन्तु उसके उपयोग से रहित जीव और उसका शरीर द्रव्य कायोत्सर्ग है।

4. क्षेत्र कायोत्सर्ग– सदोष क्षेत्र के सेवन से होने वाले अतिचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सेवित स्थान में कायोत्सर्ग करना, क्षेत्र कायोत्सर्ग है।

5. काल कायोत्सर्ग– सावद्य काल के आचरण द्वारा उत्पन्न हुए दोषों का परिहार करने के लिए कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से युक्त काल का कायोत्सर्ग करना, काल कायोत्सर्ग है।

6. भाव कायोत्सर्ग– मिथ्यात्व आदि अतिचारों के शोधन के लिए किया गया कायोत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता तथा उसमें उपयोग सहित और उसके ज्ञान सहित जीवों के प्रदेश का ध्यान करना भाव कायोत्सर्ग है।[26] आवश्यकचूर्णि में द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग– ऐसे दो भेद भी निर्दिष्ट हैं– **1. द्रव्य व्युत्सर्ग–** गण, उपधि, शरीर, भक्त-पान आदि का त्याग करना या आर्त्तध्यान आदि करने वाले का कायोत्सर्ग अथवा अनुपयुक्त जीव का कायोत्सर्ग द्रव्य व्युत्सर्ग है। **2. भाव व्युत्सर्ग–** मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति का त्याग करना अथवा संसार, कषाय, कर्म का त्याग करना अथवा धर्मध्यान, शुक्लध्यान करने वाले का कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग है।[27]

संसार का परित्याग करना संसार व्युत्सर्ग है। संसार चार प्रकार का है– द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार और भाव संसार।[28] चार गति रूप संसार द्रव्य संसार है। ऊर्ध्व, मध्य एवं अधो: ऐसे तीन लोक रूप संसार क्षेत्र संसार है। एक समय से लेकर पुद्गल परावर्त्तन काल रूप काल संसार है तथा जीव का विषयासक्ति रूप भाव, भाव संसार है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो इन्द्रियों के विषय हैं, वे ही वस्तुत: संसार है। उसमें आसक्त हुआ जीव ही संसार परिभ्रमण करता है। अत: संसार परिभ्रमण के मूल कारण–मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय और अशुभ योग का परित्याग करना, संसार व्युत्सर्ग है। क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कषाय चतुष्क का त्याग करना, कषाय व्युत्सर्ग है। अष्टविध कर्मों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग करना, कर्म व्युत्सर्ग है।[29]

दशवैकालिकचूर्णि के अनुसार व्युत्सर्ग के दो प्रकार निम्नोक्त हैं– 1. बाह्य उपधि का त्याग– जिनकल्पी के बारह उपकरण, स्थविरकल्पी के चौदह उपकरण तथा आहार, शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति का त्याग करना, बाह्य व्युत्सर्ग है। 2. आभ्यन्तर उपधि का त्याग– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय का त्याग करना, आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।[30]

संक्षेप में कहा जाए तो चित्तशक्ति को एकाग्र करने हेतु महापुरुष आदि चेतन अथवा मूर्ति आदि अचेतन वस्तु का आलंबन लेकर सूत्र या अर्थ का

चिंतन करना ध्यान है और ध्यान कायोत्सर्ग पूर्वक होता है।

कायोत्सर्ग में लगने वाले दोष

कायोत्सर्ग, साधना पद्धति का विशिष्ट प्रयोग है। यदि तथाकथित विधि से इसका परिपालन किया जाये तो, साधक के लिए अनन्य निर्जरा का हेतु बनता है। अत: कतिपय दोषों से रहित कायोत्सर्ग करना चाहिए। श्वेताम्बर आचार्यों ने कायोत्सर्ग के सम्भावित 19 दोष बतलाये हैं, वे निम्न हैं–

1. **घोटक–** जैसे घोड़ा एक पैर को उठाकर या झुकाकर खड़ा होता है वैसे ही एक पैर का घुटना झुकाकर खड़े रहना घोटक दोष है।

2. **लता–** हवा के वेग से लता के समान शरीर के अवयवों को हिलाते हुए कायोत्सर्ग करना, लता दोष है।

3. **स्तम्भ कुड्य–** स्तम्भ या दीवार का सहारा लेकर अथवा स्तम्भ के समान शून्य चित्त होकर कायोत्सर्ग करना स्तम्भ कुड्य दोष है।

4. **माल–** चौकी आदि के ऊपर खड़े होकर अथवा सिर के ऊपर छत, रज्जू वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर का टेका देकर कायोत्सर्ग करना माल दोष है।

5. **शबरी–** जिस प्रकार नग्न भीलनी अपने गुप्तांग को छुपाने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार दोनों जंघाओं को पीड़ित करके कायोत्सर्ग में स्थित रहना शबरी दोष है।

6. **वधू–** कुलवधू की तरह मस्तक झुकाकर कायोत्सर्ग करना वधू दोष है।

7. **निगड़–** बेड़ी पहने हुए की तरह दोनों पैर दूर-दूर या अत्यन्त निकट रखकर कायोत्सर्ग करना निगड़ दोष है।

8. **लम्बोत्तर–** प्रवचनसारोद्धार के अनुसार नाभि से ऊपर और घुटने से नीचे तक चोलपट्टा पहन कर कायोत्सर्ग करना लम्बोत्तर दोष है। मूलाचार टीका के अनुसार नाभि से ऊपर का भाग लम्बा करके या शरीर को अधिक ऊँचा करके या अधिक झुका करके कायोत्सर्ग करना लम्बोत्तर दोष है।

9. **स्तन–** डांस, मच्छर आदि के डंस के भय से या उनका रक्षण करने के लिए चोलपट्ट से स्तन भाग को ढ़ककर कायोत्सर्ग करना स्तन दोष है। मूलाचार के टीकानुसार स्तन भाग पर दृष्टि रखते हुए कायोत्सर्ग करना स्तनदृष्टि दोष है।

10. **ऊर्ध्विका–** यह दोष बाह्य एवं आभ्यन्तर की अपेक्षा दो प्रकार का है– (i) बाह्य ऊर्ध्विका– गाड़ी की उध की तरह एड़ियों को सम्मिलित कर पैरों के पंजे दूर रखते हुए कायोत्सर्ग करना। (ii) आभ्यन्तर ऊर्ध्विका– दोनों पैरों के अंगुष्ठों को मिलाकर एवं एड़ियों को फैलाकर कायोत्सर्ग करना ऊर्ध्विका दोष है।

11. **संयती–** साध्वी की तरह चोलपट्ट या चद्दर से कंधा ढककर कायोत्सर्ग करना संयती दोष है।

12. **खलीन–** घोड़े के लगाम की तरह रजोहरण या चरवले को पकड़कर कायोत्सर्ग करना अथवा लगाम से पीड़ित हुए घोड़े के समान मस्तक भाग को ऊँचा-नीचा करते हुए कायोत्सर्ग करना खलीन दोष है।

13. **वायस–** कौएँ के समान चारों दिशाओं में दृष्टि घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना वायस दोष है।

14. **कपित्थ–** पहने हुए वस्त्र पसीने से मैले हो जाएंगे, इस भय से वस्त्रों का गोपन करके कायोत्सर्ग करना। दिगम्बर मतानुसार कैथे के फल के समान मुट्ठी बंद करके कायोत्सर्ग करना कपित्थ दोष है।

15. **शिरकंप–** यक्षाविष्ट की भाँति सिर हिलाते या धुनाते हुए कायोत्सर्ग करना शिरकंप दोष है।

16. **मूक–** मूक व्यक्ति के समान हूं-हूं करते हुए अथवा मुख विकृत एवं नाक सिकोड़ते हुए कायोत्सर्ग करना मूक दोष है।

17. **अंगूलिका-भ्रू–** नमस्कार मंत्र आदि गिनने के लिए अंगुलियों का आलम्बन लेते हुए या बार-बार पलक झपकाते हुए या भौंहों को चलाते हुए या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हुए कायोत्सर्ग करना अंगूलिका-भ्रू दोष है।

18. **वारूणी–** शराबी की तरह नमस्कार मंत्र गिनते समय बड़बड़ाहट करते हुए या मदिरापीने वाले के समान झूमते हुए कायोत्सर्ग करना वारूणी दोष है।

19. **प्रेक्षा–** वानर की तरह पार्श्व भाग को देखते हुए या होठ फड़फड़ाते हुए कायोत्सर्ग करना प्रेक्षा दोष है।[31]

दिगम्बर आचार्यों ने तीसरे वन्दन आवश्यक की भाँति कायोत्सर्ग के भी बत्तीस दोष स्वीकार किये हैं। उनमें क्वचित दोष श्वेताम्बर मान्य ही है। पाठक वर्ग की जानकारी के लिए 32 दोषों के नाम इस प्रकार हैं–

1. घोटक 2. लता 3. स्तम्भ 4. कुड्य 5. माला 6. शबरवधू 7. निगड़ 8. लम्बोत्तर 9. स्तनदृष्टि 10. वायस 11. खलीन 12. युग-जुआँ से पीड़ित हुए बैल के समान गर्दन प्रसरित कर कायोत्सर्ग करना 13. कपित्थ 14. शिरः प्रकंपित 15. मूकत्व 16. अंगुलि 17. भ्रूविकार 18. वारूणीपायी 19. से 28. दिशा अवलोकन-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः- इन दस दिशाओं का अवलोकन करते हुए कायोत्सर्ग करना 29. ग्रीवोन्नमन- गरदन को अधिक ऊँची करते हुए कायोत्सर्ग करना 30. प्रणमन- गरदन को अधिक झुकाते हुए कायोत्सर्ग करना 31. निष्ठीवन- खंखारते या थूंकते हुए कायोत्सर्ग करना 32. अंगामर्श- शरीर का स्पर्श करते हुए कायोत्सर्ग करना।[32]

तुलना- यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो दिगम्बर मान्य 12वां एवं 19 से लेकर 32 तक कुल 15 दोष श्वेताम्बर अवधारणा से भिन्न हैं।

• स्तम्भ और कुड्य तथा अंगूलिका और भ्रू विकार- ये चार दोष दिगम्बर मत में पृथक्-पृथक् माने गये हैं, जबकि श्वेताम्बर मत में 'स्तंभकुड्य' नाम का और 'अंगूलिका-भ्रू' नाम का एक-एक दोष माना गया है।

• दिगम्बर मत में 'शबरवधू' नाम का एक ही दोष है, परन्तु श्वेताम्बर अभिमत में शबरी और वधू- ये दो पृथक्-पृथक् दोष के रूप में मान्य हैं।

• 10वां ऊर्ध्विका, 11वां संयती, 19वाँ प्रेक्षा- ये तीन दोष दिगम्बर परम्परा में नहीं माने गये हैं। शेष दोषों में किंचिद् क्रम परिवर्तन के साथ लगभग समानता है।

• लम्बोत्तर, स्तन, संयती आदि कुछ दोष मुनि की अपेक्षा से कहे गये हैं, किन्तु यथोचित रूप से श्रमण एवं गृहस्थ सभी को उनका वर्जन करना चाहिए।

• यहाँ कायोत्सर्ग के 19 या 32 दोष ऊर्ध्वस्थित कायोत्सर्ग की अपेक्षा गिनाये गये हैं, क्योंकि खड़े होकर कायोत्सर्ग करना, यह उत्कृष्ट प्रकार है। अतः आराधक वर्ग को यथाशक्य खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए।

अन्य कुछ दोष- 1. समय बीतने के पश्चात कायोत्सर्ग करना 2.लुब्ध चित्त से कायोत्सर्ग करना 3. सावद्य-चित्त से कायोत्सर्ग करना 4. विमूढ़ चित्त से कायोत्सर्ग करना 5. पट्टकादि के ऊपर पैर रखकर कायोत्सर्ग करना, 6. शरीर का अनावश्यक स्पर्श करते हुए कायोत्सर्ग करना 7. अविधि पूर्वक

कायोत्सर्ग करना आदि। जैसे शराब पकती है और बुड-बुड की आवाज होती है वैसी आवाज करना।

लंबुत्तर, स्तन और संयती- ऐसे तीन दोष साध्वीजी को नहीं लगते, क्योंकि उन्हें अपने सभी अंग वस्त्र से ढ़ककर रखने चाहिए। श्राविकाओं के लिए उपर्युक्त तीन एवं वधू ऐसे चार दोष नहीं लगते, क्योंकि लज्जा स्त्री का भूषण होने से उन्हें मस्तक एवं दृष्टि नीची रखनी चाहिए।

कायोत्सर्ग के आगार

आगार अर्थात आकार। यहाँ आगार का अर्थ प्रकार या अपवाद है। अपवाद का अर्थ है- विशेष प्रकार की छूट। सामान्यत: कायोत्सर्ग काल में समस्त दुष्चेष्टाओं का निरोध किया जाता है, फिर भी कायिक व्यापार का समग्र रूप से परित्याग कर देना शक्य नहीं है। कायिक व्यापार दो प्रकार का होता है- कुछ कायिक प्रवृत्तियाँ इच्छा के अधीन होती हैं जैसे- गमन करना, बैठना, शयन करना, भोजन करना आदि, इन व्यापारों पर नियन्त्रण किया जा सकता है किन्तु कुछ कायिक-प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक होती हैं, उन पर नियन्त्रण करना असम्भव है।

यहाँ आगार का अभिप्राय- नैसर्गिक काय-व्यापार की छूट रखना है। नैसर्गिक कायिक प्रवृत्तियाँ बारह प्रकार की मानी गई हैं, जिनके होने पर कायोत्सर्ग भग्न नहीं होता है। उनके नाम ये हैं- 1. उच्छ्वास- श्वास लेना 2. नि:श्वास- श्वास निकालना 3. खांसी, 4. छींक 5. जंभाई- मुख से वायु का निर्गमन होना 6. डकार 7. अपान वायु का संचार होना अर्थात मलद्वार से वायु का नि:सरण होना 8. चक्कर आना 9. पित्त के प्रकोप से मूर्च्छित होना 10. सूक्ष्म रूप से अंग संचालन होना अर्थात आँख की कीकी फरकना, हाथ-पैर के स्नायुओं का फरकना, शरीर के रोम फूलना आदि क्रियाएँ। ये प्रवृत्तियाँ इच्छा या प्रयत्न के अधीन न होकर शरीर में जब कभी होती रहती है। 11. सूक्ष्म रूप से शरीर में कफ एवं वायु का संचार होना। यह क्रिया शरीर में निरन्तर प्रवर्त्तमान रहती है। वायु द्वारा कफ को पृथक्-पृथक् स्थानों पर ले जाया जाता है। किसी समय इसका वेग इतना प्रबल हो जाता है कि व्यक्ति को स्वयं इसका बोध और अनुभव होता है कि शरीर के आभ्यन्तर भाग में कफ का हलन-चलन हो रहा है। यह भी एक जाति का सूक्ष्म काय-व्यापार है। 12. सूक्ष्म रूप से दृष्टि संचालन

होना। कायोत्सर्ग अवस्था में दृष्टि को चेतन या अचेतन वस्तु पर स्थिर की जाती है, परन्तु सम्भव है कि इस समय कितनी ही बार दृष्टि अस्थिर हो जाती है।[33]

कारण कि मन की तरह दृष्टि को भी स्थिर करना दुष्कर है। कहा भी है– जिस प्रकार मन को स्थिर करना दुष्कर है उसी तरह चक्षु को स्थिर करना मुश्किल है। इसीलिए सत्त्वशाली आत्माओं ने इस क्रिया को अपवाद के रूप में स्वीकार किया है। तीर्थंकर जैसी आत्माएँ तो एक-एक रात्रि पर्यन्त अनिमेष दृष्टि से कायोत्सर्ग कर सकती हैं, परन्तु सामान्य प्राणियों के लिए तो किसी भी तरह सम्भव नहीं है।

कायिक व्यापार निरोध के दुष्परिणाम

आयुर्वेद शास्त्र का सामान्य अभिप्राय है कि 'वेगात् न धारयेत्' अर्थात वायु आदि से उत्पन्न होने वाले वेगों को नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि उससे अनेक प्रकार के रोगोत्पत्ति की संभावना रहती है। जैसे–

- खांसी को रोकने से खांसी बढ़ती है तथा दमा, अरुचि, हृदय के रोग, क्षय और हेडकी का रोग होता है।
- छींक रोकने से सिरदर्द होता है, इन्द्रियाँ निर्बल बनती है और वायु का रोग प्रकृति प्रदत्त हो जाता है।
- जंम्भाई का निरोध करने से भी पूर्वोक्त रोग ही उत्पन्न होते हैं।
- डकार रोकने से अरुचि, कंपन, हृदय और छाती में भयंकर पीड़ा, नाभि खिसकना, खांसी, हेडकी आदि रोग पैदा होते हैं।
- अपान वायु को रोकने से गुल्म, उदावर्त, उदर शूल और ग्लानि होती है तथा वायु, मूत्र और मल बंध हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप आँखों की रोशनी और जठराग्नि का नाश होता है। इससे हृदय रोग होते हैं। अतएव किसी भी स्थिति में शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं का अवरोध नहीं करना चाहिए।[34]

अन्य आगार– प्राचीन परम्परा के अनुसार कायोत्सर्ग साधना में उपस्थित होने से पूर्व अन्नत्थसूत्र (आगारसूत्र) बोला जाता है। इस सूत्र में उपर्युक्त 12 आगारों का स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु उसमें आगत 'इत्यादि' शब्द से निम्नोक्त चार आगारों को भी ग्रहण करना चाहिए।

1. अग्नि फैलती हुई आकर शरीर को स्पर्श करने लगे तो नियत स्थान को छोड़कर दूसरे अनुकूल स्थान पर जा सकते हैं।

2. कोई हिंसक प्राणी सन्मुख आ जाए अथवा उस स्थान पर अन्य प्राणी का छेदन-भेदन करने लगे तो अन्य अनुकूल स्थान पर जा सकते हैं।
3. कोई चोर या राजा आकर समाधि भंग करने जैसे प्रयत्न करने लगे तो उस समय कायोत्सर्ग पूर्ण करने से पहले दूसरी जगह जा सकते हैं।
4. सर्प डस ले या सर्पदंश की संभावना हो तो स्थानान्तर हो सकते हैं।

उक्त संयोगों में कायोत्सर्ग को विधिपूर्वक पूर्ण न कर सकें तब भी कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है। उपरोक्त चार आगार मुख्यतया श्मशान भूमि, शून्यगृह या अरण्य भूमि की अपेक्षा समझने चाहिए क्योंकि अग्नि, चोर, हिंसक पशु आदि के उपद्रव जंगल आदि में विशेष होते हैं। कितनी ही बार विशिष्ट साधना के बावजूद भी विकट संयोगों में आत्मस्थिर रह पाना मुश्किल हो जाता है, उस स्थिति में किंचिद् अपवाद रख सकते हैं।

कायोत्सर्ग के योग्य दिशा, क्षेत्र एवं मुद्राएँ

पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिस दिशा में जिनप्रतिमा स्थित हो, उस तरफ मुख करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग साधना में उपस्थित होने से पूर्व प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह– इन पाँच आश्रवद्वारों से निवृत्त होना चाहिए।

जहाँ दूसरों का आना-जाना न हो, किसी तरह का विक्षेप उत्पन्न न हो, निकट में कोलाहल न हो, ऐसे एकान्त, निर्जन एवं अबाधित स्थान में कायोत्सर्ग करना चाहिए।[35]

कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठकर और लेटकर– तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है।

1. खड़ी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला जिनमुद्रा में स्थित होवें। इस मुद्रा में कायोत्सर्ग करने की रीति इस प्रकार है–

दोनों हाथों को घुटनों की ओर लटका दें, पैरों को सम रेखा में रखें, एड़ियाँ मिली हों, दोनों पैरों के पंजों के बीच चार अंगुल का अन्तर हो, दाएँ हाथ में मुखवस्त्रिका और बाएँ हाथ में रजोहरण या चरवला धारण करें, फिर शरीर की समस्त चेष्टाओं का विसर्जन कर, विशेष रूप से अपनी अवस्था और शक्ति के अनुरूप स्थाणु की भाँति निष्प्रकंप खड़े होकर कायोत्सर्ग करें।[36]

2. बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला पद्मासन या सुखासन में बैठें। हाथों को घुटनों पर रखें या बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर उन्हें अंक में रखें।

फिर रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा करें, उसमें झुकाव और तनाव न हो। अंगोपांग शिथिल और सीधे सरल रहें।

कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शिथिलीकरण की आवश्यकता है। शरीर के समग्र अवयवों को, मांसपेशियों को, कोशिकाओं को शिथिल बनाने के लिए दीर्घ श्वास लें। बिना कष्ट के जितना लम्बा श्वास ले सके उतना लम्बा करने का प्रयास करें। इससे शरीर और मन– इन दोनों के शिथिलीकरण में बहुत सहयोग मिलता है। आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के पश्चात वह क्रम सहज हो जाता है। स्थिर बैठने से भी कुछ-कुछ शिथिलीकरण स्वयमेव हो सकता है और उसके पश्चात जिस अंग को शिथिल करना हो, उसमें मन को केन्द्रित करें। जैसे सर्वप्रथम गर्दन, कन्धा, सीना, उदर, दाएं-बाएं पृष्ठ भाग, भुजाएं, हाथ,हथेली, अंगुली, कटि, पैर आदि सभी की मांसपेशियों को शिथिल किया जाता है।

इस प्रकार शारीरिक अवयव एवं मांसपेशियों के शिथिल हो जाने पर स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से– तैजस और कार्मण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तैजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्मैक्य की जो भ्रान्ति है, वह कायोत्सर्ग द्वारा समाप्त हो जाती है।[37]

3. लेटी हुई मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले ताने, फिर स्थिर करें। हाथ-पैर को सटाये हुए न रखें। दंडासन या शवासन का आश्रय ले। इस कायोत्सर्ग में भी अंगों का स्थिर और शिथिल होना आवश्यक है। शिथिलीकरण की प्रक्रिया पूर्ववत ही समझें।

जहाँ तक शारीरिक सामर्थ्य हो, जब तक खड़े रह सकें तब तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहिए। तीर्थंकर प्रायः इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग करते हैं। आचार्य अपराजितसूरि ने कहा है कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खम्भे की तरह खड़ा हो जाये, किन्तु शरीर को एकदम अकड़ाकर एवं झुकाकर न रखें। यह कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रकार है। शरीर का सामर्थ्य न हो तो बैठकर कायोत्सर्ग करें। इसमें भी असमर्थ हो, तो लेटकर कायोत्सर्ग करें।[38]

कायोत्सर्ग का कालमान

प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं– 1. चेष्टा और 2. अभिभव। चेष्टा कायोत्सर्ग दोष विशुद्धि के लिए प्रतिदिन किया जाता है जैसे–

भिक्षाचर्या, स्थंडिलगमन, विहार, निद्रा आदि शरीरजन्य प्रवृत्तियों में दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए यही कायोत्सर्ग किया जाता है। अभिभव कायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है– प्रथम दीर्घकाल तक आत्मचिन्तन के लिए और दूसरा संकट आने पर जैसे– विप्लव, अग्निकांड, दुर्भिक्ष आदि होने पर।

नियमतः चेष्टा कायोत्सर्ग परिमित काल के लिए किया जाता है, जबकि दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। यावज्जीवन के लिए किया जाने वाला कायोत्सर्ग उपसर्ग विशेष के आने पर सागारी संथारा रूप कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग करते समय साधक यह चिन्तन करता है कि यदि उपस्थित उपसर्ग के कारण मेरा प्राणान्त हो जाये तो, मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित रह जाऊँ तो उपसर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है।

अभिभव कायोत्सर्ग के सागारी अनशन, आमरण अनशन, भवचरिम प्रत्याख्यान आदि नाम भी हैं। अनशन रूप में यह कायोत्सर्ग तीन प्रकार का होता है– 1. भक्त परिज्ञा 2. इंगित और 3. पादपोपगमन। इसे शास्त्रीय भाषा में अभ्युद्यतमरण कहा गया है। इसका प्रसिद्ध नाम समाधिमरण है।

प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, अन्तिम अभिभव कायोत्सर्ग के लिए अभ्यास स्वरूप होता है। प्रतिदिन नियत कालिक कायोत्सर्ग का अभ्यास करते रहने से एक दिन वह आत्मबल प्राप्त हो जाता है कि जिसके परिणामस्वरूप उद्यतविहारी (उत्कृष्ट अभिग्रहादि धारण करने वाला) मुनि मृत्यु के सम्मुख होकर उसे हंसता हुआ स्वीकार करता है और भव श्रृंखला का विच्छेद कर परमात्म तत्त्व को उपलब्ध कर लेता है।

चेष्टा कायोत्सर्ग का काल– शास्त्रकारों ने चेष्टा कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास के आधार पर निश्चित किया है जैसे– 8, 25, 27, 300, 500 और 1008 उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना। यह कायोत्सर्ग विभिन्न स्थितियों में किया जाता है।

यहाँ उच्छ्वास शब्द के अभिप्राय को सुस्पष्ट करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि एक उच्छ्वास का कालमान एक श्लोक के चतुर्थ पाद का स्मरण करना है। एक श्लोक में चार चरण होते हैं। एक चरण का स्मरण करने में जितना समय लगता है उतना एक श्वासोश्वास क्रिया में लगना चाहिए।[39]

काल का यह परिमाण औत्सार्गिक समझना चाहिए, अपवाद रूप नहीं। जैन पद्धति की काल गणना के अनुसार सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव और सतत्तर (77) लव का एक मुहूर्त्त होता है अथवा 48 मिनट (एक मुहूर्त्त) में 3773 प्राण और एक मिनट में $78\frac{49}{48}$ प्राण होते हैं। इतने समय में लगभग उतने ही पद बोले जाते हैं।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग आवश्यक है उसमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। इस सूत्र में सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास परिमाण में एक चरण का ध्यान किया जाता है। एक चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रथम श्वास लेते समय मन में 'लोगस्स' कहा जायेगा और सांस को छोड़ते समय 'उज्जोअगरे' कहा जायेगा। द्वितीय श्वास लेते समय 'धम्म' और छोड़ते समय 'तित्थयरे जिणे' कहा जायेगा। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

अर्वाचीन परम्परा में चतुर्विंशतिस्तव के स्थान पर नमस्कार मन्त्र का भी कायोत्सर्ग किया जाता है। एक लोगस्स = चार नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि एक लोगस्स = चार नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने से नमस्कार मन्त्र की चरण संख्या लोगस्ससूत्र की अपेक्षा अधिक होती है, जैसे- एक नमस्कार मन्त्र के 8 चरण हैं और चार नमस्कार मन्त्र के = 32 चरण होते हैं जबकि एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करने पर 25 चरण ही होते हैं। इस अपेक्षा से नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करने पर 7 श्वासोश्वास अधिक होते हैं, किन्तु परम्परा से एक लोगस्ससूत्र के बराबर चार नमस्कार मन्त्र का ही स्मरण करते हैं।

आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के मतानुसार अभ्यास दशा और अनभ्यास दशा की अपेक्षा लोगस्ससूत्र के बराबर नमस्कारमन्त्र को स्वीकार किया गया है। नमस्कारमन्त्र अभ्यास साध्य होने से शीघ्रतापूर्वक स्मृत किया जा सकता है जबकि लोगस्ससूत्र का अभ्यास अपेक्षाकृत अल्प होने से उतना शीघ्र स्मरण नहीं किया जा सकता, अत: नमस्कारमन्त्र में निर्धारित श्वासोश्वास परिमाण से अधिक होने पर भी कालमान उतना ही होता है। इसलिए नमस्कारमन्त्र गिनने में दोष नहीं है।

यहाँ दिवस, रात्रि,पक्ष, चातुर्मास एवं वर्ष भर में लगने वाले दोषों से निवृत्त होने के लिए कितने श्वासोश्वास का अथवा श्वासोश्वास परिमाण

लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए। श्वेताम्बर परम्परानुसार वह सारणी निम्न प्रकार है–[40]

		उच्छवास	चतुर्विंशतिस्तव	गाथा	चरण
1.	दिवस	100	4	25	100
2.	रात्रि	50	2	12.5	50
3.	पक्ष	300	12	75	300
4.	चातुर्मास	500	20	125	500
5.	संवत्सर	1008	40	252	1008

दिगम्बर परम्परानुसार कायोत्सर्ग सारणी निम्नलिखित है–

1.	दिवस	100	4	25	100
2.	रात्रि	50	2	12.5	50
3.	पक्ष	300	12	75	300
4.	चातुर्मास	400	16	100	400
5.	संवत्सर	500	20	125	500

उक्त तालिका सम्बन्धी किंचिद् स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

दिनभर में लगे हुए अतिचारों (दोषों) से स्वयं को मुक्त करने के लिए प्रत्येक साधक को 100 श्वासोश्वास अथवा चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए। इस परिमाण में कायोत्सर्ग करने वाला साधक दिवस-कृत सामान्य दोषों से निवृत्त हो जाता है। इसी उद्देश्य से दैवसिक प्रतिक्रमण में छह आवश्यक रूप क्रिया पूर्ण होने के बाद दैवसिक प्रायश्चित्त की विशुद्धि के निमित्त चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। इसी तरह रात्रिभर में लगे हुए दोषों से शुद्ध होने के लिए 50 श्वासोश्वास या दो लोगस्ससूत्र का चिन्तन करना चाहिए। एक पक्ष (पन्द्रह दिन) में लगे हुए दोषों से परिशुद्ध होने के लिए तीन सौ श्वासोश्वास या बारह लोगस्ससूत्र, चार मास के भीतर लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए पाँच सौ श्वासोश्वास या बीस लोगस्ससूत्र तथा वर्षभर में लगे हुए दोषों से परिमुक्त होने के लिए एक हजार आठ श्वासोश्वास या चालीस लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[41]

लोगस्ससूत्र के सात श्लोक और प्रत्येक श्लोक के चार चरण होने से अट्ठाईस चरण होते हैं। यहाँ लोगस्ससूत्र के पच्चीस अथवा सत्ताईस चरण ही

कायोत्सर्ग रूप माने गये हैं इससे समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग में सम्पूर्ण लोगस्स पाठ का स्मरण नहीं किया जाता है। यदि पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना हो तब 'चंदेसु निम्मलयरा' तक और सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना हो तब 'सागरवर गंभीरा' तक लोगस्स पाठ का स्मरण करना चाहिए। दूसरे, एक लोगस्स के 25 चरण = 6.5 श्लोक होते हैं, तब दैवसिक प्रतिक्रमण की अपेक्षा चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करने पर 6.5 × 4 = 25 श्लोक होते हैं। इसी तरह रात्रिक आदि प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

वार्षिक प्रतिक्रमण में 40 लोगस्स का कायोत्सर्ग होता है, इसको 6.5 से गुणा करने पर 6.5 × 40 = 250 श्लोक होते हैं। 40 लोगस्स के ऊपर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग भी करते हैं। एक नमस्कारमन्त्र = 8 चरण, 8 चरण = 2 श्लोक होते हैं। ये दो श्लोक मिलाने से 252 श्लोक और 1008 श्वासोश्वास होते हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जो व्यक्ति दिनकृत अतिचारों के प्रायश्चित्त रूप कायोत्सर्ग करता है उसे पक्ष, चातुर्मास एवं वार्षिक कायोत्सर्ग भी निश्चित रूप से करना चाहिए, क्योंकि वह उसके विशेष शुद्धि के लिए हैं, जैसे प्रतिदिन गृह आदि की सफाई की जाती है फिर भी दीपावली आदि पर्व दिनों में विशेष सफाई करते हैं, प्रत्येक वस्तु की सफाई करते हैं। इसी तरह वार्षिक आदि के कायोत्सर्ग निःसन्देह करणीय है।

जो लोग यह समझते हैं कि मात्र सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण करने से वर्ष भर में किए गए पाप कर्मों से मुक्त हो जायेंगे, अतः दिवस आदि में किए गए पाप कार्यों से विशुद्ध बनने के लिए प्रतिदिन या पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग करने की जरूरत नहीं है। वार्षिक (सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण भी शुद्ध मन से कर लेंगे तो वर्षभर के सभी पाप धूल जायेंगे, ऐसा मानना अनुचित है। क्योंकि, जैसे एक घर प्रतिदिन साफ किया जाए और दूसरा चार मास या वर्षभर में साफ किया जाए– तो दोनों घरों की स्वच्छता और पवित्रता में अन्तर होगा, वैसे ही प्रतिदिन किए जाने वाले प्रतिक्रमण में एवं वर्षभर आदि में किए जाने वाले प्रतिक्रमण की शुद्धि में अन्तर होता है। अतः मोक्षार्थी को दैवसिक आदि सभी पापों (दोषों) की यथाविधि शुद्धि करनी चाहिए।

तुलनात्मक दृष्टि से कहा जाए तो आवश्यकनिर्युक्ति और विजयोदयावृत्ति में कायोत्सर्ग सम्बन्धी जो उच्छ्वास संख्या दी गई है, उसमें एकरूपता नहीं है।

अभिभव कायोत्सर्ग का काल– अभिभव कायोत्सर्ग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सुपुत्र बाहुबलि ने एक वर्ष तक कायोत्सर्ग किया था। यह कायोत्सर्ग विशेष स्थिति में ही किया जाता है।

कायोत्सर्ग भंग के अपवाद

जैन दर्शन समन्वयवादी है। वह उत्सर्ग और अपवाद द्विविध मार्गों पर आश्रित है, इसीलिए भारतीय दर्शनों में प्रथम स्थान रखता है। जिनमत के अनुसार उत्सर्ग मार्ग साधना का उत्कृष्ट मार्ग है, फिर भी विशेष परिस्थिति में अपवाद मार्ग का अनुसरण भी श्रेष्ठ माना गया है। कायोत्सर्ग निर्दोष होना चाहिए, पूर्ण होना चाहिए, किन्तु कुछ स्थितियों में कायोत्सर्ग का भंग करने पर भी वह अखंड रहता है। तत्सम्बन्धी अपवाद निम्न हैं–

शरीर पर प्रकाश पड़ रहा हो, तो कम्बली आदि ओढ़ने से, वर्षा की बूंदे गिर रही हो, तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से, छींक आदि आने पर मुखवस्त्रिका द्वारा मुख ढ़कने से, मूर्च्छा आदि आने पर नीचे बैठने से कायोत्सर्ग भंग नहीं होता है, अन्यथा विद्युत प्रकाश गिरने पर, खांसी या जंभाई लेते समय मुँह खुला होने पर, मूर्च्छा आदि के कारण नीचे गिर जाने पर संयम एवं आत्मा की विराधना होती है।

वसति या समीप में अग्नि का उपद्रव होने पर • बिल्ली, चूहा आदि जीवों का व्यवधान होने पर • चोर आदि का उपद्रव होने पर • मल, श्लेष्म, वात आदि से क्षुभित होने पर • सर्प– आदि सिंह का भय होने पर • कदाचित मुनि या श्रावक आदि को सर्प या बिच्छू डस रहा हो, उस समय कायोत्सर्ग भग्न करने पर भी कायोत्सर्ग अभग्न ही रहता है।

उक्त कारणों के अतिरिक्त विद्युतपात, मेघसंपात, स्वचक्र या परचक्र, राजभय आदि होने पर भी कायोत्सर्ग को बीच में पूर्ण करने पर कोई दोष नहीं लगता है।

नियमत: कायोत्सर्ग जितने श्वासोश्वास परिमाण का हो उतने श्वासोश्वास पूर्ण होने के बाद ही 'नमो अरिहंताणं' पद बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करना चाहिए।

यदि निश्चित श्वासोश्वास पूर्ण होने के बाद 'नमोअरिहंताणं' पद बोले बिना कायोत्सर्ग पूरा कर लिया जाए तो कायोत्सर्ग भंग होता है। इसी तरह कायोत्सर्ग पूर्ण हुए बिना 'नमो अरिहंताणं' बोलने पर भी कायोत्सर्ग भग्न होता है।

किन स्थितियों में कितने कायोत्सर्ग करें?

पूर्वाचार्यों ने अलग-अलग दोषों की शुद्धि के लिए पृथक-पृथक कायोत्सर्ग का विधान किया है।

- निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी के अनुसार दिवस सम्बन्धी पापों की शुद्धि के लिए सौ श्वासोच्छ्वास या चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- रात्रि विषयक पाप कर्मों की विशुद्धि के लिए पचास श्वासोच्छ्वास या दो लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- पक्ष भर में किसी तरह का दोष लग जाए तो उससे निवृत्त होने के लिए तीन सौ श्वासोच्छ्वास या बारह लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- चार मास के भीतर किसी तरह का अतिचार लग जाए तो उससे परिशुद्ध होने के लिए पाँच सौ श्वासोच्छ्वास या बीस लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- वर्षभर में लगे हुए दोषों का निरसन करने के लिए एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास या चालीस लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[42]
- गमन, आगमन, विहार, शयन, स्वप्नदर्शन एवं नौका आदि से नदी पार करने पर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण में पच्चीस श्वासोच्छ्वास अथवा एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- आगमसूत्र के उद्देश और समुद्देश प्रारम्भ करते समय सत्तावीस श्वासोच्छ्वास तथा सूत्र की अनुज्ञा, स्वाध्याय प्रस्थापना एवं काल प्रतिक्रमण के समय आठ श्वासोच्छ्वास या एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- अकाल में स्वाध्याय करने पर, अविनीत को वाचना देने पर तथा दुष्ट को पढ़ाने और अर्थ की वाचना देने पर आठ श्वासोच्छ्वास या एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[43]
- स्वप्न में, प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का सेवन करने पर सौ श्वासोच्छ्वास अथवा चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[44]

• चूर्णिकार जिनदासगणी के निर्देशानुसार स्वप्न में मैथुन दृष्टि का विपर्यास होने पर सौ श्वासोच्छ्वास तथा स्त्री-विपर्यास होने पर एक सौ आठ उच्छ्वास अथवा चार लोगस्ससूत्र एवं एक नमस्कारमन्त्र अधिक का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• आयंबिल और निर्विकृति के प्रत्याख्यान को पूर्ण करते समय सत्ताईस श्वासोच्छ्वास या 'सागरवर गंभीरा' तक एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• उपाश्रय या किसी वसति के अधिष्ठित देवता की अनुमति प्राप्त करने या आराधना करने निमित्त सत्ताईस श्वासोच्छ्वास या पूर्ववत एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• भिक्षाचर्या में अनैषणीय वस्तु का ग्रहण होने पर उसका प्रतिक्रमण करने के लिए आठ उच्छ्वास या एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• काल प्रतिलेखन एवं स्वाध्याय प्रस्थापना के समय आठ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• श्रुतस्कन्ध (आगमसूत्र का बृहद् भाग) का परावर्तन करते समय पच्चीस उच्छ्वास या 'चंदेसु निम्मलयरा' तक एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[45]

• भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के उल्लेखानुसार किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में, यात्रा में, यदि किसी प्रकार का उपसर्ग, बाधा या अपशकुन हो जाए तो आठ श्वासोश्वास अथवा एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

• दूसरी बार शुभ कार्यादि करने में पुनः बाधा उपस्थित हो जाये तो सोलह श्वास-प्रश्वास का अथवा दो नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए। यदि शुभ कार्य के प्रारम्भ में तीसरी बार बाधा उपस्थित हो जाये तो बत्तीस श्वास-प्रश्वास का अथवा चार नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए। यदि चौथी बार भी बाधा उपस्थित हो, तो विघ्न आएगा ही, ऐसा समझकर शुभ कार्य या विहार यात्रा को स्थगित कर देना चाहिए।[46]

• आचार्य वर्धमानसूरि के मतानुसार जिन चैत्य, श्रुत, तीर्थ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र– इन सब की पूजा एवं आराधना के लिए 'वंदणवत्तियाए' का पाठ बोलकर

कायोत्सर्ग करना चाहिए। यद्यपि आचारदिनकर में यह निर्देश नहीं दिया गया है कि इस समय कितने श्वासोच्छ्वास या लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए किन्तु परम्परा से चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

- प्रायश्चित्त विशोधन के लिए, उपद्रव निवारण के लिए, श्रुतदेवता के आराधन के लिए एवं समस्त चतुर्निकाय देवताओं के आराधन के लिए भी चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।
- गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करते समय सभी जगह पच्चीस उच्छ्वास या एक चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- अरिहंत परमात्मा को प्रणाम करने के लिए सौ उच्छ्वास या चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- उत्कृष्ट देववन्दन एवं श्रुतदेवता आदि की आराधना के लिए सम्पूर्ण चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- स्वाध्याय हेतु प्रस्थापना करते समय एक नमस्कारमंत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- अभिग्रहधारी साधु अपने अभिग्रह के अनुसार चतुर्विंशतिस्तव या नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें।
- सम्यक्त्व व्रतारोपण, बारहव्रतारोपण, षाण्मासिक सामायिक आरोपण, नन्दीक्रिया, योगोद्वहन, वाचना आदि के निमित्त एक चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- प्रतिक्रमण के दौरान ज्ञानाचार की विशुद्धि के लिए एक लोगस्ससूत्र, दर्शनाचार की विशुद्धि के लिए एक लोगस्ससूत्र, चारित्राचार की शुद्धि के लिए दो लोगस्ससूत्र, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता एवं भुवन देवता की आराधना के लिए एक-एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।
- जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट देववन्दन के समय अमुक तीर्थंकर, चौबीस तीर्थंकर, श्रुतज्ञान एवं सम्यक्त्वी देवी-देवताओं की आराधना निमित्त एक-एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।[47]
- दिगम्बर परम्परा के आचार्य अमितगति के अनुसार दिनभर में किए गए दुष्कार्यों से निवृत्त होने के लिए 108 और रात्रिगत दुष्कर्मों से परिशुद्ध होने के लिए 54 श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। अन्य विषयक अतिचारों से आत्मविशुद्धि करने के लिए 27 श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

यहाँ यह भी जानने योग्य है कि दिगम्बर मतानुसार 27 उच्छ्वासों में नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार महामंत्र का ध्यान किया जाता है जैसे– 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं'– ये दो पद एक उच्छ्वास में, 'नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं'– ये दो पद दूसरे उच्छ्वास में तथा 'नमो लोए सव्वसाहूणं'– यह एक पद तीसरे उच्छ्वास में– इस प्रकार तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कारमन्त्र का ध्यान पूर्ण होता है। इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि दिगम्बर परम्परा में कायोत्सर्ग काल में सम्पूर्ण नमस्कार मन्त्र का स्मरण नहीं किया जाता है, केवल पंच परमेष्ठी के पाँच पदों का ही ध्यान करते हैं। दूसरे, श्वासोच्छ्वास के परिमाण में लोगस्स पाठ का स्मरण न करके लगभग नमस्कारमन्त्र का ही ध्यान करते हैं।[48]

आचार्य अमितगति आदि का अभिमत है कि श्रमण को अहोरात्रि में कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। स्वाध्यायकाल में 12 बार, वन्दनकाल में 6 बार, प्रतिक्रमणकाल में 8 बार, योगभक्ति काल में 2 बार– इस प्रकार कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिए।[49]

आचार्य अपराजितसूरि का मन्तव्य है कि हिंसा आदि पाँच अतिचारों में एक सौ आठ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय मन की चंचलता से या उच्छ्वासों की संख्या की परिगणना में संदेह समुत्पन्न हो जाये तो आठ उच्छ्वास का अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिए।[50]

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध है कि जैन धर्म की श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में अत्यन्त प्राचीन काल से श्रमण साधकों के लिए कायोत्सर्ग का विधान रहा है। उत्तराध्ययनसूत्र के श्रमण सामाचारी अध्ययन में[51] और दशवैकालिक चूलिका में श्रमण को पुनः पुनः कायोत्सर्ग का निर्देश दिया गया है।[52]

कायोत्सर्ग और प्रत्याहार

यदि कायोत्सर्ग और अष्टांग योग का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो कायोत्सर्ग की स्थिति प्रत्याहार के समकक्ष प्रतीत होती है। प्रत्याहार में बहिर्मुख इन्द्रियों को उसके अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करते हैं। दूसरे, प्रत्याहार योग की साधना के लिए यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम का अभ्यास होना आवश्यक है। इसी तरह कायोत्सर्ग के लिए भी यम, नियम आदि की साधना अपेक्षित है।

यहाँ प्रत्याहार शब्द पर विचार करना प्रासंगिक होगा। प्रत्याहार शब्द का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है– 'प्रत्याह्रियन्ते इन्द्रियाणि विषयेभ्यो येन स प्रत्याहार:' अर्थात जिसके द्वारा इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत कर, खींचकर वश में किया जाता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। इन्द्रियों के साथ-साथ मन पर भी यही घटित होता है।

अष्टांग योग में यम से प्राणायाम तक चारों चरण योग के बाह्य अंग कहे गये हैं, आगे के चार आभ्यन्तर अंग हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने योगांग क्रम के अनुसार प्रत्याहार का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है– प्रशान्त बुद्धियुक्त साधक अपनी इन्द्रियों और मन को उनके विषयों से खींचकर जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा हो वहाँ धारण करें, वह प्रत्याहार है। जिसकी परिग्रह आदि से आसक्ति मिट गयी है, जिसका अन्त:करण संवर में अनुरक्त है, जिसने कच्छप की भाँति स्वयं को पापास्रव से संवृत्त कर रखा है वैसा संयमी साधक राग-द्वेष रहित समभाव युक्त होकर ध्यान तंत्र में अथवा ध्यानाभ्यास में स्थिर होने हेतु प्रत्याहार स्वीकार करता है।

प्रत्याहार साधना में प्रवेश करने वाला साधक प्रथम अपनी इन्द्रियों को विषयों से पृथक करें, फिर इन्द्रियों को मन से भी अलग करें और तदनन्तर मन को निराकुल बनाकर अपने ललाट पर निश्चलता पूर्वक टिकायें, धारण करें, यह प्रत्याहार की एक विधि है।[53]

प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को विषयों से खींचने एवं पृथक करने से मन समस्त उपाधियों, रागादि रूप विकल्पों से रहित हो जाता है, समभाव को अधिगत कर वह आत्मलीन बन जाता है। कायोत्सर्ग का निरंतर एवं उत्तम अभ्यास करने वाले साधक की भी यही स्थिति होती है। शरीर के मोहभाव को दूर करने का तात्पर्य है– ऐन्द्रिक विषयों एवं वासनादि विकल्पों से रहित हो जाना।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह भी उल्लेख्य है कि मूलगुण यम है, उत्तरगुण नियम है, जिनमुद्रा–पद्मासन आदि का प्रयोग आसन है और स्पर्शनेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियाँ तथा मनोबल, वचनबल और कायबल– इन आठ प्राणों के निग्रह का सम्यक् अभ्यास करना प्राणायाम है। धर्मध्यान की सिद्धि के लिए प्रत्याहार जरूरी है। इस मत का पोषण करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है–

अत्यन्त शान्त प्रज्ञावान् साधक को धर्मध्यान करने के लिए शब्द,रूप, रस, गंध व स्पर्श– इन पाँच विषयों से इन्द्रियों को सम्यक् प्रकार से खींचकर मन को निश्चल रखना चाहिए।[54]

तदनन्तर चेतन या अचेतन वस्तु का दृढ़ आलंबन लेकर सूत्र और अर्थ का ध्यान करना अथवा द्रव्य और उसकी पर्याय का भी चिंतन करना।[55]

इस कथन का तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग में समुपस्थित होने वाले साधक के लिए देहभाव के विसर्जन के साथ-साथ इन्द्रियजन्य विषयों एवं मानसिक विकल्पों से रहित होना आवश्यक है तभी शुभ ध्यान का अवतरण हो सकता है। पतंजलि के अनुसार यही प्रत्याहार है।

कायोत्सर्ग और हठयोग

जैन परम्परा में निर्दिष्ट कायोत्सर्ग और हठयोग साधनावर्ती शवासन– दोनों की प्रक्रिया में कुछ समानता है, किन्तु मूलभूत स्वरूप में अन्तर है।

शवासन में केवल शिथिलता का प्रयोग होता है जबकि कायोत्सर्ग में शिथिलता के साथ-साथ ममत्व के विसर्जन एवं भेद विज्ञान का प्रयोग भी होता है। जब तक भेद विज्ञान नहीं होता, कायोत्सर्ग नहीं सधता। 'आत्मा भिन्न है, और शरीर भिन्न है'– यह बुद्धि जागृत होना भेद विज्ञान है। कायोत्सर्ग तब तक नहीं सधता जब तक ममत्व का विसर्जन नहीं सधता। कायोत्सर्ग का अभ्यास करने वाले प्रत्येक साधक को यह बोध निरंतर होना चाहिए कि मैं केवल शिथिलता का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ, केवल प्रवृत्ति का विसर्जन या तनाव का विसर्जन नहीं कर रहा हूँ, मैं ममत्व विसर्जन के साथ शिथिलता का अभ्यास कर रहा हूँ अथवा ममत्व विसर्जन के लिए शिथिलता का अभ्यास कर रहा हूँ। जब ममत्व का विसर्जन होता है तभी कायोत्सर्ग सही अर्थों में कायोत्सर्ग कहलाता है, किन्तु शवासन में मात्र शिथिलीकरण का ही अभ्यास होता है।[56]

कायोत्सर्ग और श्वासोश्वास

यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है कि जैन विचारणा में अतिचार (दोष) शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग का जो विधान है उसे श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़ने का अभिप्राय क्या है? स्वरूपतया कायोत्सर्ग-काल में कृत अपराधों का स्मरण कर उसका पश्चात्ताप होना चाहिए। यद्यपि गोचरचर्या आदि में लगने वाले दोषों से निवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग में अतिचार चिंतन का भी निर्देश है, किन्तु प्राय:

निर्धारित उच्छ्वास की प्रेक्षा करने का ही प्रतिपादन है।

प्रबोधटीका में कहा गया है कि दैवसिक आदि अतिचारों का समुचित संग्रह करने के लिए कायोत्सर्ग करना आवश्यक है। कायोत्सर्ग की स्थिति में शरीर के अंगोपांग निश्चल रहे, वाणी मौन रहे और चित्त की समस्त वृत्तियाँ एकाग्र होकर अतिचारों के शोधन का कार्य करें, अन्यथा अतिचारों का समुचित संग्रह नहीं हो सकता। दूसरा निर्देश यह दिया गया है कि यदि कायोत्सर्ग अतिचारों की शुद्धि के निमित्त किया जाता हो, तो उन-उन अतिचारों का यथार्थ रूप से शोधन और पश्चात्ताप पूर्वक स्मरण करना चाहिए। जैसे- ईर्यापथिक विराधना के निमित्त किया जाने वाला कायोत्सर्ग हो, तो उसमें तत्सम्बन्धी अतिचारों का चिंतन करना चाहिए, भक्तपान या शय्यासनादि निमित्त किया जाने वाला कायोत्सर्ग हो, तो उसमें तद्विषयक अतिचारों का चिंतन करना चाहिए और दर्शनशुद्धि निमित्त किया जाने वाला कायोत्सर्ग हो, तो उसमें जिस-जिस प्रकार से दर्शन की विराधना हुई हो, उसका चिंतन करना चाहिए। शास्त्रकारों ने उस विशुद्धि के लिए उच्छ्वास का कालमान बताया है।[57]

यहाँ पुन: प्रश्न उठता है कि श्वासोच्छ्वास के साथ दोष विशुद्धि का क्या सम्बन्ध है? अथवा श्वास प्रेक्षा से आत्मविशुद्धि कैसे सम्भव है? इस पक्ष को अनेक बिन्दुओं से समाहित किया जा सकता है-

श्वासोश्वास की क्रिया एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक समस्त प्राणियों को होती हैं, परन्तु उनकी उच्छ्वास क्रिया में बहुत अन्तर होता है। जीवन विकास जितना अल्प हो अथवा दु:ख का परिमाण जितना अधिक हो, श्वासोच्छ्वास क्रिया उतनी शीघ्रता से होती है, और जीवन विकास अधिक मात्रा में हो या दु:ख का परिमाण अल्प हो, तो श्वासोच्छ्वास का परिमाण उतना मन्द गति से होता है, जैसे नरकगति के जीव उच्छ्वास क्रिया निरन्तर करते हैं, क्योंकि वहाँ असीमित दु:ख है। सर्वार्थसिद्धि विमान के देव वही क्रिया तैंतीस पक्ष में करते हैं, कारण कि वहाँ असीम सुख है। मनुष्य की श्वासोच्छ्वास क्रिया अनियत रूप से होती है। यदि शांत प्रकृति का मनुष्य है तो उसकी उच्छ्वास क्रिया मन्दगति पूर्वक होती है, इसके विपरीत क्रोधी, कामी, द्वेषी आदि दुष्ट स्वभावी व्यक्ति की उच्छ्वास क्रिया तेज गति से होती है। प्रत्येक प्राणी का आयुष्य उच्छ्वास क्रिया पर टिका हुआ है। हर आत्मा

श्वासोश्वास के निश्चित पुद्गल वर्गणाओं को लेकर जन्म लेती है। यदि किसी की श्वास क्रिया तेजगति से चलती है तो उसका आयुष्य शीघ्र पूर्ण होता है। इस अवसर्पिणी काल के दु:खम काल खण्ड में जन्म लेने वाले लोगों का आयुष्य चौथे आरे में जन्म लेने वाले या आदिनाथ आदि तीर्थंकर काल में जन्म लेने वाले प्राणियों की अपेक्षा इसीलिए बहुत कम है कि वह क्रोध, कपट, ईर्ष्या, कषाय, विषय जैसे दुष्टवृत्तियों का शिकार हो चुका है, हो रहा है, जिसके प्रभाव से उच्छ्वास क्रिया वेग पूर्वक चलती है। कायोत्सर्ग पूर्वक श्वासप्रेक्षा करने से उसके वेग में मन्दता आती है और कुसंस्कारी स्वभाव में परिवर्तन होता है।

दूसरा तथ्य यह है कि हमारा सबसे निकटतम सम्बन्ध श्वास-प्रश्वास से है। शरीर और मन के बीच में श्वास है। श्वास-प्रश्वास के बिना न मन जीवित रह सकता है न शरीर। चैतन्य और शरीर के बीच का सेतु श्वास है। श्वास-प्रश्वास का नियमन ही आत्मिक शक्ति को जागृत करता है। कायोत्सर्ग काल में शक्ति का जागृत होना तथा मन का जागरूक रहना अत्यन्त आवश्यक है। जब श्वासोच्छ्वास प्रेक्षा से चित्तशक्ति जागृत एवं मन जागरूक हो जाता है तब यथार्थ रूप में कृत अपराधों का बोध होने से एवं पश्चात्ताप करने से दोष मुक्ति सहज हो जाती है।

तीसरा तथ्य है कि श्वासोच्छ्वास क्रिया पर मन को केन्द्रित करने से श्वास लम्बा और गहरा होता है, उसकी गति मन्द हो जाती है। श्वास जितना धीमा होता है शरीर की क्रियाशीलता उतनी ही न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। श्वासप्रेक्षा के प्रारम्भ काल में ऊर्जा का फैलाव और नया उत्पादन कुछ भी नहीं होता, केवल ऊर्जा का संरक्षण होता है। कुछ दिनों के पश्चात यह संचित ऊर्जा मन को एक दिशागामी बनाकर उसे ध्येय में प्रवृत्त करती है। मूलत: श्वास की मंदता से शरीर निष्क्रिय और प्राण शान्त हो जाते हैं। मन निर्विकार हो आत्माभिमुखी हो जाता है। ज्यों-ज्यों श्वास का वेग बढ़ता है त्यों-त्यों मन की चंचलता भी अभिवृद्ध होती है। श्वास के स्थिर होने के साथ-साथ मन की चंचलता भी नष्ट हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब व्यक्ति को क्रोध आता है या कामुक बनता है उस समय श्वास की गति तीव्र हो जाती है, किन्तु कायोत्सर्ग या ध्यान आदि की अवस्था में श्वासगति मन्द होने से मन सचेत बना रहता है, उस स्थिति में पूर्वकृत दोष स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं।

जैनागमों में आयुष्य का माप वर्षों, महीनों, दिनों एवं मिनटों में नहीं अपितु श्वासोच्छ्वास में माना गया है। मनुष्य जितना तेज चलता है, जितना अधिक एवं जोर से बोलता है, जितना ज्यादा शयन करता है, जितना ज्यादा भोग-विलास एवं व्यसनों में संलग्न रहता है, उसकी सांस भी उतनी ही तीव्र गति से चलती है और वह अपनी संचित आयुकर्म की पूँजी को थोड़े समय में ही भोग लेता है। जो व्यक्ति चलने, बैठने, बोलने, खाने-पीने एवं भोग भोगने में जितना अधिक संयम एवं विवेक रखता है वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है, क्योंकि उसके श्वासोच्छ्वास तेजी से नहीं चलते। अतिचार-शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग एवं श्वासोच्छ्वास प्रेक्षा का जो निर्देश हैं उसका महत्त्वपूर्ण समाधान यह है कि श्वासप्रेक्षा– एक अद्भुत प्रक्रिया है। आचार्य महाप्रज्ञ जी एवं उस परम्परा के मेधावी मुनियों ने इस सन्दर्भ में बहुत कुछ लिखा है। उनकी वर्णन शैली को आधार बनाकर कहें तो प्रेक्षा जागरूकता की प्रक्रिया है। जागरूकता से कषाय उपशान्त होने लगते हैं। कषाय के उपशमन से चित्त की निर्मलता बढ़ती है। प्रेक्षा के द्वारा कठिन से कठिन समस्याओं का अन्त और आत्मिक गुणों की उपलब्धि होती है।

प्रेक्षा की अर्थयात्रा पर विचार किया जाए तो प्रेक्षा तीसरा नेत्र है, साध्य को पाने का सोपान है, समता की सरिता है, समाधि है, समाधान है, योग है, धर्म है, सत्य है, ज्ञान है, विज्ञान है, आनन्द है, प्रेरणा है, पूर्णता है, दीक्षा है, परीक्षा है, जीवन को उन्नत बनाने का अनुपम ग्रन्थ है, अन्तर दृष्टि है, राग-द्वेष रहित वर्तमान क्षण है, अन्तर की प्रखर ज्योति हैं, जिससे अनन्त-अनन्त काल से ठहरा हुआ सघन अन्धकार विलीन हो जाता है। प्रेक्षा वह संजीवनी है जिससे मानव को पुनः जीवित किया जा सकता है। प्रेक्षा वह गारूड़ी विद्या है जिससे कठोर नाग पाश बन्धन से बन्धे जीव को मुक्त किया जा सकता है। प्रेक्षा के प्रयोग का तात्पर्य है यथार्थ की अनुभूति करना, अनुभूत सत्य का साक्षात्कार करना।[58]

प्रेक्षा-स्वास्थ्य और प्रसन्नता का आधार– प्रेक्षा चैतन्य की वह शक्तिशाली किरण है जिससे मूर्च्छा से आया आवरण तत्क्षण क्षीण हो जाता है। प्रेक्षा स्व का निरीक्षण एवं आत्मा का अवलोकन करने की वह अमूल्य विधि है जिससे चित्तवृत्ति निर्मल होती है, आत्मिक प्रसन्नता का जागरण होता है और निरोग स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है।

प्रेक्षा-चैतन्य का विशुद्ध क्षण– प्रेक्षा चैतन्य का विशुद्ध क्षण है। चेतना का यह उपयोग मन और शरीर की स्थितियों के प्रति राग-द्वेष से मुक्त रहता है, उससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है, नवीन कर्म का अनुबन्ध नहीं होता। जब श्वास की सजगता पूर्वक प्रेक्षा करते हैं तब मन भी सहज रूप से शान्त होने लगता है। मन और श्वास एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जब श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं तब विचार और कल्पना विश्रान्त होने लगती है।[59]

प्रेक्षा-मन परिष्कार का केन्द्र– मानसिक विचार को परिपुष्ट बनाने के लिए प्रेक्षा का प्रयोग अतीव आवश्यक है। प्रेक्षा से स्मृति, चिन्तन और कल्पनाओं में परिष्कार होने लगता है। स्मृतिकोष में संचित घटनाएँ अथवा विचार जब वर्तमान क्षण में उतरते हैं तब प्रेक्षा का अभ्यासी उनके प्रति यथार्थ दृष्टि का उपयोग करता है।[60]

प्रेक्षा-सम्यक्दर्शन का उत्पत्ति स्थल– प्रेक्षा से सम्यग् दर्शन की उपलब्धि होती है। प्रेक्षा कल्पना और आरोपित वस्तु एवं घटना से मुक्त कर यथार्थ दृष्टि को उपलब्ध करवाता है, जबकि अयथार्थ दृष्टि विभ्रम पैदा कर क्लेश का कारण बनती है। वस्तु और घटना में सुख-दुःख, प्रियता-अप्रियता का भाव नहीं होता है, वह तो व्यक्ति के मन से पैदा होते हैं। जब व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है तब कोई कारण नहीं कि उसमें द्वन्द्व उत्पन्न हो।

प्रेक्षा-दृष्टिकोण परिवर्तन का केन्द्र– प्रेक्षा से दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है। दृष्टिकोण ही व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है। दृष्टि की अयथार्थता ही जीवन में क्लेश, विषमता और अशान्ति उत्पन्न करती है। दृष्टिकोण यथार्थ होने पर उपचार भी शीघ्र हो जाता है। प्रेक्षा का उद्देश्य चिकित्सा करना नहीं है, किन्तु उससे अन्तरंग स्थिति सम होने से बाह्य स्थिति स्वत: सम होने लगती है और रुग्णता भी दूर होने लगती है। प्रेक्षा की साधना मानसिक और भावात्मक बीमारियों को विशेष रूप से प्रभावित करती है। इससे शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न व चैतन्य शक्ति अनावृत्त होती है।[61]

प्रेक्षा-शक्ति जागरण की प्रक्रिया– हमारा शरीर छोटे-छोटे असंख्य कोषों (Cells) से बना है। जब हम शारीरिक, मानसिक या अन्य कोई क्रिया करते हैं तो उससे ये कोष क्षीण होते हैं और टूटते हैं। क्षीण होने और टूटने की इस क्रिया से हमें थकान अनुभव होती है। इसकी पूर्ति श्वास, जल और भोजन

से होती है। भोजन स्थूल है, पानी उससे सूक्ष्म है और श्वास दोनों से सूक्ष्म है। भोजन के बिना प्राणी कुछ महीनों तक जीवित रह सकता है, पानी के बिना कुछ दिनों तक, लेकिन श्वास के बिना कुछ क्षण भी जीवित रहना मुश्किल है। जीवन-यात्रा के लिए श्वास-प्रश्वास अनिवार्य तत्त्व हैं। श्वास से जीवन शक्ति को ग्रहण करते हैं। सामान्यत: प्राणी श्वास से शुद्ध वायु ग्रहण करता है प्रश्वास से स्वल्प मात्रा में अशुद्ध वायु बाहर निकालता है। श्वास से जो ग्रहण किया जाता है वह केवल शुद्ध प्राणवायु या ऑक्सीजन नहीं है। वायु के साथ अनेकानेक तत्त्व मिले रहते हैं। श्वास के साथ वे फेफड़ों में भी जाते हैं, किन्तु फेफड़ों के कोष्ठकों की कुछ अपनी विशेषता हैं, वे शरीर के लिए आवश्यक वायु को ग्रहण कर, अनावश्यक या दूषित वायु को प्रश्वास के द्वारा बाहर निकाल देते हैं। गृहीत प्राण वायु शरीर में व्याप्त हो जाती है। इस तरह व्यक्ति में श्वास-प्रश्वास की क्षमता बहुत अधिक है, इसका समुचित उपयोग श्वास-प्रेक्षा के द्वारा ही सम्भव है।[62]

प्रेक्षा-केवलज्ञान का सशक्त आधार– श्वास प्रेक्षा कल्पनात्मक स्थिति नहीं है, अपितु सजगता पूर्ण चैतन्य का केवल उपयोग (ज्ञान) है। जब ज्ञानात्मक उपयोग राग-द्वेष से प्रभावित नहीं होता है तब उससे कर्म आकर्षित नहीं हो सकते। जब कर्मों का आकर्षण अर्थात आश्रव नहीं होता तब उस उपयोगात्मक स्थिति में केवल संवर की स्थिति रहती है, जिससे चेतना अबन्ध, परम-विशुद्ध बनती है। संवर के पश्चात जो कर्म स्थिति उदय वाली हैं वह शरीर, मन और चित्त पर प्रकंपन छोड़कर जर्जरित हो जाती है और इस प्रकार उदय-व्यय के प्रति प्रेक्षा में साक्षी रहकर चैतन्य विशुद्ध एवं विशुद्धतम बन जाता है।[63]

उपर्युक्त समग्र विवेचन से निर्विवादत: सिद्ध हो जाता है कि आत्मविशुद्धि एवं पूर्वार्जित कुसंस्कारों को क्षीण करने में उच्छ्वास प्रेक्षा एक उत्कृष्ट प्रक्रिया है। इस प्रयोग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक जगत भी सशक्त और सुदृढ़ बनता है।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान करना भी अत्यावश्यक है कि अतिचार शुद्धि के लिए श्वासोच्छ्वास का कालमान भिन्न-भिन्न क्यों रखा गया है? जैसे गमनागमन में लगने वाले दोषों से मुक्त होने के लिए 25 उच्छ्वास, ज्ञानाचार की विशुद्धि के लिए 27 उच्छ्वास, दैवसिक अतिचारों की शुद्धि के लिए 100 उच्छ्वास आदि

का उल्लेख है ऐसा क्यों? इसका जवाब है कि अतिचारों की तरतमता के आधार पर श्वासोच्छ्वास का कालमान निश्चित किया गया है। किसी व्रत या आचार नियम में अधिक दोष लगने की संभावना रहती है तो उसके लिए उच्छ्वास का कालमान उस हिसाब से निर्धारित किया गया है। उदाहरण के तौर पर समझें तो गमनागमन प्रवृत्ति में अल्प दोष की शक्यता रहती है इसलिए 25 उच्छ्वास प्रेक्षा का निर्धारण किया गया है, किन्तु दिन भर की प्रवृत्तियों में अनेक तरह के दोष लगने की संभाव्यता रहती है इसलिए 100 उच्छ्वास प्रेक्षा का विधान किया गया है। इसका मूल अभिप्राय यह है कि निर्धारित श्वास-प्रश्वास का अवलोकन करने से यह आत्मा उस-उस सम्बन्धी दोषों से निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार श्वासोश्वास का कालमान आवश्यक प्रवृत्ति एवं तज्जनित दोषों की न्यूनाधिकता के आधार पर निर्धारित किया गया है।

यदि कायोत्सर्ग की मूल परिपाटी का ऐतिहासिक आलोडन किया जाए तो अवगत होता है कि विक्रम की 5वीं-6वीं शती पर्यन्त यह प्रणाली यथावत रूप से प्रवर्तित थी। उसके पश्चात आचार्य हरिभद्रसूरि के समय से लेकर विक्रम की 14वीं-15वीं शती तक उच्छ्वास एवं लोगस्ससूत्र दोनों परिपाटियों के प्रवर्त्तमान रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वर्तमान में श्वासोच्छ्वास की परिपाटी लुप्त प्राय: हो गई है। आजकल लगभग लोगस्ससूत्र या नमस्कारमन्त्र का ही स्मरण किया जाता है, जो अपवाद मार्ग है।

कायोत्सर्ग और कायगुप्ति

कुछ लोग कायोत्सर्ग और कायगुप्ति को समानार्थक मानते हैं अथवा कायोत्सर्ग ही कायगुप्ति है, ऐसा कहते हैं किन्तु आचार्य अपराजित ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है– कायगुप्ति में केवल शरीरगत ममत्व भाव का त्याग होता है जबकि कायोत्सर्ग में कर्मादान की निमित्तभूत समग्र कायिक क्रिया से निवृत्ति होती है तथा उसके साथ-साथ काय सम्बन्धी ममता का भी त्याग होता है। यद्यपि कायोत्सर्ग में भी कायिक क्रिया की निवृत्ति रूप कायगुप्ति होती हैं तथापि 'शरीर विषयक ममत्व की निवृत्ति'– इस अपेक्षा से ही कायोत्सर्ग (शब्द) की प्रवृत्ति होती है। यदि कायगुप्ति का अर्थ– 'देह ममत्व की निवृत्ति' इतना ही माना जाए तो भागना, दौड़ना, गमन करना आदि क्रिया करने वाले प्राणियों में भी कायगुप्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि उन क्रियाओं को करते समय

काया के प्रति ममत्व नहीं होता है। यदि 'शारीरिक क्रिया का त्याग करना काय गुप्ति है' ऐसा माने तो मूर्च्छित व अचेत व्यक्ति में भी कायगुप्ति माननी पड़ेगी। अत: केवल शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करना भी कायगुप्ति नहीं है और मात्र शारीरिक क्रिया से निवृत्त होना भी कायगुप्ति नहीं है इन दोनों का समन्वित स्वरूप ही कायगुप्ति कहलाता है तथा देहासक्ति का विसर्जन करना कायोत्सर्ग है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो कायोत्सर्ग में शरीरगत ममत्व के त्याग की प्रधानता है और कायगुप्ति में समस्त शारीरिक चेष्टाओं से निवृत्त होने की प्रधानता है।[64]

कायोत्सर्ग और ध्यान

कायोत्सर्ग और ध्यान– ये दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन ध्यान है इसलिए ध्यान की सिद्धि हो, तो कायोत्सर्ग की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

कायोत्सर्ग प्रारम्भिक भूमिका है, कायोत्सर्ग के द्वारा ध्यान में प्रवेश किया जाता है। कायोत्सर्ग साधना का प्राथमिक चरण है और ध्यान अन्तिम चरण। कायोत्सर्ग में मुख्य रूप से काय की निश्चलता-स्थिरता होती है, जबकि ध्यान में मन-वचन और काया– इन तीनों योग की निश्चलता एवं एकाग्रता होती है।

कायोत्सर्ग काल में ध्यान हो, यह आवश्यक नहीं है किन्तु ध्यान कायोत्सर्ग पूर्वक ही होता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने ध्यान की जन्म सामग्री का निर्देश देते हुए कहा है कि अनासक्ति, कषाय निग्रह, मनोविजय, व्रत धारण और इंद्रिय विजय– इन पाँच के सद्भाव में ध्यान का जन्म होता है। ध्यान के अवतरण के लिए उक्त पाँच गुणों का होना आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम अनासक्ति (कायोत्सर्ग) को स्थान दिया गया है।

जब संग का त्याग होता है, आसक्ति कम होती है तब ध्यान का जन्म होता है। तीव्र आसक्ति वाले चित्त में कभी भी ध्यान का प्रगटीकरण नहीं हो सकता। इसी तरह कषाय नियंत्रण, मनोनिग्रह आदि का होना भी आवश्यक है।[65]

अभ्यास दशा की अपेक्षा

कायोत्सर्ग और ध्यान पृथक्-पृथक् होने पर भी यह सत्य है कि कायोत्सर्ग की पूर्णता ध्यान में है, कायोत्सर्ग की परमार्थ फलश्रुति ध्यान है।

कायोत्सर्ग ध्यान का प्रबल निमित्त है। ध्यान के लिए कायोत्सर्ग उतना ही जरूरी है जितना कि भोजन के लिए स्वस्थ पाचन-तंत्र का होना जरूरी है। यदि पाचन-तंत्र स्वस्थ न हो तो भोजन का कोई परिणाम नहीं आयेगा। स्वस्थ पाचन तंत्र में ही आहार रस रूप में परिणमन पाता है, उसका शरीर के लिए उपयोग होता है, उसी तरह जब तक कायोत्सर्ग सम्यक् नहीं सधता तब तक ध्यान का अवतरण नहीं हो सकता।

महर्षि पतंजलि ने भी अष्टांगयोग की अवधारणा में प्रत्याहार रूप कायोत्सर्ग के पश्चात ही ध्यान को स्थान दिया है और ध्यान साधना के लिए इसके पूर्व के आसन, प्राणायाम, यम, नियम, प्रत्याहार और धारणा– इन छः अंगों को पृष्ठभूमि के रूप में अत्यन्त आवश्यक माना है।

कायोत्सर्ग और विपश्यना

जैन परम्परा का कायोत्सर्ग और बौद्धमार्गी विपश्यना दोनों में श्वासप्रेक्षा की दृष्टि से समानता है। जैसे कायोत्सर्ग में अमुक श्वासोच्छ्वास का पर्यावलोकन किया जाता है वैसे ही विपश्यना पद्धति में आते-जाते हुए श्वास को देखने का प्रयत्न किया जाता है। विपश्यना ध्यान का मूल आधार श्वासप्रेक्षा है। बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक-मार्ग की अवधारणा है जो तीन भागों में विभाजित है– शील, समाधि और प्रज्ञा।[66]

शील के अन्तर्गत निम्न तीन अंग समाहित हैं–

1. **सम्मा वाचा–** सम्यक भाषण करना, असत्य, कठोर एवं निरर्थक भाषण नहीं करना।

2. **सम्मा कम्मन्तो–** सम्यक कर्म करना। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मादक-पदार्थों के सेवन आदि से विरत होना।

3. **सम्मा आजीवो–** सम्यक आजीविका रूप व्यापार करना।

समाधि के अन्तर्गत निम्नोक्त तीन अंग समाविष्ट होते हैं–

1. **सम्मा वायामो–** सम्यक व्यायाम करना। मन के विशुद्धिकरण हेतु मन का निरीक्षण करना, मन में जो दुर्गुण हैं उन्हें बाहर निकालना, दुर्गुणों को आने न देना, जो सद्‌गुण हैं उन्हें कायम रखने का प्रयत्न करना, उसका संवर्द्धन करना, जो सद्‌गुण अपने में नहीं है, उन्हें प्राप्त करना, यह सम्यक व्यायाम है।

2. सम्मा सति– सम्यक सावधानी या जागरूकता रखना, होश में रहना। जागरूक रहकर वर्तमान की सच्चाई को जानना। भूत और भविष्य की कल्पना से परे रहना, वास्तविकता के प्रति सजग रहना– यह सम्यक स्मृति है।

3. सम्मा समाधि– राग-द्वेष से रहित चित्त को एकाग्र रखना सम्यक समाधि है।

पूर्वोक्त समाधि के तीन अंग विपश्यना के प्रमुख आधार हैं। जैसे– प्रथम सम्यक व्यायाम के द्वारा बड़ी-बड़ी बुराईयों को देखा जाता है अर्थात स्थूल रूप में नाक से आते-जाते हुए श्वास को देखा जाता है। फिर सम्यक स्मृति (जागरूकता) के द्वारा 'श्वास स्पर्श कर रहा है' ऐसा सूक्ष्म श्वास को जानने एवं निरीक्षण करने का अभ्यास किया जाता है। इसके बाद नाक के त्रिकोण पर ध्यान केन्द्रित कर वहाँ क्या हो रहा है,जाना जाता है। इससे श्वास के स्पर्श की कुछ न कुछ प्रतिक्रिया हो रही है, इस सच्चाई से परिचित होते हैं। धीरे-धीरे अन्य सच्चाईयाँ प्रकट होने लगती हैं। ज्यों-ज्यों मन सूक्ष्म होने लगता है त्यों-त्यों शरीरगत जैविक, रासायनिक, विद्युत चुम्बकीय प्रतिक्रियाओं का अनुभव होने लगता है। इसके द्वारा हम अनुभूतियों के स्तर पर ज्ञात से अज्ञात क्षेत्र को जानने लगते हैं। तत्पश्चात चित्त की समाधि होती है।

यहाँ सम्यक् व्यायाम कायोत्सर्ग का प्रथम चरण है, सम्यक् स्मृति कायोत्सर्ग का विकसित चरण है और सम्यक् समाधि कायोत्सर्ग का अन्तिम चरण है अथवा ध्यान का अवतरण है।

प्रज्ञा के अंतर्गत दो अंग निहित हैं–

1. सम्मा दिट्ठि– सम्यक् दृष्टिवान् होना, परमार्थ सत्य को स्वीकार करना, सत्य की अनुभूति करना, सम्यक् दर्शन है।

2. सम्मा संकप्पो– मैत्री, करुणा, दया आदि शुभ विचारों का संकल्प करना, सम्यक् संकल्प है। विपश्यना पद्धति के सन्दर्भ में इतना कहना अपेक्षित है कि बौद्ध मार्गी समाधि-लौकिक समाधि है और प्रज्ञा की भावना–लोकोत्तर समाधि है। लौकिक समाधि के मार्ग को 'शमथयान' और लोकोत्तर समाधि के मार्ग को 'विपश्यना यान कहते हैं। कायोत्सर्ग-लौकिक समाधि रूप है और कायोत्सर्ग की पूर्णता अथवा ध्यान का प्रकटीकरण विपश्यना-यान के तुल्य है। साधक में शील, समाधि और प्रज्ञा– इन तीनों की पूर्णता होने पर निर्वाण उपलब्ध होता है।

यह भी उल्लेख्य है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार समाधि का अर्थ-कुशल चित्त की एकाग्रता है। कायोत्सर्ग की परिपूर्णता चित्त की एकाग्रता में ही सम्भव है।

कायोत्सर्ग और प्रेक्षाध्यान

यदि स्वरूप एवं प्रक्रिया की अपेक्षा विचार करें तो कायोत्सर्ग एवं प्रेक्षाध्यान– दोनों प्रक्रियाएँ लगभग समान हैं। कायोत्सर्ग की सम्यक साधना हेतु शरीर का शिथिलीकरण, श्वासोच्छ्वास का निरीक्षण एवं चैतन्य शक्ति का जागरण– ये तीनों तत्त्व आवश्यक हैं। युवाचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार प्रेक्षा-ध्यान करते समय भी दैहिक शैथिल्य, श्वास-प्रश्वास का अवलोकन एवं चित्त शक्ति को एकाग्र रखना जरूरी है।

कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के सभी अवयवों (पैर से मस्तक तक) को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटकर प्रत्येक भाग पर चित्त को केन्द्रित करते हुए स्वत: सूचन (auto suggestion) के माध्यम से शिथिलता का सुझाव देकर पूरे शरीर को शिथिल किया जाता है इसी के साथ शरीर को अधिक से अधिक स्थिर और निश्चल रखने का अभ्यास किया जाता है। प्रेक्षाध्यान के प्रारम्भिक चरण में भी इसी तरह की प्रक्रिया होती है। कायोत्सर्ग काल में शरीर शिथिल, किन्तु चेतन सत्ता जागृत रहती है। इसमें शरीर की सक्रियता स्थूल रूप से विराम पा लेती है। इस स्थिति में चेतन मन सो जाता है और अन्तर्मन जागृत होने लगता है। अन्तर्मन जिन संस्कारों से संस्कारित है उसका प्रभाव हमारे जागृत मन पर आता है, तब अनादिकाल से जमे हुए कुसंस्कारों-दुर्विचारों को छोड़ना मुश्किल होता है किन्तु कायोत्सर्ग से इसका सहज समाधान हो जाता है। कायोत्सर्ग के माध्यम से शरीर के प्रत्येक अवयव को शिथिल कर श्वास को मन्द और शान्त बनाया जाता है। स्थूल मन को निर्विषयी बनाकर आभ्यन्तर एवं सूक्ष्म मन की गाँठों (ग्रन्थियों) को सुझावों (भावना) के द्वारा खोला जाता है। प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य भी सूक्ष्म मन तक पहुँचकर उसे निर्विकारी और निर्विकल्पी बनाना है।

यदि क्रम की दृष्टि से देखें तो कायोत्सर्ग प्रथम चरण है और प्रेक्षा द्वितीय चरण है। कायोत्सर्ग की स्थिति में ही प्रेक्षा सम्भव है। बिना कायोत्सर्ग प्रेक्षा करना मुश्किल है।

यदि प्रयोजन एवं परिणाम की दृष्टि से आकलन करें तो इन दोनों प्रक्रियाओं में अन्तर परिलक्षित होता है। कायोत्सर्ग का मूलभूत हेतु देहाध्यास को न्यून करना, इन्द्रिय–जन्य चंचलता को समाप्त करना एवं आत्म जागृति की स्थिति को उपलब्ध करना है, जबकि प्रेक्षा के उद्देश्य इससे भिन्न हैं। मुनि किशनलालजी के अनुसार प्रेक्षा-ध्यान से चैतन्य केन्द्र जागृत होते हैं। उन पर व्यक्ति का नियंत्रण होने लगता है। शक्ति का सम्यक समायोजन होता है। ग्रन्थियों के स्राव परिवर्तन से व्यक्ति के आचार और व्यवहार में एकरूपता होने लगती है, जिससे सहज करुणा और सौम्य भाव प्रस्फुटित होता है।

इसी क्रम में वे कहते हैं कि प्रेक्षा-ध्यान जीवन का विज्ञान है। व्यक्ति को श्वास लेने की क्रिया से लेकर जीवन की समस्त समस्याओं पर रचनात्मक ढंग से समाधान देता है। प्रेक्षा-ध्यान मिथ्या मान्यताओं से और साम्प्रदायिक कट्टरताओं से व्यक्ति को बचाता है। प्रेक्षा-ध्यान आत्म विकास की शुद्ध प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति एक वैज्ञानिक की तरह प्रयोग में उतरता है, उसके परिणामों का साक्षात्कार करता है चाहे वह व्यक्ति किसी मजहब, परम्परा और पूजा-उपासना में विश्वास करने वाला क्यों न हो। प्रेक्षा पद्धति में प्राचीन दार्शनिकों से प्राप्त तत्त्व बोध एवं स्वयं की साधना द्वारा अपने अनुभवों का विश्लेषण है जिसे कोई भी व्यक्ति, कभी भी प्रयोग में लाकर उसकी सत्यता का परीक्षण कर सकता है।[67]

यह सरल और सहज विधि है। इसमें व्यक्ति श्वास प्रेक्षा के अवलम्बन से शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक शक्ति का अनुभव कर सकता है। केवल काया को स्थिर कर खड़े होने से उपरोक्त परिणाम घटित नहीं होते हैं। देह के ममत्व विसर्जन के साथ काया को निश्चल एवं चित्त को एक विषय में स्थिर कर ध्यान करने से पूर्वोक्त अनेकशः परिणामों को हासिल कर सकते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने बायो फीडबैक पद्धति से ध्यान के प्रयोगों को वैज्ञानिक स्वरूप दिया है। प्रेक्षा-ध्यान कर्त्ताओं पर अनेक प्रकार के शोधकार्य प्रयोगशालाओं में किए गए हैं।

उससे प्राप्त निष्कर्ष इस बात का संकेत देते हैं कि ध्यान के समय शरीर में रासायनिक परिवर्तन होता है। मस्तिष्क में अल्फा तरंगे तरंगित होने लगती हैं। अल्फा तरंग सामान्यतः व्यक्ति के मस्तिष्क में उस समय प्रगट होती है जब

वह शांत और आनंद पूर्ण स्थिति में होता है। इससे आलस्य दूर होता है, शरीर की सुघड़ता और सौन्दर्य में वृद्धि होती है। युवक-युवति वर्ग के द्वारा प्रेक्षा के प्रयोग को अपनाया जाए तो वह उनकी आन्तरिक शक्ति को समायोजित कर सम्यक् दिशा प्रदान करता है।[68]

इस प्रकार हम पाते हैं कि कायोत्सर्ग और प्रेक्षाध्यान में पारस्परिक समानता और असमानता रही हुई है। कायोत्सर्ग-प्रेक्षाध्यान का प्राथमिक एवं अनिवार्य चरण है। दूसरे, प्रेक्षाध्यान के सद्भाव में ही कायोत्सर्ग सधता है, इस रीति से दोनों एक-दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित है।

कायोत्सर्ग और समाधि

जैन आचार दर्शन में कायोत्सर्ग का अन्तिम ध्येय समाधि बतलाया है। कायोत्सर्गसूत्र में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है। जैसा कि मूल पाठ का अर्थ है– प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्म विशुद्धि के लिए, शल्य फलाकांक्षा से रहित होने के लिए एवं पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। इसके पश्चात कायोत्सर्ग करने की विधि बतलाई गई है, जिसमें काया से स्थिर रहना, वचन से मौन रहना और मन से ध्यानस्थ रहना– कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन-वचन और काया से किसी तरह की प्रवृत्ति न करके अहंभाव या 'मैं' को विस्मृत कर देना अथवा अहंभाव से रहित हो जाना अथवा काया से असंग या अतीत हो जाना, कायोत्सर्ग है। यह समाधि की निकटतम या समाधिरूप अवस्था विशेष की स्थिति कही जा सकती है।

जब तक 'मैं' हूँ इस रूप में अपनाभास है तब तक देहाध्यास है, देह से तादात्म्य है, किन्तु 'मैं' या अहं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जब शुद्ध चेतन तत्त्व, अचेतन पदार्थ से सम्बन्ध स्थापित करता है तभी मैं का आभास होता है और उस समय मन-वचन और काया से किसी प्रकार की प्रवृत्ति या प्रयत्न किया जाता है। प्रयत्न से अहंभाव का जन्म होता है। अत: देहाभिमान से रहित होने के लिए अप्रयत्न होना आवश्यक है। मन, वचन और काया में अप्रयत्न (हलन-चलन का अभाव) होने से निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति होती है, जिसमें व्यक्त रूप में अहंभाव-देहभाव नहीं रहता है, किन्तु सत्ता रूप में वह संस्कार विद्यमान रहता है। जैन दर्शन में इस अवस्था को उपशान्त मोहनीय यथाख्यात चारित्र कहा गया है।

यह यथाख्यात अवस्था भेद विज्ञान के अनुभव से होती है। पातंजल योगदर्शन में भेद विज्ञान को विवेक और उसके अनुभव को ख्याति कहा है। विवेक ख्याति का फल संप्रज्ञात समाधि है। जब अप्रयत्न अवस्था दृढ़ हो जाती है और स्वभाव रूप हो जाती है तब वह सदा के लिए हो जाती है, फिर अहंभाव का सदा के लिए विसर्जन हो जाता है। अहं से अचेतन का सम्बन्ध विच्छेद होने, असंग हो जाने से अहं 'है' में लीन हो जाता है। उसके बाद साधक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, संसार आदि से अतीत हो जाता है। साथ ही इनसे कुछ प्राप्य शेष न रहने से भोक्तृत्व भाव और कर्त्तव्य शेष न रहने से कर्तृत्व भाव शेष नहीं रहता है ज्ञेय शेष न रहने से ज्ञाता भाव शेष नहीं रहता है- केवल ज्ञान रहता है। देखना शेष न रहने से दृश्य और द्रष्टा भाव भी शेष नहीं रहता है, केवल दर्शन रहता है। यह असंप्रज्ञात समाधि है, कायोत्सर्ग की परावधि है और यही कैवल्य है।

कायोत्सर्ग की आवश्यकता क्यों?

कायोत्सर्ग एक महत्त्वपूर्ण साधना है। इस साधनात्मक प्रयोग का मूल आशय देह के प्रति जो अनुराग है, उसके प्रति उदासीन एवं विरक्त हो जाना है। सामान्यत: व्रत-नियम में लगे हुए दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा की विशुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा की जाती है, परन्तु कुछ अतिचार उस कोटि के होते हैं कि उनकी शुद्धि के लिए विशिष्ट क्रिया आवश्यक है। शास्त्रकारों के अभिप्राय से अग्रिम चार प्रकार की क्रिया विशिष्ट मानी गई हैं- 1. उत्तरीकरण 2. प्रायश्चित्तकरण 3. विशोधीकरण और 4 विशल्लीकरण। ये चारों क्रियानुष्ठान यथावत रूप से किए जाएं तो किसी भी तरह के अतिचारों का शोधन और पापकर्मों का सर्वांश नाश किया जा सकता है। उपरोक्त चारों क्रियाएँ कायोत्सर्ग में अवस्थित रहकर ही सम्भव है। इसलिए कायोत्सर्ग का आश्रय लिया जाता है।

1. उत्तरीकरण– उत्तर का अर्थ है सम्यक अथवा सुंदर, करण का अर्थ है क्रिया को साध्य करने वाला साधन। जो क्रिया असम्यक या असुंदर थी अथवा अनागत काल में असम्यक् रूप होने वाली है उसे सम्यक करने वाला साधन उत्तरीकरण कहलाता है। आवश्यकनिर्युक्तिकार ने समझाया है कि जैसे गाड़ी, रथ और घर आदि खंडित या जीर्ण-शीर्ण हो जाए तो उसका पुन:

संस्करण किया जाता है। वैसे ही उत्तरगुणों तथा मूलगुणों के खंडन और विराधना का उत्तरकरण किया जाता है।[69] उत्तरकरण-आत्मा को शुद्ध करने के लिए एक प्रकार की क्रिया है। इस अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है– आलोचना और निंदा के द्वारा आत्मा को शुद्ध बनाया जाता है, जबकि उत्तरीकरण रूप आलोचना-निन्दा से आत्मा को विशेष प्रकार से शुद्ध बनाया जाता है।[70]

2. प्रायश्चित्तकरण– प्रायः + चित्त इन दो शब्दों के मेल से निर्मित है। प्रायः का अर्थ बहुधा और चित्त का अर्थ मन है। मन के मलिन भाव का शोधन करने वाली क्रिया प्रायश्चित्त है अथवा कर्म से मलिन बने हुए चित्त का (जीव का) अधिक भाग में शोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त का संस्कृत रूपान्तर 'पापच्छित' भी होता है, जिसका अर्थ पाप का छेदन करने वाली क्रिया है। प्रायश्चित्त का यह अर्थ समुचित प्रतीत होता है। आवश्यकनिर्युक्ति में प्रायश्चित्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है– जिससे पाप का छेदन हो, वह प्रायश्चित्त कहलाता है अथवा प्रायः – अधिक भाग में चित्त का विशोधन करता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है।[71]

शास्त्रोक्त रूप से प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग काल में तो पूर्वकृत अतिचारों का स्मरण एवं संग्रह करते हैं। तदनन्तर स्मृत अतिचारों का गुरु के समक्ष प्रकाशन करके प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त की पूर्व भूमिका रूप है।

3. विशोधीकरण– चित्त का विशेष शोधन करने वाली क्रिया। विशिष्ट प्रकार से शोधन (शुद्धि) करने वाली क्रिया विशोधि या विशुद्धि कहलाती है। चैत्यवंदन महाभाष्य में कहा गया है कि क्षार आदि के द्रव्य संयोग से वस्त्र आदि की विशुद्धि होना द्रव्यविशुद्धि है और निन्दा, गर्हा आदि के द्वारा आत्मा की विशुद्धि होना भावविशुद्धि है। कायोत्सर्ग साधना से भावविशुद्धि होती है।[72] आलोचना और प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध बनी हुई आत्मा चित्त की विशेष शुद्धि करने के लिए इस प्रकार चिंतन करें–

हे आत्मन्! भव अटवि से पार होने के लिए तूंने चारित्र ग्रहण किया है, उसकी रक्षा करने वाले पाँच समिति और तीन गुप्ति हैं। यह बात भली-भाँति जानता है, फिर भी उसका निरतिचार पालन क्यों नहीं करता है? गृहीत व्रत में न्यूनाधिक अतिचार कैसे लग जाते हैं?

हे आत्मन्! इस जीव के द्वारा अतिचार लगने का मुख्य कारण उपयोग शून्यता है इसलिए चित्तवृत्ति की चंचलता समाप्त करने के लिए उद्यमशील बन।

हे आत्मन्! चित्त की वृत्तियाँ कैसे चंचल बनती है, उसका विचार कर। तुमने गुरु मुख से आत्मस्वरूप का श्रवण किया है, परन्तु उसके अनुरूप मनन और निदिध्यासन नहीं किया है। इसीलिए चित्तवृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं। अब पुनः पुनः आत्मस्वरूप का चिंतन कर और उसके लिए कायोत्सर्ग का आलम्बन लें।

हे आत्मन्! कायोत्सर्ग के अभ्यास से मन की चंचलता पर विजय प्राप्त की जा सकती है, समिति व गुप्ति में यतनापूर्वक प्रवृत्ति की जा सकती है तथा चारित्र का निरतिचार पालन किया जा सकता है। अतः कायोत्सर्ग का अभ्यास कर। तीर्थंकर पुरुषों ने कायोत्सर्ग को सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला- सव्वदुक्ख-विमोक्खणं कहा है, इस तत्त्व का बार-बार स्मरण करते हुए उसमें प्रवृत्ति कर।

हे आत्मन्! अरिहंत परमात्मा ने कहा है- जो शल्य से युक्त है वह व्रतधारी नहीं हो सकता है। अतः तूं सूक्ष्म चिंतन द्वारा शल्य का शोधन कर उसे दूर कर दें।[73]

4. विशल्लीकरण- मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य और निदान शल्य को दूर करने वाली क्रिया। जिस वस्तु के शरीर में प्रवेश होते ही शरीर कम्पित होता है, पीड़ित होता है उसे शल्य कहते हैं। भाला, तीर, कील, कांटा, विष आदि पीड़ा उत्पन्न करते हैं इस कारण शल्य कहलाते हैं। चैत्यवंदन महाभाष्य के अनुसार शल्य दो प्रकार के होते हैं- 1. द्रव्यशल्य और 2. भावशल्य। कंटक आदि द्रव्य शल्य है और अतिचार या अनालोचित पाप भावशल्य है। कंटक आदि द्रव्य शल्य से रहित व्यक्ति इस भव में सुखी होता है, जबकि अतिचार रूपी भावशल्य से रहित साधक उभय लोक में सुखी होता है। शल्य सहित आत्मा हजारों वर्षों तक उग्र और घोर तपस्या का आचरण करें, तो भी निष्फल जाता है।[74]

शरीर में घाव हो और उसमें से पीप निकल रहा हो तो उसे वस्त्रादि द्वारा पोंछने मात्र से या डीटोल आदि द्वारा साफ करने मात्र से रूक नहीं जाता हैं, उसे रोकने के लिए विशेष चिकित्सा करनी होती है। यही प्रक्रिया अतिचार निवारण के लिए भी समझनी चाहिए।

मिथ्यात्व आदि तीनों शल्य मोक्षमार्ग में परम विघ्नकारक हैं अत: प्रत्येक साधक को इसका जड़ मूल से विनाश कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में किया गया सम्यक् प्रयत्न ही विशल्यीकरण है।

जो साधक शल्य मुक्त हो जाता है वह घनीभूत पापकर्मों का निर्घात कर सकता है तथा प्रशस्त ध्यान में प्रवृत्त होकर मोक्ष के निकट पहुँच सकता है।

इस प्रकार मलिन आत्मा की विशिष्ट शुद्धि कायोत्सर्ग द्वारा ही की जा सकती है। कायोत्सर्ग के अभ्यास द्वारा प्रायश्चित्तकरण, विशोधिकरण एवं विशल्लीकरण भी सम्भव है।

कायोत्सर्ग के शास्त्रीय प्रयोजन

कायोत्सर्ग आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। इस क्रिया का मूल उद्देश्य शारीरिक ममत्त्व का विसर्जन एवं आत्मिक अध्यवसायों का विशुद्धिकरण करना है। जिनमत में सामान्यतया निम्न हेतुओं से कायोत्सर्ग किया जाता है–

1. मार्ग में चलने-फिरने आदि से जो विराधना होती है, उससे लगने वाले अतिचार से निवृत्त होने के लिए, उस पाप कर्म को नीरस करने के लिए ईर्यापथिकसूत्र द्वारा कायोत्सर्ग करते हैं।
2. उत्तरीकरणेणं– संसारी आत्मा पाप कर्मों से मलिन है, उस आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए, अधिक निर्मल बनाने के लिए, उसे सम्यक् संस्कारों से अधिवासित कर उत्तरोत्तर उन्नत बनाने के लिए ।
3. पायच्छित्तकरणेणं– प्रायश्चित्त करने के लिए, पापों का छेद-विच्छेद करने के लिए, आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए।
4. विसोहिकरणेणं– विशोधिकरण के लिए, आत्मा के परिणामों की विशेष शुद्धि करने के लिए, आत्मा के अशुभ एवं अशुद्ध अध्यवसायों के निवारण के लिए।
5. विसल्लीकरणेणं– आत्मा को माया शल्य, निदान शल्य एवं मिथ्यात्व शल्य से रहित बनाने के लिए तस्सउत्तरीसूत्र द्वारा कायोत्सर्ग करते हैं।
6. तीर्थंकर प्रभु एवं श्रुतधर्म के वन्दन, पूजन, सत्कार, सम्मान के निमित्त, बोधिलाभ एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए बढ़ती हुई 1. श्रद्धा से 2. बुद्धि से 3. धृति से अर्थात विशेष प्रीति से 4. धारणा से अर्थात सम्यक् स्मृति से 5. अनुप्रेक्षा से अर्थात सत्चिन्तन से अरिहंतचेईयाणंसूत्र द्वारा कायोत्सर्ग

करते हैं। यह कायोत्सर्ग भाव धारा की शुद्धि के लिए आवश्यक है।

7. जिनशासन की सेवा-शुश्रुषा करने वाले, शान्ति देने वाले, सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुँचाने वाले देवी-देवता की आराधना करने के लिए, दोषों के परिहार के लिए, क्षुद्र-उपद्रव का निवारण करने के लिए, चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की उन्नति करने के लिए, गुरुवन्दन आदि के लिए भी कायोत्सर्ग किए जाते हैं।[75]

स्पष्ट है कि जैन परम्परा में अनेक प्रयोजनों से कायोत्सर्ग किया जाता है। धर्ममूलक प्रत्येक क्रिया कायोत्सर्ग पूर्वक ही प्रारम्भ और समाप्त होती है। दिगम्बर परम्परा में भी एक अहोरात्रि में 28 कायोत्सर्ग किए जाते हैं।

कायोत्सर्ग के लाभ

कायोत्सर्ग दुःखमुक्ति एवं सुप्त शक्तियों को अनावृत्त करने का सशक्त उपक्रम है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके सुपरिणामों का निरूपण करते हुए भगवान महावीर गौतमस्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्न के जवाब में कहते हैं कि कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा अतीत और वर्तमानकाल के अतिचारों से विशुद्ध बनता है। अतिचारों से शुद्ध होने के बाद साधक का मन अत्यन्त आनन्दित और हल्का हो जाता है। उसके बाद प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।[76]

कायोत्सर्ग का तात्विक अर्थ– 'काया का त्याग' नहीं है अपितु काया के अभिमान का, काया की अनवरत ममता का त्याग है। सुख का मूल साधन त्याग है।

इस आवश्यक से पाप प्रवृत्ति का निरोध होता है और चिरस्थायी चिदानन्द में आत्मा का वास होता है।

• कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि प्राप्त करना है, जो संसार से ममता घटने या हटने पर ही संभव है।

• व्रण का अर्थ है घाव। संयम की आराधना में प्रमाद वश लगने वाले अतिचार या दोष आध्यात्मिक व्रण हैं अर्थात वे संयम रूप शरीर के घाव है।

जिस प्रकार मरहम-दवा आदि से शारीरिक व्रण या घाव की चिकित्सा की जाती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग रूप औषध के प्रयोग से आध्यात्मिक व्रण या दोष का निराकरण किया जाता है अतः इसे व्रण-चिकित्सा कहते हैं।

• कायोत्सर्ग वह औषध है जो आध्यात्मिक घावों को साफ कर देता है और संयम रूपी शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो संयमी-जीवन को शुद्ध-विशुद्ध-परिशुद्ध बनाता है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कायोत्सर्ग के पाँच लाभ बताये गये हैं–

1. देहजाड्यशुद्धि– श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।
2. मतिजाड्यशुद्धि– कायोत्सर्ग से मन की प्रवृत्ति केन्द्रित होने से चित्त एकाग्र होता है, जागरूकता बढ़ती है। जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
3. सुख-दुःख तितिक्षा– सुख-दुःख को सहन करने की शक्ति का विकास होता है।
4. अनुप्रेक्षा– स्थिर भावनाओं से मन को भावित करने का अवसर प्राप्त होता है।
5. एकाग्रता– एकाग्रचित्त से शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।[77]

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष फल बताते हुए कहा गया है कि कायोत्सर्ग में हलन-चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मरज आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।[78]

आवश्यकचूर्णि के अनुसार चारित्र आदि की विशुद्धि के द्वारा पापकर्म को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[79] चूर्णिकार जिनदासगणि कहते हैं कि शारीरिक व्रण (द्रव्य व्रण) की चिकित्सा औषधि आदि से की जाती है, जबकि भावव्रण (व्रतादि के दूषण) की चिकित्सा प्रायश्चित्त से होती है। प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग पर अवलम्बित है अतः साधक को चित्तविशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग से चिकित्सा करनी चाहिए।[80]

विविध दृष्टियों से कायोत्सर्ग आवश्यक की उपादेयता

काय संबंधी ममत्व, मोह, राग, सुखशीलता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के ममत्वादि का त्याग करने से मन स्थिर हो जाता है। मानसिक स्थिरता से ध्यान साधना सुचारू रूप से होती है। समस्त शरीर को

सहज रूप से ढीला छोड़कर एवं मानसिक संकल्प-विकल्प आदि को त्याग कर कायोत्सर्ग करने से शारीरिक तनाव दूर होता है साथ ही मानसिक ग्रंथियाँ भी ढीली हो जाती है इससे मन तनाव मुक्त होकर स्वच्छ-निर्मल हो जाता है और पाप कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं।

कायोत्सर्ग अन्तर्मुखी एवं देहाध्यास विरक्ति की साधना है। अत: इसकी मूल्यवत्ता कई दृष्टियों से रेखांकित की जा सकती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से– आवश्यकनिर्युक्ति के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग को मंगल कहा है और इसे पाप (अमंगल) निवारण का हेतु बतलाया है। वे कहते हैं कि हमारे कार्य में विघ्न न आ जाए, इस दृष्टि से कार्य के प्रारम्भ में मंगल का अनुष्ठान (कायोत्सर्ग) करणीय है।[81]

उत्तराध्ययनसूत्र में कायोत्सर्ग को सर्व दु:खों का विमोक्ष (क्षीण) करने वाला माना गया है।[82] इस कथन को पुष्ट करते हुए निर्युक्तिकार पुन: कहते हैं कि मैंने संसार में जितने दु:खों का अनुभव किया है, उनसे अति दु:सह्य और अनुपम दु:ख नरक के होते हैं– यह सोचकर निर्ममत्व की साधना करने वाला मुनि अपने कर्मों को क्षीण करने के लिए कायोत्सर्ग करें।[83] इसी विषय में आगे कहा गया है कि जिस प्रकार कायोत्सर्ग में लम्बे समय तक नि:स्पन्द खड़े होने पर अंग-अंग टूटने लगते हैं, दुखने लगते हैं उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा अष्टविध कर्म-समूह को पीड़ित करते हैं एवं उन्हें नष्ट कर डालते हैं।[84]

मूलाचार में भी इसे कर्मभिद् माना गया है और कहा गया है कि जो मोक्षमार्ग का उपदेशक है; ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय– इन घाति कर्मों का विध्वंसक है, जिनेश्वर देवों द्वारा सेवन किया गया है और उन्हीं के द्वारा कहा गया है ऐसे कायोत्सर्ग का मैं अधिष्ठान करना चाहता हूँ।[85]

इसमें विविध स्थानों से लगने वाले दोषों से आत्मा को विशुद्ध करने हेतु भी कायोत्सर्ग का उपदेश दिया गया है और कहा है कि अज्ञान, राग-द्वेष, चार कषाय, सात भय, आठ मद– इनके द्वारा तीन गुप्ति, पाँच व्रत, छह जीवनिकाय, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति और दस धर्म– इन संयम स्थानों में जो अतिचार लगे हों, उन दोषों को क्षीण करने के लिए मैं कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करता हूँ।[86]

चतु:शरण प्रकीर्णक में कहा गया है कि चारित्र सम्बन्धी जिन अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से नहीं होती है, उनकी कायोत्सर्ग से यथाक्रम शुद्धि होती है।[87]

मानसिक दृष्टि से– कायोत्सर्ग श्वास एवं प्राण संयमन का अचूक उपाय है। श्वास स्थूल है और प्राण सूक्ष्म है। प्राण पर नियन्त्रण होने से अनासक्ति, अपरिग्रहवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि व्रत सहज में सध जाते हैं और दुष्प्रवृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। घृणा नष्ट हो जाती है और क्रोध अग्नि शान्त हो जाती है।

कायोत्सर्ग द्वारा श्वास के शिथिल होने से शरीर निष्क्रिय बन जाता है, प्राण शान्त हो जाते हैं और मन निर्विचार हो जाता है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। धीमी श्वास धैर्य की निशानी है।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक चिकित्सक मानसिक रोग दूर करने के लिए विगत कुछ वर्षों से कायोत्सर्ग, शरीर शिथिलीकरण शवासन आदि का प्रयोग करवाने लगे हैं, जिससे मानसिक तनाव के साथ-साथ शारीरिक तनाव भी दूर होते हैं और रोगी रोग से मुक्त हो जाता है।

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर स्थिर एवं मन निस्पंद होने से पूर्वोपार्जित दोष जो कि अचेतन मन में सुप्त-रूप में संचित रहते हैं वे अवसर प्राप्त करके सचेतन मन में उभर उठते हैं परिणामत: दोषी को अपने दोष स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाते हैं। उस समय साधक स्वयं के दोषों को दोष रूप में जानकर उनका त्याग करता है। कुछ देशों में यह पद्धति है कि अपराधी जब अपराध लेकर न्यायाधीश के पास पहुँचता है, तब न्यायाधीश उसे शांत चित्त से बैठने के लिए कहता है, किंचिद् समय स्थिर बैठने के पश्चात धीरे-धीरे उसका तनाव, ईर्ष्या, द्वेष आदि न्यून होने से अपनी भूल को स्वीकार कर लेता है इस तरह कुछ अपराधी प्रतिवाद किए बिना ही समाधान पाकर पुन: लौट जाते हैं।

कायोत्सर्ग से आवेश और तनाव दोनों स्थितियाँ समाप्त हो जाती है। प्राय: कर व्यक्ति उक्त दोनों स्थितियों में सही निर्णय नहीं ले पाता है, यही कारण है कि व्यक्ति को न्यायालय की शरण में जाना पड़ता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले 60 प्रतिशत मुकदमें वैसे ही समाप्त हो जायेंगे। आचार्य महाप्रज्ञ मौखिक जानकारी के आधार पर लिखते है कि पश्चिम जर्मनी में एक प्रयोग किया जा रहा है। वहाँ जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है उसे पाँच-छ: घँटे बिठाया जाता है, फिर उससे पूछताछ।

की जाती है। इस प्रकार 60 प्रतिशत व्यक्ति तो बिना शिकायत किए ही लौट जाते है, क्योंकि वे आवेश के वशीभूत होकर न्यायालय में आते हैं, किन्तु आवेश मिटते ही शान्त हो जाते हैं।

बौद्धिक दृष्टि से– कायोत्सर्ग से प्रज्ञा का जागरण होता है। बुद्धि और प्रज्ञा में मूल अन्तर यह है कि बुद्धि स्थूल और प्रज्ञा सूक्ष्म होती है। बुद्धि चुनाव करती है कि यह प्रिय है, यह अप्रिय है, किन्तु प्रज्ञा में चुनाव समाप्त हो जाता है। उसके जीवन में समता इस भाँति प्रतिष्ठित हो जाती है कि फिर उस चित्त में प्रियता और अप्रियता का प्रश्न ही नहीं उठता है। लेखक विमलकुमार चौरडिया के अनुसार जब प्रज्ञा का जागरण होता है तब समता स्वत: प्रकट होती है और लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में सम रहने की क्षमता विकसित होती है।[88]

शारीरिक दृष्टि से– आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से शरीर को विश्राम देना आवश्यक है। कायोत्सर्ग एक प्रकार से शारीरिक क्रियाओं की निवृत्ति है। अनुचित मात्रा में शारीरिक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप शरीर में निम्न विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं– 1. स्नायुओं में रक्त शर्करा कम होती है 2. लेक्टिव एसिड स्नायुओं में जमा होता है 3. लेक्टिव एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढ़ती है 4. स्नायु-तंत्र में थकान आती है 5. रक्त में प्राणवायु की मात्रा कम होती है। कायोत्सर्ग के द्वारा शारीरिक क्रियाओं में शिथिलता आने से शरीर के जो तत्त्व श्रम के कारण विषम हो जाते हैं वे पुन: समस्थिति में आ जाते हैं जैसे– 1. एसिड पुन: स्नायु-शर्करा में परिवर्तित होता है 2. लेक्टिक एसिड का जमाव कम होता है 3. लेक्टिक एसिड की कमी से उष्णता में कमी होती है 4. स्नायु तन्त्र में स्फूर्ति आती है 5. रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है।[89]

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाए तो मानव में 16 संज्ञाएँ हैं– 1. आहार 2. भय 3. मैथुन 4. परिग्रह 5. क्रोध 6. मान 7. माया 8. लोभ 9. ओघ 10. लोक 11. सुख 12. दु:ख 13. मोह 14. विचिकित्सा 15. शोक और 16. धर्म। इन संज्ञाओं के कारण मानव मन में आकांक्षा, मिथ्यादृष्टिकोण, प्रमाद, कषाय, योग चंचलता आदि आन्तरिक संक्लेश का उदय होता है। जिनके फलस्वरूप ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, घृणा, भय, लोभवृत्ति, इच्छा, संघर्ष आदि दुर्विकल्प उत्पन्न होते हैं। चेतन मन पर इनका सतत प्रभाव बना रहता है। इस प्रभाव या दबाव

(तनाव) के कारण मानव देह के 1. अवचेतक (हाइपोथेलेमस) 2. पीयूष ग्रन्थि (पिट्यूचरी ग्लाण्ड) 3. अधिवृक्क (एड्रीनल ग्लेण्डस्), 4. स्वायत्त नाड़ी संस्थान के अनुकंपी विभाग आदि पर कुप्रभाव पड़ता है। जिसके दुष्परिणाम से 1. पाचन क्रिया मंद होते-होते स्थगित हो जाती हैं 2. लार ग्रन्थियों के कार्य स्थगन से मुँह सूखने लगता है। 3. चयापचय की क्रिया में अव्यवस्था होने लगती है। 4. यकृत द्वारा संगृहीत शर्करा अतिरिक्त रूप से रक्त-प्रवाह में छोड़ी जाती है जो मधुमेह बीमारी की हेतु बनती है। 5. श्वास गति में तीव्रता आती है जिससे हांफनी चढ़ती है 6. हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और 7. रक्तचाप बढ़ जाता है। इन शारीरिक विषमताओं के कारण निद्रा न आना, रक्तचाप ऊँचा-नीचा होना, हृदयाघात, पक्षाघात, हेमरेज, रक्त अल्पता, वायु-विकार आदि हो जाते हैं। व्यक्ति धीरे-धीरे संकल्पहीन, इन्द्रिय सुखकामी, चंचल परिणामी एवं अस्थिर हो जाता है। उसकी शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्थितियाँ विषम हो जाती है तथा भावधारा विकृत होने से विपरीत दिशा का राही हो जाता है। कायोत्सर्ग इन व्याधियों एवं दुर्विकल्पों से मुक्त होने के लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय है।[90]

हम देखते हैं कि मन, मस्तिष्क और शरीर का गहरा सम्बन्ध है। उनमें असमंजस होने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है उससे स्नायविक तनाव होता है। उसके कारण मानसिक आवेग प्रकट होते हैं। वस्तुत: जब हम शरीर को किसी दूसरे कार्य में लगाते हैं और मन कहीं दूसरी ओर भटकता है तब स्नायविक तनाव बढ़ता है, परन्तु शरीर और मन को एक साथ कार्य में संलग्न करने का अभ्यास कर लिया जाए तो स्नायविक तनाव की स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठेगा। कायोत्सर्ग इस तनाव मुक्ति का प्रयास है। कायोत्सर्ग से मानसिक, स्नायविक, भावात्मक तनाव समाप्त हो जाते हैं, ममत्व का विसर्जन हो जाता है, सभी नाड़ी तंत्रीय कोशिकाएँ प्राण-शक्ति से अनुप्राणित हो जाती हैं। तनाव के कारण होने वाली बीमारियाँ उत्पन्न नहीं होती और यदि बीमारियाँ हो तो धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से– प्रबुद्ध चिन्तकों का मानना है कि कायोत्सर्ग के अवलम्बन से अवचेतन मन तक पहुँच कर मन की गहराइयों तक जा सकते हैं और संस्कार मुक्त हो सकते हैं। आधुनिक विज्ञान के अभिमत से शरीर का

ममत्व कम होने पर शरीर का शिथिलीकरण होता है और तनाव अल्प होते हैं। साधक देह की ममता से हटकर उस पर उठने वाली संवेदनाओं को निष्पक्ष भाव से देखने लगते हैं और मन ऐसी स्थिति में आ जाता है कि जैसे देह किसी अन्य की है और जो भी घटित हो रहा है वह उसे मात्र उदासीन भाव से देख रहे हैं। अब तक देह पर होने वाली घटनाओं को मन निष्पक्ष भाव से न देखकर यह चुनाव करता था कि यह संवेदना या घटना अच्छी है या बुरी और इस प्रकार राग-द्वेष में फंस जाता था। जो प्रिय है वह और चाहिए, जो अप्रिय है वह हटना चाहिए, इसी प्रतिक्रिया में तथा सुख या दुःख भोगने में ही जीवन बीत जाता है, परन्तु कायोत्सर्ग के अभ्यास से ज्ञाता-द्रष्टाभाव जागृत हो जाता है। इससे व्यक्ति देहातीत स्थिति का वरण कर अन्तिम लक्ष्य सिद्ध कर लेता है।

रणजीतसिंह कुमट ने इस सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं वे अक्षरशः इस प्रकार हैं– मनोवैज्ञानिकों की मान्यतानुसार जागृत मस्तिष्क, मस्तिष्क का बहुत छोटा हिस्सा है और बहुत बड़ा हिस्सा है सुषुप्त मस्तिष्क, जो कभी सोता नहीं और हमारी विभिन्न गतिविधियों और आवेगों पर नियन्त्रण रखता है। जब तक सुषुप्त मस्तिष्क पर हमारा नियन्त्रण नहीं होगा और इसके प्रति जागृति नहीं होगी, हमारे क्रियाकलापों एवं आवेगों पर हमारा नियन्त्रण नहीं होगा। कायोत्सर्ग के द्वारा सुषुप्त मन तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। जिस सुषुप्त मस्तिष्क या अवचेतन मन में पूर्व से संस्कार भरे हुए हैं और जिससे हमारे आवेग संचालित या नियन्त्रित होते हैं, उसके प्रति जागरूक हुए बिना हम अपने मन व शरीर पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण नहीं कर सकते।

अवचेतन मन में बहुत से विचार और संस्कार जन्म-जन्मान्तर से भरे पड़े हैं और हमारे कई कृत्य ऐसे होते हैं जिनको हम सचेत रूप से करते ही नहीं और हो जाने के बाद ताज्जुब या पश्चात्ताप करते हैं कि यह कैसे हो गया। अतः सही रूप से निःशल्य होने के लिए अवचेतन मन तक पहुँचना आवश्यक है और यह कायोत्सर्ग के माध्यम से सम्भव है।[91]

यह भी ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग में जब शरीर शिथिल होता है तब जागृत मस्तिष्क भी शिथिल हो जाता है, किन्तु सुषुप्त मन सक्रिय रहता है और उसकी गतिविधियों को साक्षी भाव से देखने से आवेगों एवं संस्कारों को भी देखने का मौका मिलता हैं। संस्कार उभरकर शरीर पर संवेदनाओं के रूप में आते हैं जैसे– शरीर में कहीं दर्द, कहीं फड़कन, खुजलाहट या कोई सुखद संवेदना जैसे दर्द

का कम होना, स्फूर्ति होना, चिन्मयता आदि। इन संवेदनाओं के प्रति सजग रहकर यह देखना चाहिए कि ये संवेदनाएँ अनित्य हैं और इनके प्रति क्या राग और क्या द्वेष करें। इन संवेदनाओं को देखते-देखते साधक देहाध्यास से उस पार हो जाता है।[92]

इस तरह सुस्पष्ट है कि कायोत्सर्ग विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह जैविक शान्ति और आध्यात्मिक उपलब्धि का श्रेष्ठतम उपाय भी है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कायोत्सर्ग का मूल्य

कायोत्सर्ग आत्मानुभूति का द्वार है, स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा का योग है। कायोत्सर्ग का मूलोद्देश्य शरीर के ममत्व को न्यून करना, निसंग एवं अनासक्त स्थिति का रसास्वादन करना तथा सब ओर से सिमटकर आत्मस्वरूप में लीन होना है।

शरीर का मोह, शरीर की ममता साधारण व्यक्ति के लिए अनर्थकारी है, साधक के लिए तो विषतुल्य है। शरीर का पोषण करना ही मानव जीवन का कर्त्तव्य नहीं है, जो शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, दिन-रात उसी के सजाने-संवारने में लगे रहते हैं, वे मूल कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। इसी के साथ देहासक्ति भोग का मूल है। जहाँ भोगलिप्सा है, भोगाकांक्षा है वहाँ अर्थप्राप्ति, धनसंग्रह परिग्रह संचय की कामना पनपती है। आजकल जर, जोरू, जमीन के पीछे भाई-भाई के बीच, पिता-पुत्र के बीच, भाई-बहिन के बीच जो संघर्ष हो रहे हैं, विवाद बढ़ रहे हैं, परिवार बिखर रहे हैं, उन सब का मूल कारण देहासक्ति है।

उपाध्याय अमरमुनि ने इस संदर्भ में सम्यक् चिन्तन प्रस्तुत किया है। जो शरीर को ही सर्वेसर्वा मानते हैं वे यथोचित रूप से परिवार, समाज एवं राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकते हैं। देह के लिए जीवनयापन करने वाले लोग स्वार्थ परायण होते हैं, अपना स्वार्थ सिद्ध होने तक परिवार आदि से सम्बन्ध रखते हैं। तत्पश्चात उनकी सद्गति-दुर्गति से कुछ भी लेन-देन नहीं रखते हैं। आज भारत इस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ व्यक्ति स्वयं का ही मूल्य आंक रहा है, स्वयं को ही समृद्धि के शिखर पर पहुँचाने के प्रयत्न में जुटा हुआ है, परिवार और समाज के दयनीय स्थिति वाले लोगों की ओर यत्किंचित भी ध्यान नहीं हैं। इसलिए आज देश के प्रत्येक नागरिक को कायोत्सर्ग सम्बन्धी शिक्षा लेने की

आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने की कला ही राष्ट्र में कर्त्तव्य की चेतना जगा सकती है। जड़-चेतन का भेद समझे बिना सारी साधना मृत साधना है। जीवन के कदम-कदम पर कायोत्सर्ग का स्वर गूंजते रहने में ही वर्तमान के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग के बल पर ही व्यक्ति महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तुच्छ स्वार्थों का बलिदान कर सकता है। इस दुर्लभ जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन हैं। इसी कारण व्यक्ति को हर कदम पर चोरी, accident, बीमारी, प्रतिकूल परिस्थिति, उपद्रव संभावना तथा मृत्यु का भय बना रहता है, जिससे साधक कर्त्तव्य साधना से पराङ्मुख भी हो जाता है। आचार्य अकलंक ने इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय कायोत्सर्ग को बताया है–

'नि:संग-निर्भयत्व-जीविताशा-व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्ग:'– नि:संगत्व, निर्भयत्व, जीवित आशा का त्याग, दोषोच्छेद और मोक्षमार्ग प्रभावना आदि के लिए व्युत्सर्ग करना आवश्यक है।[93] आचार्य अमितगति कायोत्सर्ग के लिए मंगल कामना करते हुए कहते हैं–

हे जिनेन्द्र! आपकी अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न, दोषरहित, निर्मल स्वभावी आत्मा को इस क्षणभंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूं, अलग समझ सकूं, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है।[94]

जैनाचार्यों ने षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान ऊपर वर्णित भावना को व्यक्त करने के लिए ही दिया है। प्रत्येक जैन साधक को प्रात: और सायं कायोत्सर्ग के द्वारा भेद विज्ञान की साधना करने का नियमा निर्देश है।जो प्रतिदिन कायोत्सर्ग साधना का अभ्यास करते हैं वे निश्चित रूप से देहविरक्त बन, जीवन के महान लक्ष्य को संप्राप्त कर लेते हैं।

आचार्य सकलकीर्ति ने भी कहा है– कायोत्सर्ग के द्वारा धीमान् पुरुषों का शारीरिक ममत्व छूट जाता है और शारीरिक ममत्व का छूट जाना ही वस्तुत: महान् धर्म और सुख है।[95]

विदेही व्यक्ति ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र प्रगति तथा उसके कल्याण के लिए हर-हमेश कटिबद्ध रह सकता है, अपने आप को सर्वात्मना समर्पित कर सकता है। यहाँ प्रसंगवश कायोत्सर्ग की वर्तमानकालिक स्थिति पर भी किंचिद्

विचार करना आवश्यक है। आजकल प्रतिक्रमण करते समय जब चार, आठ या बारह आदि लोगस्स सूत्र का कायोत्सर्ग करते हैं तब स्वयं को मच्छरों से बचाने के लिए अथवा सर्दी आदि से रक्षा करने के लिए शरीर को सब ओर से वस्त्र द्वारा ढक देते हैं। तब यह देह व्युत्सर्ग की साधना कैसे? ममत्व त्याग की उपासना कैसे? यह तो उल्टा शरीर का मोह है। कायोत्सर्ग तो कष्ट झेलने एवं कष्ट सहने के लिए देहाध्यास से विलग होने की साधना है। कष्ट सहिष्णु होने के लिए वस्त्र रहित होकर ही कायोत्सर्ग करना चाहिए, वही वास्तविक कायोत्सर्ग कहलाता है। हमारी प्राचीन परम्परा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के समय अधोवस्त्र पहनने की ही रही है। आचार्य धर्मदासगणी आदि अनेक आचार्यों ने प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते समय उत्तरासंग ओढ़ने का निषेध किया है।[96]

अत: आवश्यक है कि वर्तमान परिपाटी एवं व्यवहार को मौलिक संकल्पना के अनुरूप सुधारा जाये।

यदि नव्ययुग की समस्याओं के विषय में चिंतन करें तो कायोत्सर्ग सर्वप्रथम इन्द्रिय ममत्व को कम करता है, इन्द्रिय राग कई समस्याओं का कारणभूत है। अधिकतम अपराध या अनैतिक कार्य इन्द्रिय राग के वशीभूत होकर ही किए जाते हैं। चोरी, बेईमानी, बलात्कार, आहार लोलुपता आदि समस्याएँ इन्द्रिय अनियंत्रण के कारण ही उत्पन्न होती हैं। कायोत्सर्ग के माध्यम से काया के प्रति रही आसक्ति को जब न्यून किया जाता है तो ऐसी समस्याओं का स्वयमेव ही निराकरण हो जाता है। कायोत्सर्ग के द्वारा नाड़ियों का शोधन होता है जिससे कई रोगों का शमन होता है। इसी प्रकार स्वयं पर ध्यान केन्द्रित करने से मन एकाग्र होकर बाह्य विषयों में नहीं दौड़ता तथा मानसिक एवं शारीरिक आवेग एवं आवेश शांत होते हैं। इस साधना से बढ़ते रक्तचाप, पक्षाघात, रक्तअल्पता आदि को नियंत्रित किया जा सकता है। इसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याएँ जैसे कि आतंकवाद आदि को कम कर सकते हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग के माध्यम से स्व केन्द्रित होने पर अनेक समस्याओं का निराकरण सम्भव है।

प्रबंधन की दृष्टि से विचार करें तो कायोत्सर्ग के द्वारा दृष्टि प्रबन्धन, भाव प्रबन्धन, कषाय प्रबंधन आदि कई प्रकार का नियंत्रण संभव है। सर्वप्रथम तो

कायोत्सर्ग के द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण किया जाता है जिससे ऐन्द्रिक क्रियाओं में संतुलन स्थापित होता है। मन, वाणी और काया के नियंत्रण एवं संतुलन से जीवन well managed बन जाता है। स्वस्थ मन एवं शरीर में क्रोधादि कषाय, आवेश आदि जल्दी से उत्पन्न नहीं होते, इससे क्रोधादि कषायों का प्रबन्धन होता है। निज स्वभाव में मग्न रहने से दृष्टि बाह्य विषयों में नहीं भटकती, इससे दृष्टि प्रबन्धन होता है। इसी प्रकार दुष्भावों एवं दुष्चिंतन का परिमार्जन होने से सद्भावों में वृद्धि होती है तथा भावों में भी संतुलन स्थापित होता है।

कायोत्सर्ग का अधिकारी कौन?

कायोत्सर्ग, पाप विशोधन की शास्त्रीय प्रक्रिया है अत: इस साधना में सामान्य व्यक्ति सफल नहीं हो सकता है। उद्यमवन्त एवं सामायिक आदि में अभ्यस्त साधक ही इसका सार्थक परिणाम उपलब्ध कर सकता है। आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो मुनि कुल्हाड़ी से काटने या चंदन का लेप करने पर भी समान भार रखता है, जीवन और मरण में सम रहता है तथा देह के प्रति बंधा हुआ नहीं है उसी के कायोत्सर्ग होता है।[97]

आचार्य अमृतचन्द्र के अभिमतानुसार जिस मुनि का शरीर पसीना और मैल से लिप्त हो, जो दु:सह रोग के उत्पन्न हो जाने पर भी उसका उपचार नहीं करता हो, शारीरिक विभूषा, यथा हाथ-पैर धोना आदि संस्कारों से उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो, अपने स्वरूप चिन्तन में लीन हो, मित्र और शत्रु के प्रति मध्यस्थ हो तथा शरीर के प्रति ममत्व न रखता हो, उसके कायोत्सर्ग होता है।[98]

यहाँ मुनि शब्द से तात्पर्य चारित्रवान् आत्मा ही नहीं है, अपितु जो भी साधक उक्त गुणों से युक्त हो, वे सभी ग्राह्य हैं। दूसरे, एक स्थान पर निष्चेष्ट खड़े होना या बैठना ही कायोत्सर्ग नहीं है, परन्तु देहाभ्यास से देहातीत अवस्था तक पहुँचने के लिए जो भी आत्म मूलक प्रयत्न किये जाते हैं, सूक्ष्म रूप से वे सभी कायोत्सर्ग रूप हैं। यह कायोत्सर्ग की सूक्ष्म व्याख्या है। व्यवहार में स्थित देह की विशेष मुद्रा को कायोत्सर्ग कहते हैं।

कायोत्सर्गसूत्र : एक परिचय

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में गमनागमन आदि प्रवृत्तियों द्वारा लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए एवं पंचाचार विषयक आत्मविशुद्धि के लिए जब

कायोत्सर्ग करते हैं तब लगभग इरियावहि, तस्सउत्तरी, अन्नत्थ और लोगस्स– ये चार सूत्र बोले जाते हैं, इसे ईर्यापथ प्रतिक्रमण कहते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग से सम्बन्धित मुख्य दो ही सूत्र हैं– 1. तस्सउत्तरीसूत्र और 2. अन्नत्थसूत्र। परन्तु इन सूत्रों से पूर्व प्रायः इरियावहिसूत्र भी बोला जाता है अतः सभी सूत्रों का विश्लेषण प्रबोधटीका गुजराती भाषान्तर के आधार पर किया जा रहा है।[99]

1. **इरियावहिसूत्र–** जैन क्रिया का प्रमुख सूत्र होने से इसका मूल पाठ भी उद्धृत कर रहे हैं–

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि? इच्छं, इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे पाण-क्कमणे, बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे, ओसा–उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे। जे मे जीवा विराहिया। एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिदिया। अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं, संकामिया, जीवियाओ, ववरोविया, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

उद्देश्य– व्यक्ति को स्वयं के द्वारा किए गए अपराधों का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि स्वकृत भूलों का बोध न हो, तो उसे सुधारने का प्रयत्न भी नहीं हो सकता है, इसलिए दोषों का भान होना अनिवार्य है। यह भूल सुधार की उत्तम कला है। सत्-प्रवृत्ति और असत्-निवृत्ति– यह सचेत अवस्था का प्रतीक है और सद्-निवृत्ति तथा असद्-प्रवृत्ति– यह प्रमाद अवस्था का सूचक है। अप्रमत्त स्थिति भूल सुधारने की कला का रहस्य है। ईर्यापथिकसूत्र की योजना इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर की गई है। व्यक्ति मात्र की सामान्य क्रिया भी किसी अन्य के लिए पीड़ाकारी न हो– यही प्रस्तुत सूत्र का सार है।

- आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यकटीका में इस सूत्र का नाम 'गमनातिचार प्रतिक्रमण' दिया है। दशवैकालिक टीका में इसका विवेचन 'ईर्यापथ प्रतिक्रमण' नाम से किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में इसी नाम का उपयोग किया है और उसे 'आलोचन प्रतिक्रमण' के नाम से उल्लेखित किया है।

- इस सूत्र का उपयोग सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन आदि अनेक क्रियानुष्ठानों में होता है। तदुपरान्त दुःस्वप्न आदि के निवारण के लिए, आशातना

दूर करने के लिए, गमनागमन की प्रवृत्ति करने के बाद शुद्ध होने के लिए, प्रमार्जन करते समय, अशुचि द्रव्यों का परित्याग करते समय आदि अनेक दोषजन्य प्रवृत्तियों से निवृत्त एवं आत्मविशुद्धनार्थ इस सूत्र का उपयोग होता है।

- प्रत्येक धार्मिक क्रिया के प्रारम्भ में ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का निर्देश है। इस विषय में शास्त्र प्रमाण है कि

ववहारावस्सयमहा-निसीह, भगवइविवाहचूलासु ।
पडिक्कमणचुण्णिमाइसु, पढमं इरियापडिक्कमणं ।।

व्यवहारसूत्र, आवश्यकसूत्र, महानिशीथसूत्र, भगवतीसूत्र, प्रतिक्रमण चूर्णि आदि में सर्वप्रथम इरियावहि प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया गया है।

- सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की विराधना को भी दुष्कृत समझना और उस दुष्कर्म को नीरस करने के लिए उदार हृदयी होना– इस सूत्र का प्रधान अंग है। इसमें उल्लिखित 'मिच्छा मि दुक्कडं'– ये तीन पद प्रतिक्रमण के बीज रूप होने से पुनः पुनः मननीय है। हमारे द्वारा किसी जीव का अपराध हुआ हो तो उससे क्षमायाचना करना, मिच्छामि दुक्कडं की क्रिया कहलाती है।

- शास्त्रकारों ने ईर्यापथिक प्रतिक्रमण के 1824120 विकल्प (भंग) बतलाये हैं जो इस प्रकार है– इस सृष्टि में मुख्य रूप से 563 प्रकार के जीव हैं। उन जीवों की अभिहया, वत्तिया आदि दसविध विराधना होती है। दस प्रकार की विराधना का राग-द्वेष, तीन योग, तीन करण, तीन काल और अरिहंत, सिद्ध, साधु, देव, गुरु, आत्मा– इन छः की साक्षी से गुणा करने पर अनुक्रम से 563×10×2×3×3×3×4=1824120 भेद होते हैं।

- साध्वाचार में लगे हुए अतिचारों के निवारण करने के लिए भी यह सूत्र बोला जाता है।

- आवश्यकसूत्र के तीसरे अध्ययन में यह सूत्र पाठ है।

- प्रस्तुत सूत्र का ईर्यापथिकसूत्र नाम इसलिए है कि ईर्या का अर्थ है– गमन, गमन प्रधान मार्ग-पथ, ईर्यापथ कहलाता है। ईर्यापथ में होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी कहलाती है। ऐर्यापथिकी (गमनागमनादि के समय असावधानी वश होने वाली दूषण रूप) क्रिया की शुद्धि के लिए बोला जाने वाला प्रायश्चित्त रूप सूत्र ईर्यापथिक सूत्र कहलाता है। इस व्याख्या से सुस्पष्ट होता है कि इस सूत्र के द्वारा गमनागमन की क्रिया के दरम्यान प्रमाद या अज्ञानवश हुई जीवविराधना के

सम्बन्ध में पश्चात्ताप करके, उस विषय में विशेष यतनापूर्वक वर्तन करने का संकल्प किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र का गहराई से मनन किया जाए तो हिंसा-अहिंसा का वास्तविक स्वरूप भी समझ में आ जाता है। वह यह है कि किसी जीव को मार देना, प्राणरहित कर देना ही हिंसा नहीं है, प्रत्युत सूक्ष्म या स्थूल जीव को किसी भी सूक्ष्म या स्थूल चेष्टा के माध्यम से या किसी अन्य प्रकार से सूक्ष्म या स्थूल पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा है। सूक्ष्म जीवों को परस्पर में टकराना, उन पर धूल आदि डालना, भूमि पर मसलना, पैर से संस्पर्शित करना, स्वतन्त्र गति में रुकावट डालना, एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर रखना, भयभीत करना, स्पर्श करना भी हिंसा है। जैन धर्म का अहिंसा दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है।

2. **तस्सउत्तरीसूत्र–** इसका दूसरा नाम कायोत्सर्गसूत्र है, क्योंकि इस सूत्र के उच्चारण द्वारा प्रायश्चित्त आदि के लिए कायोत्सर्ग करने का संकल्प किया जाता है। स्पष्टीकरण के लिए मूल पाठ यह है–

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोहीकरणेणं। विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।।

- इरियावहिसूत्र से जीव विराधना का प्रतिक्रमण करते हैं, उसके अनुसंधान में यह सूत्र कहा जाता है।
- इरियावहिसूत्र की आठ संपदाएँ हैं। इनमें अन्तिम प्रतिक्रमण संपदा तस्सउत्तरीसूत्र की है।
- इस सूत्र में कायोत्सर्ग के चार हेतु बतलाये गये हैं अत: यह हेतुदर्शक सूत्र है।
- प्रस्तुत सूत्र चार भागों (विषयों) में विभक्त है। पहला भाग **'तस्स'** ऐसे एक पद का है और वह इरियावहिसूत्र द्वारा किए गए प्रतिक्रमण का अनुसंधान दर्शाता है, इसलिए अनुसंधान दर्शक है। प्रतिक्रमण में जहाँ-जहाँ यह सूत्र बोला जाता है, वहाँ मिथ्यादुष्कृत रूप प्रतिक्रमण के बाद ही बोला जाता है। इस कारण शास्त्रकारों ने इसे विशेष-प्रतिक्रमण सूत्र भी कहा है।
- इस सूत्र का दूसरा भाग **'उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोहीकरणेणं और विसल्लीकरणेणं'**– इन चार पदों से सम्बद्ध एवं कायोत्सर्ग के चार हेतु उपदर्शित करने से हेतुदर्शक है। इन चार हेतुओं का

विधान पूर्व-पश्चाद् भाव को अनुलक्षित करके किया गया है। प्रत्येक हेतु स्वतन्त्र क्रिया का सूचन करता है और प्रत्येक क्रिया उत्तर क्रिया का हेतुभूत है।

• प्रस्तुत सूत्र का तीसरा भाग **'पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए'**– इन तीन पद से युक्त है और कायोत्सर्ग का प्रयोजन दर्शाता है। प्रबोध टीकाकार के अनुसार इन तीन पदों से तात्पर्य है कि आलोचना और प्रतिक्रमण से पापकर्मों का घात होता हैं, परन्तु निर्घात (विशेष घात) नहीं होता है। उस क्रिया को सिद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

• प्रस्तुत सूत्र का चौथा भाग **'ठामि काउस्सग्गं'**– इन दो पदों से निष्पन्न है। यह कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा दर्शाता है।

• तस्सउत्तरी सूत्र का यह संदेश है कि व्यक्ति के द्वारा किसी तरह की भूल हो जाए तो उस अपराध का सरलता पूर्वक स्वीकार करना चाहिए, निष्कपट भाव से उसकी निंदा करनी चाहिए। आप्त पुरुषों के वचनों के प्रति श्रद्धा रखते हुए उनके द्वारा प्ररूपित प्रायश्चित्त मार्ग का ग्रहण करना चाहिए, पुनः उस प्रकार की भूल न हो उसके लिए चित्तवृत्तियों का सम्यक् शोधन कर, उसमें रहे हुए दोषों या शल्यों को दूर करना चाहिए। यह आत्म शुद्धि का राजमार्ग है।

• इस सूत्र पर भद्रबाहुस्वामी कृत निर्युक्ति है, जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि है और आचार्य हरिभद्र रचित टीका है। हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में, शान्तिसूरि कृत चैत्यवंदन महाभाष्य में और देवेन्द्रसूरि कृत देववंदनभाष्य में इस सूत्र पर विवरण लिखा गया है।

• आवश्यकसूत्र के पाँचवें अध्ययन में यह सूत्रपाठ है।

3. अन्नत्थसूत्र– इसका अपर नाम आगारसूत्र है। इसमें प्रमुख रूप से आगारों (अपवाद जन्य क्रियाओं) के नाम उल्लिखित हैं। सामान्यतया यह सूत्र चार भागों में विभक्त है– 1. प्रतिज्ञा 2. स्वरूप 3. समय और 4. आगार। सूत्रपदों के साथ प्रस्तुत विभाजन इस प्रकार है–

1. प्रतिज्ञा– **अप्पाणं कायं वोसिरामि–** मेरी काया का त्याग करता हूँ।
2. स्वरूप– **ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं–** स्थान से स्थिर होकर, मौन से स्थिर होकर, ध्यान से स्थिर होकर।
3. समय– **'जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि, ताव'–** जब तक 'नमो अरिहंताणं' पद बोलकर पूर्ण न करूँ, तब तक।

4. आगार– **'अन्नत्थ ऊससिएणं– हुज्ज मे काउस्सग्गो'–** लेना श्वासोश्वास आदि मेरा कायोत्सर्ग हो

• यह सूत्र आवश्यकसूत्र के पंचम अध्ययन में तस्सउत्तरीसूत्र के साथ ही उल्लिखित है।

उपसंहार

कायोत्सर्ग भेद विज्ञान की साधना है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है– इस प्रकार की समझ उत्पन्न होना भेदविज्ञान है। भेदज्ञान के लिए देह भाव (ममत्व भाव) का विच्छेद करना परमावश्यक है। जीव का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध देह (काया) से है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि देह के ही अंग हैं। देह से भिन्न इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसलिए देहान्त होते ही इनका भी अन्त हो जाता है। इन्द्रियाँ और मन जब अपने विषयों में प्रवृत्ति करते हैं तब इनका संसार से सम्बन्ध जुड़ता है। इस प्रकार शरीर का इन्द्रियों, वस्तुओं एवं संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। अत: शरीर, इन्द्रियाँ, मन और इनकी विषय वस्तुएँ, इन सबमें जातीय एकता है। ये सब एक ही जाति 'पुद्गल' के रूप में हैं। जो विनाशशील, अनित्य, अध्रुव और क्षणभंगुर है उसे पुद्गल कहते हैं। इस तरह शरीर और संसार के सभी पदार्थ विनाशी है, जबकि आत्मा अविनाशी स्वभाव वाली है, दो भिन्न द्रव्यों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? हम संसारी प्राणी के देह और आत्मा में एकत्व देखते हैं वह कर्मजनित है। जब तक आत्मा के साथ कर्मपुद्गल रहे हुए हुैं तब तक ही आत्मा शरीर, संसार एवं इन्द्रियों से बंधी रहती है कर्मरहित आत्म प्रदेशों के साथ नवीन कर्म आकर नहीं चिपकते हैं, जैसे सिद्ध आत्मा। आत्मा का यथार्थ स्वरूप कर्मरहितता है, वह देहरूप नहीं है। आत्मा का देह से सम्बन्ध होना ही समस्त बन्धनों का कारण है, क्योंकि देह का इन्द्रियों से, इन्द्रियों का विषयों से, विषयों का वस्तुओं से और वस्तुओं का संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। अत: प्राथमिक रूप से देहातीत की साधना करना ही आवश्यक है और वह कायोत्सर्ग के आलम्बन से ही सम्भव है।

कायोत्सर्ग के द्वारा न केवल शारीरिक, ऐन्द्रिक या सांसारिक विषयों से सम्बन्ध विच्छेद होता है अपितु कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भाव का अन्त हो जाता है, जिससे कर्मबन्धन का प्रवाह रूक जाता है और कर्मोदय का प्रभाव बलहीन हो जाता है।

कन्हैयालालजी लोढ़ा के अनुसार कर्तृत्व भाव से की गई प्रवृत्ति श्रम युक्त होती है। श्रम काया के आश्रय के बिना, पराधीन हुए बिना नहीं हो सकता। काया के आश्रित तथा पराधीन रहते हुए काया से असंग होना संभव नहीं है।काया से असंग हुए बिना कायोत्सर्ग नहीं हो सकता।कायोत्सर्ग के बिना अर्थात काया से जुड़े रहते जन्म-मरण, रोग-शोक, अभाव, तनाव, हीनभाव, द्वन्द्व आदि दुःखों से मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है। अतएव समस्त श्रमसाध्य प्रयत्नों एवं क्रियाओं या प्रवृत्तियों से रहित होने पर कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग से ही निर्वाण प्राप्त होता है एवं सर्व दुःखों से मुक्ति होती है।[100]

जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी देह व्युत्सर्ग की साधना पर बल दिया गया है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव ने कहा है कि– सभी देहधारियों को जैसे सुख हो वैसे यह शरीर मैंने निछावर कर दिया है। वे अब चाहे इसकी हत्या करें, निन्दा करें, इस पर धूल फैंके, चाहे खेलें, चाहे हँसे या चाहे विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता? इस प्रकार देह व्युत्सर्ग की धारणा देखने को मिलती है।[101]

इस प्रकार कायोत्सर्ग Self Control प्राप्त करने की Practical क्रिया है। कायोत्सर्ग के सध जाने के बाद बाह्य प्रवृत्ति का कोई भी प्रभाव साधक मन पर नहीं पड़ता। ऐसा ही व्यक्ति व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर पहुँच सकता है। आत्मा की वैभाविक परिणतियों पर नियंत्रण पाने के लिए कायोत्सर्ग Remote Control के समान है जिससे साधक विजेता ही नहीं मनोविजेता भी बन जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गा. 119, पृ. 161*
2. *सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।*
   कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥
   उत्तराध्ययनसूत्र, 30/36
3. *असइं वोसट्ठचत्तदेहे। दशवैकालिकसूत्र, 10/13*
4. *वोसट्ठो पडिमादिसु विनिवृत्तक्रियो। दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 240*
5. *व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धा भावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः।*
   दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका, पृ. 267

6. कायः–शरीरं तस्योत्सर्गः – आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 581
7. देहे ममत्वनिरासः जिनगुणचिन्तायुक्तः कायोत्सर्गः।
मूलाचार, गा. 22 की टीका,
8. मूलाचार, 1/22
9. देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तमकालम्हि जिणगणचिंतणजुत्तो, काउस्सग्गो तणुविसग्गो। मूलाचार, 1/28 की टीका
10. कायाई परदव्वे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्विअप्पेण ।।
नियमसार, 121
11. परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः।
तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6/24, पृ. 530
12. ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं, नश्वरं कर्मनिर्मितं।
न तस्य वर्तते कार्ये, कायोत्सर्गं करोति सः ।।
योगसारप्राभृत, 5/52
13. मनोनुशासनम्, पृ. 196
14. काए सरीरे देहे बुंदी य, चय उवचए य संघाए।
उस्सय समुस्सए वा, कलेवरे भत्थ तण पाणू ।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 1446
15. उस्सग्ग विउस्सरणुज्झणा य, अवगिरण छड्डुण विवेगो।
वज्जण चयणुम्मुअणा, परिसाउण साउणा चेव ।।
वही, 1451
16. चीयतेऽस्मिन् अस्थ्यादिकमिति कायः। प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 94
17. चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः। वही, पृ. 94
18. व्यापारवतः कायस्स परित्याग इति भावना।
आवश्यकहारिभद्रीय टीका, पत्र 779
19. काउस्सग्गो दव्वतो, भावओ य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं ।।
आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 249

20. सो उस्सग्गो दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे य णायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गभिजुंजणे बिइओ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1452

21. (क) चेट्ठाउस्सग्गो चेट्ठातो....कीरति। आवश्यकचूर्णि, त भा. 2, पृ. 248
(ख) अभिभवो णाम अभिभूतो वा...प्रतिज्ञां पूरेति। वही, पृ. 248
(ग) अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूयं तेण तज्जयट्ठाए।
अब्भुट्ठिया उ तवसंजमंमि कुव्वंति निग्गंथा॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1456

22. (क) उट्ठिद उट्ठिद, उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव।
उवविट्ठणिविट्ठोवि, च काओसग्गो चदुट्ठाणो॥
मूलाचार, 7/675-79
(ख) भगवती आराधना, गा. 118 की टीका, पृ. 62-63

23. आवश्यकनिर्युक्ति, 1459-1460

24. वही, 1479-1480

25. वही, 1489-1495

26. नामट्ठवणा दव्वे खेत्ते, काले य होदि भावे य।
एसो काउस्सग्गे, णिक्खेवो छव्विहो णेओ॥
मूलाचार, 7/650 की टीका

27. (क) दव्वविउस्सग्गो गणउवधिसरीर भत्तपाणाण विउस्सग्गो,....
अहवा कसायसंसारकम्माण वा विउस्सग्गो।
आवश्यकचूर्णि, भा. 1, पृ. 616
(ख) आवश्यक हारिभद्रीयटीका, भा. 1, पृ. 325

28. स्थानांगसूत्र, 4/1/130

29. जे गुणे से आवट्टे। आचारांगसूत्र, 1/1/5

30. वितोसग्गो-परिच्चागो। सो बाहिरऽब्भंतरोवहिस्स जिण थेर कप्पियाणं वितीसग्गो। दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 19

31. घोडग लया य खम्भे, कुड्डे माले य सबरि बहुनियले।
लंबुत्तर थण उड्डी, संजइ खलिणे य वायस कविट्ठे॥
सीसोकंपिय मूई, अंगुलिभमुहा य वारूणी पेहा।
एए काउस्सग्गे हवंति, दोसा इगुणवीसं॥
प्रवचनसारोद्धार, 5/247-261

32. घोडग लदा य खंभे, कुड्डे माले सवरवधू णिगले।
लंबुत्तरथण दिट्ठी, वायस खलिणे जुग य कविट्ठे ॥
सीसपकंपिय मुइयं, अंगुलि भूविकार वारूणी पेयी।
काओसग्गेण ठिदो, एदे दोसे परिहरेज्जो ॥
आलोयणं दिसाणं, गीवाउण्णामगं पणमगं च।
णिट्ठीवणंगमरिसो, काउसग्गह्मि वज्जिज्जो ॥

मूलाचार, 7/670-672

33. अन्नत्थसूत्र, प्रबोधटीका, भा. 1 पृ. 128-129 के आधार पर
34. प्रबोध टीका, भा. 1, पृ. 118 टिप्पण के आधार पर
35. पाचीणोदीचिमुहो चेदि, महुत्तो व कुणदि एगंते।
आलोयणपत्तीयं, काउसग्गं अणाबाधे ॥

भगवतीआराधना, गा. 552

36. निक्कूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च।
खाणुव्व उद्धदेहो, काउसग्गं तु ठाइज्जा ॥
चउरंगुल मुहपत्ती, उज्जुए डब्बहत्थ रयहरणं।
वोसट्ठ चत्तदेहो, काउसग्गं करिज्जाहि ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, 1541-1545

37. आवश्यकसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 48
38. भगवती आराधना, गा. 118 की टीका, पृ. 162
39. पायसमा ऊसासा, काल-पमाणेण हुंति नायव्वा।
एयं काल-पमाणं, उस्सग्गेणं तु नायव्वं ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, 1539

40. सायं सायं गोसऽद्धं, तिन्नेव सया हवंति पक्खंमि।
पंच य चाउम्मासे, अट्ठसहस्सं च वारिसए ॥
चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्ता य हुंति उज्जोआ।
देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य ॥

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, 1530-1531

(ख) प्रवचनसारोद्धार, 3/183-185

41. (क) सायाह्ने उच्छ्वासशतकं प्रत्यूषसि पंचाशत, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षुमासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानाम्।

भगवती आराधना, गा. 118 की विजयोदया टीका, पृ. 162

(ख) मूलाचार, 7/659-660

42. *आवश्यकनिर्युक्ति, 1530-1531*

43. *गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ।*
नावानइसंतारे, इरियावहियापडिक्कमणं ॥
उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुन्नवणियाए।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणपडिक्कमणमाई ॥
जुज्जइ अकालपढियाइएसु, दुदट्ठु अ पंडिच्छियाईसु।
समणुन्नसमुद्देसे, काउस्सग्गस्स करणं तु ॥
वही, 1533-1535

44. *पाणवहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव।*
सयमेगं तु अणूणं, ऊसासाणं हविज्जाहि ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1538
(ख) मूलाचार, 7/661-663

45. *मेहुणे दिट्ठीविप्परियासियाए सतं, इत्थीए सह अट्ठसयं। आयंबिल विसज्जणे विगयविसज्जणे य सत्तावीसं, उवस्सयदेवयाए य सत्तावीसं, कालग्गहणे पट्ठवणे य अणेसणाए पडिक्कमणे अट्ठ उस्सासा।*
आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 267, 266

46. *सव्वेसु खलियादिसु, झाएज्जा पंचमंगलं।*
दो सिलोगे व चिंतेज्जा, एगग्गो वावि तक्खणं ॥
बितियं पुण खलियादिसु, उस्सासा 'तह य होंति' सोलसया।
ततियम्मि उ बत्तीसा, चउत्थए न गच्छते अन्नं ॥
व्यवहारभाष्य, पीठिका गा. 117-118

47. *आचारदिनकर, भा. 2, पत्र 312*

48. *अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।*
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः ॥
सप्तविंशतिरूच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पंच नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥
अमितगति श्रावकाचार, 8/68-69

49. *(क) अमितगति श्रावकाचार, 8/66-67*
(ख) अनगार धर्मामृत, 8/75
(ग) मूलाचार, गा. 7/602 का भावार्थ, पृ. 442

50. भगवती आराधना, गा. 118 की टीका, पृ. 162
51. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/39-52
52. अभिक्खणं काउस्सगकारी। दशवैकालिकसूत्र चूलिका, 2/7
53. समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य:, साक्षं चेत: प्रशान्त धी: ।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते, स प्रत्याहार उच्यते ॥
नि:संग: संवृतस्वान्त:, कूर्मवत्संवृतेन्द्रिय: ।
यमी समत्वमापन्नो, ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ॥
गोचरेभ्यो हृषीकाणि, तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् ।
पृथक्कुत्य वशी धत्ते, ललाटेऽत्यन्त निश्चलम् ॥
सम्यकसमाधिसिद्धयर्थं, प्रत्याहार: प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्तं, मन: स्वास्थ्यं न विन्दति ॥
प्रत्याहृतं पुन: स्वस्थं, सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चेत: समत्वमापन्नं, स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥
ज्ञानार्णव, 30/1-5
54. इन्द्रियै: सममाकृष्य, विषयेभ्य: प्रशान्त धी: ।
धर्मध्यान कृते पश्चान्मन: कुर्वीत निश्चलम् ॥
योगशास्त्र, प्रकाश 6/6
55. आवश्यकनिर्युक्ति, 1466
56. तब होता है ध्यान का जन्म, पृ. 3
57. प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 103-104
58. प्रज्ञा की परिक्रमा, पृ. 64
59. वही, पृ. 76
60. वही, पृ. 76
61. वही, पृ. 64
62. वही, पृ. 100
63. वही, पृ. 80
64. भगवती आराधना, गा. 1182 की विजयोदया टीका, पृ. 597-98
65. संगत्याग: कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोक्षाणां जयश्चेति, सामग्री ध्यान जन्मनि ॥
तब होता है ध्यान का जन्म, पृ.1
66. ध्यान: एक दिव्य साधना, पृ. 217
67. प्रज्ञा की परिक्रमा, पृ. 62-63

68. वही, पृ. 63
69. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1507
70. आलोचनादिना पुनः संस्करणमित्यर्थः। उद्धृत–प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 96
71. आवश्यकनिर्युक्ति, 1508
72. चैत्यवंदनमहाभाष्य, 386
73. प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 97
74. चैत्यवंदनमहाभाष्य, 387
75. जिनवाणी– प्रतिक्रमण विशेषांक, पृ. 210
76. काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?
काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं...सुहंसुहेणं विहरइ ॥
उत्तराध्ययनसूत्र, 29/13
77. देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं, एगग्गो काउस्सग्गम्मि ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1462
मणसो एगग्गत्तं जणयइ, देहस्स हणइ जड्डत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव ॥
(ख) व्यवहारभाष्य, पीठिका, गा. 125
78. काओसग्गह्मि कदे जह, भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मरयं, काउस्सग्गस्स करणेण ॥
मूलाचार, 7/668
79. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 245, 246
80. वही, पृ. 246
81. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1537
82. काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं।
उत्तराध्ययनसूत्र, 26/50
83. आवश्यकनिर्युक्ति, 1553-1554
84. वही, 1551
85. मूलाचार, 7/654 की टीका
86. वही, 7/655-656
87. चरणाईयाराणं जहक्कमं, वण-तिगिच्छ रूवेणं।
पदिक्कमणासुद्धाणं, सोही तह काउस्सग्गेणं1॥

चतुःशरण प्रकीर्णक, गा. 6

88. *जिनवाणी, प्रतिक्रमण विशेषांक, पृ. 214*
89. *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 406*
90. *जिनवाणी, पृ. 213*
91. *वही, पृ. 221*
92. *वही, पृ. 221*
93. *तत्त्वार्थसूत्रराजवार्तिक, 9/26, पृ. 624-625*
94. *सामायिक पाठ, आचार्य अमितगति, श्लो. 2*
95. *ममत्वं देहतो नश्येत्, कायोत्सर्गेण धीमताम् ।*
    निर्ममत्वं भवेन्नूनं, महाधर्मसुखाकरम् ॥
    प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 18/185
96. *श्रमणसूत्र, पृ. 97-98 के आधार पर*
97. *वासीचंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य समसण्णो ।*
    देहे य अपडिबद्धो, काउसग्गो हवइ तस्स ॥
    आवश्यकनिर्युक्ति, 1548
98. *जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारी ।*
    सुहधोवणादि-विरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो ॥
    ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो ।
    देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तओ तस्स ॥
    कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 465-466
99. *शिष्य को धार्मिक अनुष्ठान क्रियाएँ गुरु की आज्ञा पूर्वक करनी चाहिए। इसलिए प्रत्येक क्रिया करते हुए शिष्य विनय पूर्वक ऐसे शब्दों द्वारा अनुमति मांगता है और गुरु विद्यमान हो, तो 'पडिक्कमेह' आदि प्रसंगोचित प्रतिवचन द्वारा संमति प्रदान करते हैं, तब शिष्य 'इच्छं' शब्द द्वारा गुर्वाज्ञा को स्वीकार करके क्रिया करते हैं। प्रबोध टीका, भा. 1 पृ. 77-130*
100. *जिनवाणी, पृ. 218*
101. *बोधिचर्यावतार, 3/12-13*

●

अध्याय-7

प्रत्याख्यान आवश्यक का शास्त्रीय अनुचिन्तन

प्रत्याख्यान षडावश्यक का छठा अंग है। इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्त्तव्य है। इस दुर्लभ मानव तन को समग्र रूप से सार्थक करने हेतु जीवन में त्याग होना अत्यन्त जरूरी है। इस रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग भी माना जा सकता है। मोक्षमार्ग में श्रमण एवं गृहस्थ के लिए कुछ नित्य कर्मों का प्रावधान है उनमें आत्मशुद्धि के लिए प्रत्याख्यान का समावेश भी किया गया है। अतः प्रत्याख्यान मोक्षाभिलाषी साधकों का दैनिक आचार है। तत्त्वतः भविष्य काल में होने वाले पाप कर्मों से निवृत्त होने के लिए गुरु साक्षी या आत्मसाक्षी पूर्वक हेय वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ विनियोग

• प्रत्याख्यान का सामान्य अर्थ है– त्याग करना, प्रवृत्ति को मर्यादित करना, सीमित करना।

• प्रत्याख्यान का तत्त्व मीमांसीय अर्थ है– आस्रव का निरोध करना अथवा जिन प्रवृत्तियों से दुष्कर्मों का आगमन हो, वैसी क्रियाओं का त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।

• प्रत्याख्यान शब्द की रचना 'प्रति' + 'आङ्' उपसर्ग, 'ख्या' धातु एवं 'ल्युट्' (अनट्) प्रत्यय– इन चार के संयोग से हुई है। इसका स्पष्टार्थ है कि भविष्यकाल के प्रति, मर्यादा के साथ, अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।

• भाष्यकार जिनभद्रगणी ने 'प्रति' शब्द का अर्थ-निषेध एवं 'आख्यान' का अर्थ-ख्यापना अथवा आदरपूर्वक आख्यान करना, ऐसा किया है। इस व्याख्या के अनुसार प्रतिषेध का आख्यान करना प्रत्याख्यान अथवा निवृत्ति है।[1]

• टीकाकारों ने इसकी व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार मन, वचन और काया के द्वारा जो अनिष्टकारक

अथवा बंधन कारक प्रवृत्ति का निषेध किया जाता है वह प्रत्याख्यान है।[2] दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके विषय में जिसका प्रतिषेध किया जाता है वह प्रत्याख्यान है।[3]

• आचार्य हेमचन्द्र प्रत्याख्यान का निरूक्तिपरक अर्थ करते हुए कहते हैं– विरुद्ध भाव में कथन करना अथवा 'प्रति' प्रतिकूल भाव से, 'आ' मर्यादा पूर्वक, 'ख्यान' कहना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी वस्तु का प्रतिकूल भाव से अमुक कथन करना, प्रत्याख्यान है।[4]

• आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार अविरति और असंयम के प्रति प्रतिकूल रूप में, आ – मर्यादा स्वरूप आकार के साथ, आख्यान – प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है।[5]

स्पष्ट है कि आत्म विरुद्ध प्रवृत्तियाँ न करने का संकल्प करना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान की मौलिक परिभाषाएँ

अमुक समय के लिए या यावज्जीवन के लिए किसी वस्तु का त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। जैन चिन्तकों ने इस संदर्भ में अनेक परिभाषाएँ दी है–

श्री यशोदेवसूरि प्रत्याख्यान स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि अविरति के प्रतिकूल और विरति भाव के अनुकूल सम्यक कथन करना प्रत्याख्यान है।[6]

आचार्य वट्टकेर प्रत्याख्यान का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं कि पाप के आस्रव में कारणभूत अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है अथवा भविष्यकाल और वर्तमान काल में अयोग्य नाम, स्थापना आदि छहों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।[7]

राजवार्तिककार ने इसकी सूक्ष्म व्याख्या करते हुए दर्शाया है कि भविष्यकाल में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न न हो, उसके लिए कटिबद्ध होना, सम्यक् पुरुषार्थ में संलग्न हो जाना प्रत्याख्यान है।[8] धवला टीकाकार के उल्लेखानुसार महाव्रत रूपी मूल गुणों का विनाश न हो एवं मलिन भावों का उत्पादन न हो, इस हेतु से मनोयोग द्वारा पूर्वकृत सर्व दोषों की आलोचना करके

चौरासी लाख व्रतों को शुद्ध रखने की प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है।[9]

आचार्य कुन्दकुन्द प्रत्याख्यान का बाह्य स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि मुनि के द्वारा दिन में भोजन कर लेने के पश्चात योग्य काल पर्यन्त अशन, पान, खाद्य और लेह्य रुचि का त्याग करना, प्रत्याख्यान है।[10]

उपर्युक्त व्याख्याएँ लगभग व्यवहार नय की अपेक्षा से है। आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार में इसका निश्चय स्वरूप दिखलाते हुए कहा गया है कि जिस भाव के द्वारा भविष्य काल का शुभ एवं अशुभ कर्म बंधता है, उस भाव से आत्मा का निवृत्त होना, परमार्थ प्रत्याख्यान है।[11]

नियमसार में बताया गया है कि समस्त जल्प (विशाद) का परित्याग करना और अनागत शुभ एवं अशुभ का निवारण करके आत्म स्वरूप का ध्यान करना प्रत्याख्यान है। इसी के साथ जो निज भाव का परित्याग नहीं करता और किंचित भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है, 'वह मैं हूँ'– इस प्रकार का चिंतन करना भी प्रत्याख्यान है।[12] इस चिंतन के द्वारा देहत्व भाव न्यून होता है, देहासक्ति में मन्दता आती है अत: देह ममत्व के त्याग रूप प्रत्याख्यान होता है।

आचार्य अमितगति ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है कि जो महापुरुष समस्त कर्म जनित विकारी भावनाओं से रहित आत्म स्वरूप का दर्शन करते हैं उनके द्वारा पापास्रव के हेतुओं का त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।[13]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पापजन्य क्रियाओं का वर्जन कर सुकृत में प्रयत्नशील रहना अथवा आत्म परिणामों में सुस्थिर होना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान के पर्याय

प्रत्याख्यान के पर्याय शब्द अनेक हैं। प्रबोध टीका के अनुसार प्रत्याख्यान, नियम, अभिग्रह, विरमण, व्रत, विरति, आस्रव द्वार, निरोध, चारित्रधर्म, शील और निवृत्ति– ये एकार्थक शब्द हैं।[14] आगम सूत्रों में जहाँ नियम की प्रशंसा की गई हो, अभिग्रह का अनुमोदन किया गया हो, विरमण व्रत या विरति का माहात्म्य प्रकाशित किया गया हो, आस्रव द्वार के निरोध करने का कथन किया गया हो, निवृत्ति पर बल दिया गया हो, चारित्र धर्म का उपदेश दिया गया हो अथवा शील का माहात्म्य समझाया गया हो, वहाँ प्रत्याख्यान का स्वरूप वर्णन साथ ही किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

पंचाशकप्रकरण में प्रत्याख्यान, नियम और चारित्र धर्म– इन तीन शब्दों को एकार्थवाची कहा गया है।[15] धवला टीकाकार ने प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत– इन तीन पदों को नामान्तर कहा है।[16] स्पष्ट है कि त्याग रूप प्रवृत्ति करना अथवा बंधन रूप चेष्टाओं का परिहार करना प्रत्याख्यान है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रत्याख्यान को 'गुणधारण' कहा गया है, जिसका आशय व्रत रूपी गुणों को धारण करना है। आवश्यक टीका में गुणधारण शब्द का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसे मूलगुण और उत्तरगुण रूप प्रत्याख्यान बतलाया है।

प्रत्याख्यान के प्रकार

परित्याग करने की प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है। जैन ग्रन्थों में प्रत्याख्यान अनेक प्रकार का बतलाया गया है।

द्विविध प्रत्याख्यान– जैन महर्षियों ने प्रत्याख्यान के मुख्य दो प्रकार माने हैं– 1. द्रव्य प्रत्याख्यान और 2. भाव प्रत्याख्यान। जो प्रत्याख्यान आत्मिक उल्लास से रहित होता है अथवा आहार, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का किंचिद् त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। आत्मिक उल्लासपूर्वक ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान अथवा अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि वैभाविक वृत्तियों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

इन द्विविध प्रत्याख्यान में भाव-प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि वह सम्यक् चारित्र रूप होने से अवश्य ही मुक्ति का साधन बनता है। यद्यपि भाव प्रत्याख्यान का अधिकारी बनने के लिए प्रारम्भ में द्रव्य-प्रत्याख्यान का आश्रय लेना आवश्यक है। वस्तुत: द्रव्य त्याग भाव त्याग पर ही आधारित है। द्रव्य त्याग तभी प्रत्याख्यान की कोटि में गिना जाता है जब वह राग-द्वेष रूप कषाय भाव को मन्द करने के लिए एवं ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति के निमित्त किया जाए। जो द्रव्य त्याग-भावपूर्वक नहीं होता है तथा भाव त्याग के उद्देश्य से नहीं किया जाता है उससे किसी भी दशा में अंश मात्र भी आत्मिक गुणों का विकास नहीं हो सकता है, प्रत्युत कभी-कभी तो मिथ्याभिमान एवं बाह्य प्रदर्शन के कारण वह अध:पतन का कारण भी बन जाता है। इसलिए भाव-प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद वर्णित हैं। भाव-प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं– श्रुत प्रत्याख्यान और नोश्रुत प्रत्याख्यान।

श्रुत प्रत्याख्यान दो प्रकार का निर्दिष्ट है– 1. पूर्वश्रुत– नवाँ प्रत्याख्यान पूर्व 2. नोपूर्वश्रुत– आवश्यकसूत्र का छटवाँ प्रत्याख्यान अध्ययन, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि। नोश्रुत प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है–

1. मूलगुण प्रत्याख्यान और 2. उत्तरगुण प्रत्याख्यान।[17] नैतिक जीवन के विकास हेतु मुख्य व्रतों का ग्रहण करना, मूल गुण प्रत्याख्यान है। मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं– (i) सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान– मुनि जीवन के पाँच महाव्रतों की प्रतिज्ञा करना, सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। (ii) देशमूलगुण प्रत्याख्यान– गृहस्थ जीवन के पाँच अणुव्रतों की प्रतिज्ञा करना, देशमूलगुण प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान नियत कालिक एवं यावज्जीवन दोनों तरह से ग्रहण किया जाता है नैतिक जीवन के विकास हेतु सहायक व्रतों का ग्रहण करना, उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान कुछ दिनों के लिए अथवा प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं–

(i) सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान-अनागत, अतिक्रान्त आदि दस प्रकार का प्रत्याख्यान करना, सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। इस कोटि का प्रत्याख्यान 'दस प्रत्याख्यान' के नाम से भी प्रसिद्ध है। उक्त दस प्रत्याख्यानों में सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान विशेष प्रचलित हैं, क्योंकि इन दो प्रत्याख्यानों की योजना भव्य जीवों के न्यूनाधिक सामर्थ्य की अपेक्षा की गई है। किसी जीव का सामर्थ्य न हो या कठिन प्रत्याख्यान न कर सकें तो वह सर्वप्रथम अंगुठ-सहियं, मुट्ठि-सहियं आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान प्रारम्भ करें। सामान्य प्रत्याख्यान करते हुए अभ्यस्त हो जाए, तब नमुक्कारसी, पौरुषी, साढपौरुषी, पुरिमड्ढ और अवड्ढ प्रत्याख्यान ग्रहण करें। इन प्रत्याख्यानों का सम्यक् अभ्यास हो जाए, तदुपरान्त एकासन, एकलठाणा और आयंबिल के प्रत्याख्यान का अभ्यास करें। फिर यथाशक्ति विकृत पदार्थों के सेवन करने का त्याग करें। तत्पश्चात उपवास, बेला, तेला आदि कठिन तपस्या सरलता पूर्वक की जा सकती है। यह प्रत्याख्यान श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए कहा गया है।

(ii) देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान- गृहस्थ के तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों के परिपालन की प्रतिज्ञा करना, देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। आवश्यक भाष्य के अनुसार उत्तरगुण प्रत्याख्यान के निम्न दो प्रकार भी हैं-

(i) इत्वरिक- साधु के नियतकालिक अभिग्रह आदि तथा श्रावक के चार शिक्षाव्रत आदि इत्वरिक प्रत्याख्यान है।

(ii) यावत्कथिक- साधु का नियंत्रित प्रत्याख्यान यावत्कथिक है, क्योंकि दुर्भिक्ष आदि में भी इस प्रत्याख्यान का पालन किया जाता है तथा श्रावक के तीन गुणव्रत यावत्कथिक प्रत्याख्यान है।[18]

षड्विध प्रत्याख्यान- अन्य आवश्यकों के समान निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह भेद हैं[19]-

1. नाम प्रत्याख्यान- अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं अत: उस नाम का उच्चारण मैं नहीं करूंगा, इस प्रकार का संकल्प करना अथवा किसी का प्रत्याख्यान नाम रख देना नाम प्रत्याख्यान है।

2. स्थापना प्रत्याख्यान- सरागी देवों की पूजा नहीं करूंगा अथवा जो मूर्तियाँ पाप-बन्ध की हेतु हैं और मिथ्यात्व आदि की प्रवर्त्तक हैं उनकी स्थापना नहीं करूंगा, ऐसा मानसिक संकल्प अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि आदि का प्रतिबिम्ब, जो तदाकार हो या अतदाकार वह स्थापना प्रत्याख्यान है।

3. द्रव्य प्रत्याख्यान- अयोग्य आहार एवं दोषयुक्त उपकरणादि ग्रहण न करने का संकल्प करना अथवा प्रत्याख्यान शास्त्र का ज्ञाता और उसके उपयोग से रहित जीव द्रव्य प्रत्याख्यान है।

4. क्षेत्र प्रत्याख्यान- अयोग्य, अनिष्ट, संक्लेश भावोत्पादक एवं संयम की हानि करने वाले क्षेत्र का परिहार करना अथवा प्रत्याख्यानधारी मुनि के द्वारा विचरण किए गए प्रदेश में प्रवेश करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

5. काल प्रत्याख्यान- जिस काल में चारित्र आदि मूलगुणों एवं विविध कोटि के प्रत्याख्यान आदि उत्तरगुणों का नाश होता हो उस काल का अथवा उस काल में होने वाली क्रियाओं के त्याग का संकल्प करना अथवा प्रत्याख्यान धारी मुनि के द्वारा सेवित काल का स्मरण करना काल प्रत्याख्यान है।

6. भाव प्रत्याख्यान- मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि अशुभ परिणाम का मन-वाणी एवं शरीर से परिहार करना अथवा भाव प्रत्याख्यान शास्त्र के

ज्ञाता का, उसके ज्ञान का अथवा उसके आत्म प्रदेशों का स्मरण करना भाव प्रत्याख्यान है। भाव प्रत्याख्यान के अनेकश: भेद हैं।

दशविध प्रत्याख्यान– पूर्वनिर्दिष्ट सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान दस प्रकार का बतलाया गया है। उसका स्वरूप वर्णन इस प्रकार है[20]–

1. अनागत– आगामी काल में किए जाने वाले उपवास आदि विशिष्ट तप पहले कर लेना। जैसे पर्यूषण पर्व में करने योग्य तेला आदि तप शासन सेवार्थ अथवा कर्त्तव्य निर्वाहनार्थ पर्यूषण से पूर्व कर लेना। मूलाचार टीका के अनुसार चतुर्दशी आदि में करने योग्य तपश्चर्या को त्रयोदशी आदि में पहले ही कर लेना, अनागत प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के इस भेद में निर्धारित समय आने से पहले ही अमुक प्रत्याख्यान का पालन कर लिया जाता है इसलिए इसका नाम न + आगत = अनागत प्रत्याख्यान है।

2. अतिक्रान्त– अमुक दिन में करणीय या पर्वतिथि में करणीय तप को पर्व तिथि के बाद करना। जैसे– पर्यूषण पर्व में करने योग्य तपश्चर्या को कारणवशात पर्युषण आदि व्यतीत होने के पश्चात करना, अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है।

निर्धारित समय का अतिक्रमण होने के बाद इस प्रत्याख्यान का पालन किया जाता है अत: इसका नाम अतिक्रान्त है।

3. कोटिसहित– कोटि का अर्थ है– कोण। पहले दिन आयंबिल का प्रत्याख्यान कर, दूसरे दिन पुन: आयंबिल करना– इस प्रकार प्रथम दिन के आयंबिल का पर्यन्त कोण एवं दूसरे दिन के आयंबिल का आरम्भ कोण दोनों कोणों के मिलने से इसको कोटिसहित तप कहा जाता है। अथवा प्रथम दिन आयंबिल, दूसरे दिन कोई अन्य तप और तीसरे दिन फिर आयंबिल करना कोटिसहित तप कहलाता है।[21] प्रवचनसारोद्धार आदि के अनुसार जिसमें दो तप के छोर मिलते हो, अथवा एक प्रत्याख्यान का अन्तिम दिन और दूसरे प्रत्याख्यान का प्रारम्भिक दिन हो अथवा पूर्व गृहीत नियम की अवधि पूर्ण होने पर बिना व्यवधान के पुन: तप विशेष की प्रतिज्ञा ग्रहण करना, कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे– उपवास के पारणा दिन में दूसरे उपवास का प्रत्याख्यान करना अथवा उपवास के पारणा दिन में आयंबिल, नीवि आदि का प्रत्याख्यान करना, इस प्रकार सम कोटि या विषम कोटि का प्रत्याख्यान करना, कोटिसहित कहलाता है।

दिगम्बर मान्य मूलाचार में इस प्रत्याख्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि शक्ति आदि की अपेक्षा संकल्प सहित उपवास करना, जैसे- दूसरे दिन प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर देह सामर्थ्य रहा तो उपवास आदि करूंगा, यदि शारीरिक बल न रहा तो नहीं करूंगा, इस प्रकार का संकल्प करके प्रत्याख्यान करना, कोटिसहित प्रत्याख्यान है।[22]

4. **नियन्त्रित–** स्वस्थ रहूँ या रूग्ण किसी भी स्थिति में 'मैं अमुक प्रकार का तप अमुक-अमुक दिन अवश्य करूंगा' इस प्रकार के संकल्पपूर्वक प्रत्याख्यान करना, नियन्त्रित प्रत्याख्यान है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी के अनुसार जिसमें पूर्व संकल्पित तप किसी भी स्थिति में निश्चित रूप से किया जाता है, वह नियन्त्रित प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान में स्वस्थता हो या रुग्णता, अपवाद विधि का सेवन नहीं किया जाता है। यह प्रत्याख्यान चौदहपूर्वी, जिनकल्पी एवं प्रथम संहननधारी मुनियों के समय प्रवृत्त था।

तात्पर्य है कि चौदहपूर्वी आदि मुनिगण ही इस प्रत्याख्यान का पालन कर सकते हैं। पूर्वकाल में स्थविर मुनि भी इस प्रत्याख्यान के अधिकारी होते थे। वर्तमान में यह प्रत्याख्यान विलुप्त हो गया है।[23] दिगम्बर साहित्य में इस प्रत्याख्यान का नाम विखण्डित है, पर दोनों में अर्थ भेद नहीं है।

5. **साकार–** आकार अर्थात मर्यादा या अपवाद सहित प्रत्याख्यान करना। जैसे- अमुक प्रकार की स्थिति नहीं बनेगी तो आहार आदि का त्याग रखूंगा, अन्यथा परित्यक्त आहार आदि का सेवन करूंगा, इस तरह अपवाद पूर्वक संकल्पित प्रत्याख्यान करना, साकार प्रत्याख्यान है।

6. **अनाकार–** किसी तरह का अपवाद रखे बिना नियम आदि ग्रहण करना, अनाकार प्रत्याख्यान है।

टीकाकार अभयदेवसूरि के मतानुसार साकार प्रत्याख्यान में सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार में लाये जा सकते हैं, परन्तु अनाकार प्रत्याख्यान में अनाभोग और सहसाकार- ये दो आगार ही ग्राह्य हैं, क्योंकि इन अपवादों का सेवन इच्छापूर्वक नहीं होता, पर अकस्मात होता है।

दिगम्बराचार्य वट्टकेर के अनुसार 'अमुक नक्षत्र में अमुक तपस्या करूंगा' इस संकल्प से नक्षत्र आदि भेद के आधार पर दीर्घकालीन तपस्या करना,

साकार प्रत्याख्यान है तथा नक्षत्र आदि की अपेक्षा के बिना स्व रूचि से कभी भी उपवास आदि तप करना, अनाकार प्रत्याख्यान है।[24]

7. परिमाणकृत– दत्ति, कवल, भिक्षा, गृह, द्रव्य आदि के परिमाण (मात्रा) पूर्वक आहार आदि का त्याग करना, परिमाणकृत प्रत्याख्यान है।

दत्ति प्रमाण– हाथ या पात्र में से जो भिक्षा सतत धाराबद्ध गिरे, वह एक दत्ति कहलाता है। भिक्षा देते हुए बीच में से धार टूट जाये और पुनः गिरे यह दूसरी दत्ति कहलाती है। इस प्रकार आहार पानी के विषय में दत्ति का परिमाण करना दत्ति परिमाण प्रत्याख्यान है।

कवल प्रमाण– छोटा नीबू-परिमाण जितना ग्रास अथवा जितना ग्रास आसानी से मुँह में समा सके अथवा जिसे खाने पर मुख विकृत न बने उतना भोजन पिण्ड कवल कहलाता है। अमुक कवल परिमाण आहारादि ग्रहण करना, कवल परिमाण प्रत्याख्यान है। सामान्यतः पुरुष का आहार बत्तीस कवल परिमाण और स्त्री का आहार अट्ठाईस कवल परिमाण माना गया है। पुरुष के 1-2-3 से इकतीस ग्रास तक और स्त्री के 1-2-3 से सत्ताईस ग्रास तक कवल परिमाण प्रत्याख्यान होता है।

गृह प्रमाण– अमुक या इतने घर से ही आहार आदि ग्रहण करना, गृह परिमाण प्रत्याख्यान है।

भिक्षा प्रमाण– संसृष्ट आदि भिक्षा का परिमाण करना, भिक्षा परिमाण प्रत्याख्यान है।

द्रव्य प्रमाण– अमुक द्रव्य ही ग्रहण करना, द्रव्य परिमाण कृत प्रत्याख्यान है। दिगम्बर मूलाचार में इस प्रत्याख्यन का नाम परिमाणगत है।

8. निरवशेष– अशन, पान, खादिम और स्वादिम– इन चतुर्विध आहार का सम्पूर्ण त्याग करना, निरवशेष प्रत्याख्यान है।

9. साकेत– इस प्रत्याख्यान शब्द के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं–

प्रथम अर्थ के अनुसार केत अर्थात घर, जो घर में रहता है ऐसे गृहस्थ के योग्य प्रत्याख्यान साकेत प्रत्याख्यान कहलाता है। यह अर्थ केवल गृहस्थ से सम्बन्धित है।

द्वितीय अर्थ के अनुसार केत अर्थात चिह्न। अंगूठा, मुट्ठि, गांठ आदि चिह्नों का संकल्प करके किया जाने वाला प्रत्याख्यान सांकेतिक प्रत्याख्यान कहलाता है। यह अर्थ साधु और गृहस्थ दोनों के विषय में लागू होता है।

दिगम्बर परम्परा में नौवाँ प्रत्याख्यान 'अध्वानगत' माना गया है, जिसका अर्थ– जंगल या नदी आदि को पार करने के प्रसंग में उपवास आदि का संकल्प करना है।

10. अद्धा– अद्धा का अर्थ है काल, मुहूर्त्त, समय। पौरूषी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान, अद्धा प्रत्याख्यान है।[25]

दिगम्बर मत में दसवें प्रत्याख्यान का नाम सहेतुक है। उसका अर्थ– उपसर्ग आदि के निमित्त उपवास आदि करना है।

तुलना– श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य दस प्रत्याख्यान के नाम एवं स्वरूप को लेकर किंचिद् वैषम्य है। स्वरूपगत अन्तर पूर्व विवरण के साथ स्पष्ट कर चुके हैं। नाम सम्बन्धी अन्तर इस प्रकार है– श्वेताम्बर मतानुसार चौथा नियन्त्रित, सातवाँ परिमाणकृत, नौवाँ संकेत और दसवाँ अद्धा प्रत्याख्यान है किन्तु दिगम्बर मतानुसार चौथा निखण्डित, सातवाँ परिमाणगत, नौवाँ अध्वानगत और दसवाँ सहेतुक प्रत्याख्यान है।

सांकेतिक प्रत्याख्यान

संकेत या चिह्न विशेष पूर्वक ग्रहण किया जाने वाला प्रत्याख्यान सांकेतिक कहलाता है। सामान्यतया नमुक्कारसी, पौरुषी आदि प्रत्याख्यान का समय पूर्ण हो जाने पर भी मुँह धोने में विलम्ब हो, तब यह प्रत्याख्यान किया जाता है। यह आठ प्रकार से होता है अथवा इस प्रत्याख्यान में निम्न संकेतों का आश्रय लिया जाता है।

1. अंगुट्ठ सहियं– जब तक मुट्ठि में अंगूठा रहे तब तक आहार पानी का त्याग है अथवा जब तक मुट्ठि में अंगूठा डालकर उसे पुन: अलग न कर दूं, तब तक मुँह में कुछ भी नहीं डालूंगा इस प्रकार का संकल्प करना अंगुष्ठ संकेत प्रत्याख्यान है। वर्तमान में ऊपर वर्णित दूसरा अर्थ अधिक प्रचलित है।

2. मुट्ठि सहियं– जब तक मुट्ठि बाँधकर रखूं तब तक आहार-पानी का त्याग है अथवा जब तक मुट्ठि बाँधकर पुन: खोल न दूं तब तक चतुर्विध आहार का सेवन नहीं करूंगा, इस प्रकार का मानसिक संकल्प करना मुट्ठिसहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

3. गंट्ठि सहियं– जब तक वस्त्र या डोरी आदि में गाँठ बाँधकर खोल न दूं, तब तक किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना गंट्ठिसहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

4. घर सहियं– जब तक घर में प्रवेश न करूं तब तक आहार पानी का सेवन नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, घरसहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

5.स्वेद सहियं– जब तक पसीना सूख न जाये, तब तक चारों आहार का त्याग है ऐसी प्रतिज्ञा करना, स्वेदसहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

6. उच्छ्वास सहियं– जब तक इतने उच्छ्वास न हो जाये, तब तक चतुर्विध आहार का उपभोग नहीं करूंगा, ऐसा मानसिक संकल्प करना उच्छ्वास सहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

7. थिबुकसहियं– जब तक अमुक पात्रों पर लगे हुए पानी के बिंदु सूख न जाये, तब तक किसी आहार का सेवन नहीं करूंगा, ऐसा संकल्प करना थिबुकसहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

8. दीपक सहियं– जब तक दीपक प्रज्वलित रहे, तब तक मुँह में कुछ भी नहीं डालूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, दीपक सहियं संकेत प्रत्याख्यान है।

उपरोक्त कोई भी सांकेतिक प्रत्याख्यान भग्न हो जाये तो गुरु से उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए।[26]

विशेष– संकेत प्रत्याख्यान एक अथवा तीन नमस्कार मन्त्र गिनकर पूर्ण करना चाहिए। उसके पश्चात भोजन करके पुनः कोई भी संकेत प्रत्याख्यान ग्रहण कर सकते हैं और इस तरह बार-बार संकेत प्रत्याख्यान धारण करने से भोजन काल के अतिरिक्त शेष काल विरतिभाव में गिना जाता है।

प्रतिदिन एकासन करने वाले को यह प्रत्याख्यान करने से एक महीने में लगभग 29 उपवास और बीयासन करने वाले को लगभग 28 उपवास जितना लाभ मिलता है।

नवकारसी आदि छूटा प्रत्याख्यान करने वाले श्रावक के द्वारा यह प्रत्याख्यान बार-बार किया जाए तो विपुल मात्रा में विरति भाव का लाभ प्राप्त होता है।

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार सांकेतिक प्रत्याख्यान नवकारसी आदि प्रत्याख्यान के साथ भी ले सकते हैं और अलग से भी किए जा सकते हैं। मुनियों के लिए भी यह प्रत्याख्यान हैं। जैसे पोरिसी आदि के प्रत्याख्यान का समय पूर्ण हो चुका है, किन्तु गुरु उस समय तक मंडली में न आए हों अथवा धर्मसभा आदि के कारण आहार करने में विलम्ब हो तो बिना प्रत्याख्यान के एक क्षण भी व्यर्थ न चला जाए अतः साधु-साध्वी भी अंगुट्ठ सहियं आदि का प्रत्याख्यान करते हैं।[27]

अद्धा प्रत्याख्यान

समय विशेष की निश्चित मर्यादापूर्वक ग्रहण किया जाने वाला प्रत्याख्यान अद्धा कहलाता है। अद्धा शब्द कालवाची है अत: इसे कालिक प्रत्याख्यान भी कहते हैं। यह प्रत्याख्यान निम्न दस प्रकार से किया जाता है–

1. नमस्कारसहित (नवकारसी) 2. पौरूषी 3. पुरिमार्ध-अपार्ध 4. एकासन 5. एकस्थान (एकलठाणा) 6. आचाम्ल (आयंबिल) 7. अभक्तार्थ (उपवास) 8. चरिम प्रत्याख्यान 9. अभिग्रह और 10 निर्विकृति।[28]

1. **नवकारसी–** सूर्योदय से लेकर 48 मिनट (दो घड़ी) के पश्चात तीन नमस्कारमंत्र का स्मरण करके भोजन-पानी ग्रहण करना, नवकारसी प्रत्याख्यान है।

2. **पौरूषी–** प्रात:काल में पुरुष की छाया स्वयं के देह परिमाण जितनी आ जाए उतने समय तक खाद्य-पेय पदार्थों का उपयोग नहीं करना अथवा सूर्योदय से एक प्रहर तक चारों आहार का त्याग करना, पौरूषी प्रत्याख्यान है।

3. **पुरिमार्ध (पुरिमड्ढ)–** दिन के पूर्व का आधा भाग अर्थात प्रारम्भिक दो प्रहर तक अशन आदि चारों आहार का त्याग करना, पुरिमार्ध प्रत्याख्यान है।

अपार्ध (अवड्ढ)– दिन के अन्तिम भाग का आधा भाग अर्थात दिन के तीन प्रहर तक अशन आदि चारों आहार का त्याग कर देना, अपार्ध प्रत्याख्यान है।

4. **एकाशन–** एक + अशन = दिन में एक बार भोजन करना एकाशन कहलाता है अथवा एक + आसन = एक निश्चल आसन से भोजन करना एकासन प्रत्याख्यान है। एगासण में दोनों ही अर्थ ग्राह्य है।

5. **एकस्थान–** एक ही आसन में एक बार से अधिक भोजन नहीं करना एकस्थान प्रत्याख्यान है अथवा भोजन करते समय जिस स्थिति में बैठे हों अन्त तक मुख और हाथ के सिवाय किसी अंग का संकोच-विस्तार नहीं करते हुए उसी स्थिति में बैठे रहना, एकस्थान प्रत्याख्यान है।

एकाशन और एकस्थान में मुख्य अन्तर यह है कि एकाशन में एक बार भोजन करने के पश्चात सूर्यास्त से पूर्व तक पानी ग्रहण कर सकते हैं, जबकि एकलठाणा प्रत्याख्यान में अन्न-जल एक ही बार ग्रहण किया जाता है इसे 'ठाम चौविहार' भी कहते हैं।

6. **आयंबिल–** आयाम अर्थात ओसामण (धोवण) और अम्ल अर्थात सौवीरक-कांजी या खट्टा पानी, चावल, उड़द और निर्जीव (अचित्त) भोजन–

इन दो प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करने में भी मुख्य उपयोग रखा जाता है, उसे आगम भाषा में आयंबिल कहते हैं।[29] आचार्य हरिभद्रकृत संबोधप्रकरण में आयंबिल के पर्यायवाचक शब्द भी कहे गये हैं– अंबिल, नीरस जल, दुष्प्राय, धातु शोषण, कामघ्न, मंगल, शीत आदि आयंबिल के एकार्थी शब्द हैं।[30]

प्रचलित परिभाषा के अनुसार दिन में एक बार केवल उबला हुआ धान्य एवं जल इन दो द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाना, आयंबिल प्रत्याख्यान है।

7. अभक्तार्थ (उपवास)– भक्त-भोजन का, अर्थ-प्रयोजन, अ– नहीं है अर्थात जिसमें भोजन करने का प्रयोजन नहीं होता वह अभक्तार्थ प्रत्याख्यान कहलाता है।

अभक्त का प्रचलित पर्याय नाम उपवास है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण में उपवास के एकार्थक शब्द भी बतलाये हैं जैसे– मुक्त, श्रमण, धर्म, निष्पाप, उत्तम, अणाहार, चतुष्पाद और अभक्त।[31] उपवास दो प्रकार का होता है –

प्रथम प्रकार में अशन, खादिम और स्वादिम– तीन प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे तिविहार उपवास कहते हैं। दूसरे प्रकार में चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे चौविहार उपवास कहते हैं।

आगम साहित्य में उपवास के लिए 'चउत्थभत्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

8.चरिम– दिन के अन्त में या भव के अन्त में किया जाने वाला प्रत्याख्यान क्रमशः दिवसचरिम और भवचरिम-प्रत्याख्यान कहलाता है। दिवसचरिम प्रत्याख्यान दुविहार, तिविहार, चौविहार, पाणहार आदि अनेक प्रकार का होता है। सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवसचरिम प्रत्याख्यान है।

भवचरिम प्रत्याख्यान सागार और अणागार दो प्रकार का होता है। अनाभोग से या सहसा अंगुली, तृण आदि की मुँह में जाने की सम्भावना होने से इस प्रत्याख्यान में अन्नत्थणाभोग एवं सहसागार– ये दो आगार रखे जाते हैं और उसे सागार भवचरिम प्रत्याख्यान कहते हैं। जिसमें पूर्ण सावधानी बरती जाए, उसमें आगार (छूट) की आवश्यकता नहीं रहती है वह अनागार भवचरिम प्रत्याख्यान कहलाता है।

9. अभिग्रह– अमुक कार्य होने पर ही भोजन करूंगा अथवा बेला आदि संकल्पित दिनों की अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूंगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना, अभिग्रह प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान द्रव्य आदि चार प्रकार का संकल्प करते हुए किया जाता है। जैसे–

द्रव्य से– अमुक आहार या अमुक कटोरी, चम्मच आदि से ही भिक्षा ग्रहण करूंगा।

क्षेत्र से– अमुक घर से...गली से...गाँव से ही भिक्षा लूंगा।

काल से– अमुक समय में या भिक्षाकाल बीतने के पश्चात भिक्षा ग्रहण करूंगा।

भाव से– दाता खड़े-खड़े, बैठे-बैठे या अमुक मुद्रा में देगा, तो ही ग्रहण करूंगा।

पूर्वनिर्दिष्ट अनागत आदि दस प्रत्याख्यान में से आठवाँ परिमाणकृत प्रत्याख्यान एवं नौवाँ संकेत प्रत्याख्यान अभिग्रह प्रत्याख्यान में गिने जाते हैं।

10. निर्विकृतिक– विकृति अर्थात विकार। इन्द्रियों के विषयों को प्रबल करने वाले दूध-दहि, घृत-तेल, शक्कर-पकवान्न– ये छः पदार्थ विगई कहलाते हैं। इनमें से एक-दो यावत छः विगय का त्याग करना, विगई प्रत्याख्यान है तथा छः विगय से निष्पन्न तीस प्रकार के पदार्थों का यथासम्भव त्याग करना, नीवि प्रत्याख्यान कहलाता है।

द्वितीय परिभाषा के अनुसार मन को विकृत करने वाली अथवा विगति-दुर्गति में ले जाने वाली विकृतियाँ जिसमें से निकल चुकी हों, ऐसा भोजन ग्रहण करना, निर्विकृतिक प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान विशोधि के स्थान

प्रत्याख्यान एक महत्त्वपूर्ण साधना है। पूर्वाचार्यों के अनुसार छह प्रकार की विशुद्धियों से युक्त धारण किया गया प्रत्याख्यान शुद्ध और निर्दोष होता है। वे शुद्धियाँ निम्नोक्त हैं–

1. श्रद्धान शुद्धि– शास्त्रीय विधि के अनुसार पाँच महाव्रत एवं बारह व्रत आदि प्रत्याख्यानों के प्रति विशुद्ध श्रद्धा रखना, श्रद्धान विशुद्धि है।

2. ज्ञान शुद्धि– जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण एवं प्रातःकाल आदि के प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है उसे वैसा ही जानना, ज्ञान विशुद्धि है।

3. विनय शुद्धि– मन, वचन एवं काया को संयमित रखते हुए प्रत्याख्यान काल में जितने खमासमण आदि का विधान है उसे यथाविधि पूर्ण करना, विनय विशुद्धि है।

4. अनुभाषण शुद्धि– प्रत्याख्यान करते समय गुरु के समक्ष बद्धाञ्जलि युक्त होकर उपस्थित होना एवं गुरु द्वारा उच्चारित सूत्र पाठ का तद्रूप उच्चारण करना, अनुभाषण शुद्धि है।

5. अनुपालना शुद्धि– मारणान्तिक कष्ट, मृत्यु भय, दुर्भिक्ष, भयंकर अटवि, आकस्मिक व्याधि आदि आपद् स्थितियों में भी आन्तरिक उत्साह के साथ व्रत पालन करना, अनुपालना शुद्धि है।

6. भाव शुद्धि– प्रशस्त भावना से युक्त होकर प्रत्याख्यान ग्रहण करना एवं उसका तद्योग्य पालन करना, भाव शुद्धि है।[32]

स्थानांगसूत्र के पंचम स्थान में ज्ञान शुद्धि के सिवाय शेष पाँच शुद्धियों का ही उल्लेख है।[33] श्रद्धान शुद्धि में ज्ञान शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि श्रद्धा के साथ ज्ञान होता ही है। निर्युक्तिकार ने स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान शुद्धि का स्वतन्त्र रूपेण उल्लेख किया है।

दिगम्बर आम्नाय के मूलाचार में प्रत्याख्यान शुद्धि चार प्रकार की बतलाई गई है– 1. विनय शुद्धि 2. अनुभाषा शुद्धि 3. अनुपालन शुद्धि और 4. परिणाम शुद्धि। आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालना के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहारादि का त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है।[34]

प्रत्याख्यान की अशोधि के स्थान

असंक्लिष्ट चित्त से किया गया प्रत्याख्यान शुद्ध तथा कषाय और विषय से अनुरंजित चित्त द्वारा गृहीत प्रत्याख्यान अशुद्ध होता है। प्रत्याख्यान की अशोधि के मुख्य पाँच हेतु हैं–

1. स्तब्धता– 'अमुक तपस्वी की पूजा हो रही है, यदि मैं तप करूंगा तो मेरी भी पूजा होगी'– इस भावना से तप करना।

2. क्रोध– गुरु आदि के कठोर शब्द सुनकर यह सोचना कि मैं तिरस्कृत हुआ हूँ– अत: आहार नहीं करना।

3. अनाभोग– गृहीत नियम की विस्मृति होने से निश्चित अवधि के पूर्व ही कुछ खा लेना।

4. अनापृच्छा– गुरु की अनुमति के बिना ही आहार कर लेना।

5. असत्–आहार प्राप्ति न होने पर अथवा स्वयं के अनुकूल आहार न मिलने पर त्याग करना।

उक्त पाँचों में से किसी प्रकार का प्रत्याख्यान करना अशुद्ध प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के गुण-दोषों को जानने वाला ही सम्यक् प्रत्याख्यानी है।[35]

प्रत्याख्यानी-प्रत्याख्याता की दृष्टि से चतुर्भंगी

समझ पूर्वक किया गया प्रत्याख्यान ही शुद्ध होता है। प्रबुद्ध आचार्यों ने इस सम्बन्ध में चतुर्भंगी कही है, इस आधार पर प्रत्याख्यान के शुद्ध विकल्प का बोध हो जाता है।

जो प्रत्याख्यान विधि के ज्ञाता हैं, मूलगुण, उत्तरगुण एवं श्रद्धा आदि शुद्धि से सम्पन्न हैं वे गुरु प्रत्याख्यान दान के अधिकारी होते हैं।[36]

जो कृतिकर्म आदि विनय विधि में कुशल, उपयोग परायण, शुद्ध भावधारा युक्त, मोक्ष के अभिलाषी और दृढ़प्रतिज्ञ हैं वे प्रत्याख्यान करने योग्य होते हैं।[37]

इन दोनों के सम्बन्ध में चार विकल्प बनते हैं–

1. प्रत्याख्यान कराने वाला गुरु और प्रत्याख्यान करने वाला शिष्य– दोनों उपयोगवान एवं अमायावी हो, वह शुद्ध प्रत्याख्यान है।
2. प्रत्याख्यान कराने वाला गुरु उपयोगवान एवं एकाग्रचित्त हो, प्रत्याख्यान करने वाला किसी प्रयोजनवश उस क्षण उपयोग युक्त नहीं है, किन्तु बाद में उपयोगवान हो जाता है तो वह प्रत्याख्यान भी शुद्ध है।
3. प्रत्याख्यान कराने वाला गुरु उपयोगशून्य और प्रत्याख्यान करने वाला शिष्य उपयोग युक्त एवं अमायावी हो, वह प्रत्याख्यान भी शुद्ध है।
4. प्रत्याख्यान कराने वाला गुरु और प्रत्याख्यान करने वाला शिष्य दोनों उपयोगशून्य हो, वह प्रत्याख्यान अशुद्ध ही है।

इन चार विकल्पों में प्रथम विशुद्ध और अन्तिम बिल्कुल अशुद्ध प्रत्याख्यान है। द्वितीय और तृतीय विकल्प कुछ दृष्टियों से शुद्ध हैं और कुछ दृष्टियों से अशुद्ध हैं।

यह चतुर्भंगी जानकार और अजानकार अथवा विधि ज्ञाता और विधि अज्ञाता की अपेक्षा भी समझी जा सकती है। जैसे गुरु प्रत्याख्यान विधि के ज्ञाता हो और शिष्य भी प्रत्याख्यान ग्रहण विधि से परिचित हो– इस तरह पूर्ववत चार विकल्प बनते हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने इस सम्बन्ध में गौ का दृष्टान्त उल्लेखित करते हुए कहा है कि यदि मालिक और ग्वाला– दोनों ही गायों का परिमाण जानते हो तो मूल्य चुकाने और ग्रहण करने में सुविधा होती है।[38]

प्रत्याख्यान ग्रहण विधि

पूर्वाचार्यों के मतानुसार किसी तरह का शुभ संकल्प या प्रत्याख्यान देव-गुरु और धर्म की साक्षी पूर्वक करना चाहिए। सर्वप्रथम रात्रि में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण (रात्रिक प्रतिक्रमण) करते समय आत्मसाक्षी से नवकारसी आदि का प्रत्याख्यान करना चाहिए, फिर जिनालय में अरिहंत परमात्मा की साक्षी पूर्वक संकल्पित प्रत्याख्यान करना चाहिए। तदनन्तर उपाश्रय में विराजित सद्गुरु की साक्षी से (मुख से) प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस प्रकार कोई भी शुभ संकल्प या प्रत्याख्यान आत्मसाक्षी, देवसाक्षी और गुरुसाक्षी पूर्वक करने योग्य होने से गुरु के समीप तो अवश्य करना चाहिए। कहा भी गया है कि जो प्रत्याख्यान पहले किया गया हो, उसे विशिष्ट कोटि का बनाने के लिए गुरु साक्षी से प्रत्याख्यान करना चाहिए।[39] इस तथ्य का मूल्य बतलाते हुए किसी आचार्य ने कहा है–

'गुरुसक्खिओ हु धम्मो'– गुरु साक्षी ही निश्चय से धर्म है। इससे जिनाज्ञा का पालन होता है।[40] श्रावकप्रज्ञप्ति में भी कहा गया है– प्रत्याख्यानी के परिणाम विशुद्ध होने पर भी गुरुसाक्षी पूर्वक प्रत्याख्यान करने से उसके परिणामों में दृढ़ता आती है, इसलिए प्रत्याख्यान की तरह, अन्य भी नियमोपनियम गुरु साक्षी पूर्वक ग्रहण करने चाहिए।[41] वर्तमान में त्रिविध साक्षी से प्रत्याख्यान करने वाले साधक अल्प हैं।

आत्म साक्षी एवं देव साक्षी पूर्वक प्रत्याख्यान करने वाला बद्धांजलि युक्त होकर स्वयं ही प्रतिज्ञासूत्र का उच्चारण करें तथा गुरुसाक्षी से प्रत्याख्यान करते समय शिष्य हाथ जोड़कर अर्धावनत मुद्रा में खड़ा रहे और गुरु प्रतिज्ञासूत्र का उच्चारण करें।

नवकारसी आदि दसविध अद्धा प्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किये जाते हैं। इन प्रत्याख्यानों के प्रतिज्ञा पाठ निम्न प्रकार हैं–

प्रातःकालीन प्रत्याख्यान

नवकारसी प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे नमोक्कार सहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं–असणं, पाणं, खाइमं, साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्य उदय होने के पश्चात दो घड़ी (48 मिनट) तक नमस्कारसहित प्रत्याख्यान करता हूँ और अशन,पान, खादिम एवं स्वादिम– इन चारों ही प्रकार के आहार का त्याग अनाभोग और सहसाकार– दो आगार रखकर करता हूँ।[42]

विशेषार्थ– सूर्योदय से लेकर दो घड़ी (48 मिनट) पर्यन्त चतुर्विध आहार का त्याग करना तथा समय पूर्ण होने के पश्चात तीन नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर उचित भोजन ग्रहण करना, नवकारसी कहलाता है। बोलचाल की भाषा में इसे 'नोकारसी' कहते हैं। यह प्रत्याख्यान यथासमय पूर्ण करना चाहिए। यदि कारणवश वैसा शक्य न हो, तो व्रत में अव्यवस्था हो सकती है, इसलिए नवकारसी के साथ 'मुट्ठिसहियं' का प्रत्याख्यान भी करवाया जाता है और उस प्रतिज्ञापाठ में अनाभोग एवं सहसाकार– इन दो आगारों के उपरांत महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– आगार की भी छूट रखी जाती है। कदाच प्रत्याख्यान निर्धारित समय से पहले पूर्ण करना पड़े या रोगादिवश तीव्र अशान्ति उत्पन्न हो जाए तो उसे शान्त करने के लिए समय से पूर्व औषध आदि का सेवन करने पर प्रत्याख्यान भग्न नहीं होता है।

मुट्ठिसहियं पूर्वक नवकारसी का प्रतिज्ञापाठ निम्न हैं–

उग्गए सूरे नमुक्कार-सहिअं मुट्ठि-सहिअं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

• साधु या साध्वी को यह प्रत्याख्यान विगई और पानी के आगार छोड़कर लेना चाहिए। • उष्ण जल पीने वाले गृहस्थ को भी विगई एवं पानी के आगार छोड़कर यह प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।

• मुट्ठी सहित प्रत्याख्यान ग्रहण न करें तो प्रथम के दो आगार ही बोलने चाहिए।

पौरुषी एवं साढपोरुषी प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे, पोरिसिं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर एक प्रहर (लगभग तीन घंटा) दिन चढ़े तब तक अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम–चारों आहार का–अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन एवं सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन छहों (अपवादों) आगारों को छोड़कर पूर्णतया त्याग करता हूँ।[43]

विशेषार्थ– सार्ध पौरुषी का प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पोरिसिं' के स्थान पर 'साड्ढपोरिसिं' पाठ बोलना चाहिए। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है। साढपोरूषी प्रत्याख्यान में डेढ़ प्रहर (लगभग साढ़े चार घंटा) दिन चढ़े तब तक चारों आहार का त्याग किया जाता है।

पुरिमड्ढ एवं अवड्ढ प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं–असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थणा भोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दिन के प्रथम दो प्रहर (लगभग छह घंटा) तक अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम– चारों प्रकार के आहार का– अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन सात आगारों (अपवादों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।[44]

विशेषार्थ– अवड्ढ का प्रत्याख्यान लेते समय 'पुरिमड्ढं' के स्थान में 'अवड्ढं' पाठ बोलना चाहिए। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है। अवड्ढ प्रत्याख्यान में तीन प्रहर दिन चढ़े तब तक चारों आहार का त्याग किया जाता है।

एकासन एवं बियासना प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं एकासणं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहं चउव्विहंपि वा आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं सागारियागारेणं, आउंटणपसारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दिन के एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक के लिए एकासन–तप स्वीकार करता हूँ। जिसमें अशन, खादिम और स्वादिम– इन तीनों प्रकार के अथवा अशन, पान, खादिम और स्वादिम– इन चारों प्रकार के आहारों का– अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुंचन-प्रसारण, गुरुअभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार एवं सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन आठ आगारों (अपवादों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।[45]

विशेषार्थ– बियासण-प्रत्याख्यान करते समय 'एकासणं' के स्थान में 'बियासणं' पाठ बोलना चाहिए। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है।

वर्तमान परम्परा में एकासना साढपोरिसी के पश्चात किया जाता है। बियासन का प्रत्याख्यान नवकारसी प्रत्याख्यान पूर्वक भी किया जा सकता है।

एकासना और बियासना में भोजन करते समय चारों आहार लिए जा सकते हैं, परन्तु भोजन के बाद शेष काल में भोजन का त्याग होता है यदि एकाशन तिविहार पूर्वक करना हो, तो शेषकाल में पानी पिया जा सकता है। यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता।

प्रतिज्ञापाठ में 'दुविहं' शब्द का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य–दुविहार प्रत्याख्यान से है। यदि एकाशन के पश्चात दुविहार करना हो तो भोजन के बाद पानी और स्वादिम–मुखवास लिया जा सकता है। आजकल तिविहार एकाशन की प्रथा ही प्रचलित है। अत: आवश्यकसूत्र के मूलपाठ में 'तिविहं' पाठ दिया है।

एगलठाणा प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं वा एक्कासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि। चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दिन के प्रथम प्रहर या डेढ प्रहर तक के लिए एकस्थान व्रत को ग्रहण करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में अशन,पान, खादिम और स्वादिम– चारों प्रकार के आहारों का– 1. अनाभोग, 2. सहसाकार, 3. सागारिकाकार 4. गुर्वभ्युत्थान 5. पारिष्ठापनिकाकार 6. महत्तराकार एवं 7. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– इन सातों आगारों (अपवादों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।[46]

विशेषार्थ–एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है अत: एक स्थान का फलितार्थ है– दाहिने हाथ एवं मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए बिना दिन में एक आसन पूर्वक एक ही बार भोजन करना अर्थात भोजन प्रारम्भ करते समय जो स्थिति, जो अंग विन्यास या जो आसन हो, उसी स्थिति, अंगविन्यास एवं आसन से भोजन की समाप्ति तक बैठे रहना चाहिए। चूर्णिकार जिनदासगणि ने एकस्थान की यही परिभाषा की है।

एकाशन और एक स्थान दोनों प्रत्याख्यानों के प्रतिज्ञासूत्र समान हैं केवल एकस्थान प्रत्याख्यानसूत्र में 'आउंटणपसारेणं' का उच्चारण नहीं किया जाता है, क्योंकि इसमें हिलने-डूलने का सर्वथा निषेध है। प्रचलित भाषा में इसे 'एकलठाणा कहते हैं।

आयंबिल प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं साड्ढपोरिसिं वा आयंबिलं पच्चक्खामि। अन्नत्थणा भोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहिसंसिट्ठेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दिन के प्रथम प्रहर या डेढ़ प्रहर तक के लिए आयंबिल तप ग्रहण करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. लेपालेप 4. उत्क्षिप्तविवेक 5. गृहस्थसंसृष्ट 6. पारिष्ठापनिकाकार 7. महत्तराकार 8. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– उक्त आठ आगारों के अतिरिक्त अनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ।[47]

विशेषार्थ– आयंबिल में एक बार उबला हुआ आहार ग्रहण करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तू आदि में से किसी एक द्रव्य के द्वारा आयंबिल करने का उल्लेख है।

प्रबोध टीकाकार के अनुसार आयंबिल तप में पोरिसी या साढपोरिसी पर्यन्त सात आगार पूर्वक चारों आहारों का त्याग किया जाता है, इसलिए पहले पोरिसी-साढपोरिसी का पाठ बोलते हैं, उसके बाद आठ आगार पूर्वक आयंबिल का पाठ बोलते हैं। आयंबिल करने के पश्चात सूर्यास्त तक के लिए तिविहार का पच्चक्खाण कर लेना चाहिए। इससे पानी को छोड़कर शेष तीन आहारों का त्याग हो जाता है।

वर्तमान प्रचलित आयंबिल प्रत्याख्यान का पाठ निम्न है–

उग्गए सूरे, पोरिसिं साढपोरिसिं चउव्विहंपि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहु-वयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

आयंबिलं पच्चक्खामि। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थ-संसिट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

एगासणं पच्चक्खाइ-तिविहंपि आहारं-असणं खाइमं साइमं अन्नत्थाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारेणं गुरु-अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरामि।[48]

निर्विकृतिक प्रतिज्ञासूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं साड्ढपोरिसिं वा निविगइयं पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं गिहत्थसंसिट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दिन के प्रथम प्रहर या डेढ़ प्रहर तक मैं विकृतिकारक द्रव्यों का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. लेपालेप 4. गृहस्थसंसृष्ट 5. उत्क्षिप्तविवेक 6. प्रतीत्यम्रक्षिक, 7. पारिष्ठापनिक 8. महत्तराकार और 9. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन नौ आगारों के सिवाय विकृति का त्याग करता हूँ।[49]

विशेषार्थ– आयंबिल और नीवि का प्रत्याख्यान पाठ समान ही है। नीवि प्रत्याख्यान में 'प्रतीत्यम्रक्षिक' इस नाम का आगार भी होता है। इस प्रकार आयंबिल में आठ एवं नीवि में नौ आगार होते हैं

तिवि(हा)हार उपवास

उग्गए सूरे[50] अब्भत्तट्ठं पच्चक्खामि। तिविहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणहार पोरिसिं साड्ढपोरिसिं मुट्ठिसहिअं पच्चक्खामि। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा अलेवेण वा अच्छेण वा बहुलेवेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक उपवास का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में अशन, खादिम, स्वादिम तीन प्रकार के आहार का– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. पारिष्ठापनिकाकार 4. महत्तराकार और 5. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– इन पाँच आगार पूर्वक पूर्णतया त्याग करता हूँ।

पानी का एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक नमस्कार मन्त्र, मुट्ठिसहियं एवं निम्न आगार पूर्वक प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. प्रच्छन्न काल 4. दिशामोह 5. साधु वचन 6. महत्तराकार 7. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार। पानी के आगार– 8. लेप 9. अलेप 10. अच्छ 11. बहुलेप 12. ससिक्थ और 13. असिक्थ है।[51]

चउवि(हा)हार उपवास

उग्गए सूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक उपवास का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में अशन,पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. पारिष्ठापनिकाकार 4. महत्तराकार और 5. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– उक्त पाँच आगार पूर्वक त्याग करता हूँ।[52]

विशेषार्थ– यदि उपवास में पानी नहीं पीना हो, तो चउविहाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए तथा पानी पीना हो, तो तिविहाहार उपवास का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

पं. सुखलालजी का कहना है कि यदि प्रातःकाल से ही चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक उपवास का प्रत्याख्यान करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' बोलना चाहिए। यदि प्रारम्भ में तिविहार उपवास का प्रत्याख्यान किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय तिविहाहार से चउव्विहाहार उपवास करना हो, तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

उपवास करने वाले को यदि पहले दिन और पिछले दिन एकाशन हो, तो उपवास के प्रत्याख्यानसूत्र में 'अभत्तट्ठं' के स्थान पर 'चउत्थभत्तं अब्भत्तट्ठं' पाठ बोलना चाहिए। दो उपवास करने वाले को 'छट्ठभत्तं' और तीन उपवास करने वाले को 'अट्ठमभत्तं' पाठ बोलना चाहिए। इसी तरह उपवास की संख्या को दुगुना कर उसमें दो भक्त (भत्तं) मिलाने पर जितनी संख्या आए उतने भक्त कहने चाहिए,जैसे– चार उपवास में 'दस भत्तं' और पाँच उपवास में 'दुवालस भत्तं' आदि।

पाणहार प्रतिज्ञासूत्र

पाणाहार पोरिसिं, साढ-पोरिसिं मुट्ठिसहिअं पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरामि।

अर्थ– सूर्योदय से लेकर एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक पानी का मुट्ठिसहियं एवं निम्न आगार पूर्वक त्याग करता हूँ– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. प्रच्छन्न काल 4. दिशामोह 5. साधु वचन 6. महत्तराकार और 7. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार।

पानी की छूट रहती है इसलिए तत्सम्बन्धी छः आगार रखता हूँ– 1. लेप 2. अलेप 3. अच्छ 4. बहुलेप 5. ससिक्थ और 6. असिक्थ।[53]

विशेषार्थ– यदि प्रथम दिन छट्ठ आदि का प्रत्याख्यान कर लिया हो और दूसरे दिन पानी पीना हो, तो उस दिन प्रातःकाल में पाणहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए। बेले आदि की दीर्घ तपस्या करते हुए यदि प्रतिदिन उपवास का ही प्रत्याख्यान करें, तो पाणहार प्रत्याख्यान की जरूरत नहीं रहती है।

अभिग्रह प्रतिज्ञासूत्र

अभिग्गहं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– मैं अभिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस प्रत्याख्यान में (संकल्पित अभिग्रह पूर्ति तक) अशन, पान, खादिम और स्वादिम– इन चारों प्रकार के आहारों का निम्न चार आगार (अपवाद) पूर्वक त्याग करता हूँ।[54]

1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार और 4. सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार।

विशेषार्थ– गंठिसहियं, मुट्ठिसहियं, उच्छ्वाससहियं, अंगुष्ठसहियं आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान एवं मुनियों के भिक्षाचर्या सम्बन्धी विशिष्ट संकल्प अभिग्रह रूप होते हैं। इन स्थितियों में अभिग्रहसूत्र का उच्चारण करते हैं।

अभिग्रह धारण करते समय उपर्युक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिए।

अभिग्रह की साधना कठिन है अत: अपनी शक्ति का विचार करके अभिग्रह धारण करना चाहिए।

गंठिसहियं आदि का प्रत्याख्यान करते समय 'अभिग्गह' के स्थान पर अवधारित प्रत्याख्यान का नामोच्चारण करें। जैसे– गंठिसहियं पच्चक्खामि, मुट्ठिसहियं पच्चक्खामि वगैरह।

सायंकालीन प्रत्याख्यान

दिन के अन्त में पाणहार, चउव्वि(हा)हार, तिवि(हा)हार, दुवि(हा)हार आदि प्रत्याख्यान ग्रहण किए जाते हैं। वे प्रतिज्ञा पाठ निम्न हैं–

पाणहार प्रतिज्ञासूत्र– एकासन, बीयासन, एकलठाणा, आयंबिल, नीवि और तिविहार उपवास में पानी पीने वालों को तथा छट्ठ आदि का प्रत्याख्यान करने वालों को सूर्यास्त से पूर्व पाणहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

पाणहार-दिवसचरिमं पच्चक्खामि। अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागरेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– दिन के शेष भाग से दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए पानी का– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार और 4. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– उक्त चार आगारों की छूट रखते हुए सर्वथा त्याग करता हूँ।[55]

चउवि(हा)हार प्रतिज्ञासूत्र

रात्रि में चारों आहारों का त्याग करने वालों को सूर्यास्त से पूर्व चउविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

दिवस चरिमं पच्चक्खामि। चउव्विहंपि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

अर्थ– दिवस के शेष भाग से दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए–अशन, पान, खादिम, स्वादिम ऐसे चारों आहारों का– 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार और 4. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन आगारों की छूट रखते हुए पूर्णतया त्याग करता हूँ।[56]

तिवि(हा)हार प्रतिज्ञासूत्र

रात्रि में केवल पानी पीने वालों को सूर्यास्त से पूर्व निम्न प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।

दिवसचरिमं पच्चक्खामि। तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अर्थ– दिवस के शेष भाग से दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए– अशन खादिम एवं स्वादिम– तीनों आहारों का 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार और 4. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– इन चार अपवादों को छोड़कर सर्वथा त्याग करता हूँ।[57]

दुवि(हा)हार प्रतिज्ञासूत्र

यह प्रत्याख्यान रात्रि में केवल पानी एवं मुखवास का सेवन वालों को ग्रहण करना चाहिए।

दिवसचरिमं पच्चक्खामि दुविहंपि आहारं–असणं खाइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

अर्थ– दिवस के शेष भाग से दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए अशन और खादिम इन दो आहारों का 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार एवं 4. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– इन चार आगारों को छोड़कर सर्वथा त्याग करता हूँ।[58]

देशावगासिक प्रतिज्ञासूत्र

चौदह नियम धारण करने वालों को नवकारसी से पूर्व यह प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

देसावगासियं उवभोगं परिभोगं पच्चक्खाइ। अन्नत्थणा भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।।

अर्थ– देश से संक्षेप की गई उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का 1. अनाभोग 2. सहसाकार 3. महत्तराकार और 4. सर्वसमाधि प्रत्याकार– इन चार आगार पूर्वक त्याग करता हूँ।[59]

प्रत्याख्यान पारणासूत्र

जैन अवधारणा में किसी भी प्रतिबद्ध नियम से मुक्त होने के लिए भी सूत्रपाठ बोला जाता है। नवकारसी आदि अद्धा प्रत्याख्यानों को पूर्ण करने का सूत्रपाठ निम्नानुसार है–

उग्गए सूरे नमुक्कारसहिअं पोरिसिं साढपोरिसिं सूरे उग्गए पुरिमड्ढ अवड्ढ (गंठिसहिअं) मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाणं कयं (कर्यु) चउव्विहार आयंबिल, निव्वी, एगलठाण, एगासण, बियासण, पच्चक्खाण कयं (कर्यु) तिविहार पच्चक्खाण-फासिअं, पालिअं, सोहिअं, तिरिअं, किट्टिअं, आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ– सूर्य उदित होने के पश्चात 1. नवकारसी 2. पौरूषी 3. साढपौरूषी 4. पुरिमड्ढ 5. अवड्ढ 6. गंठिसहियं 7. मुट्ठिसहियं– इन प्रत्याख्यानों को चार प्रकार के आहार पूर्वक किया तथा 8. आयंबिल 9. नीवि 10. एगलठाणा 11. एकाशना 12. बियासना– इन प्रत्याख्यानों को तीन प्रकार के आहार पूर्वक किया। इस प्रकार उक्त प्रत्याख्यानों की आराधना 1. प्रत्याख्यान करने योग्य काल में विधिपूर्वक न की हो 2. गृहीत प्रत्याख्यान का बार-बार स्मरण न किया हो 3. अपने आहार में से गुरु आदि की भक्ति कर शेष बचे हुए आहार से निर्वाह न किया हो 4. प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने के पश्चात थोड़ा अधिक समय व्यतीत न किया हो 5. भोजन के समय भूल न हो जाए, इसलिए प्रत्याख्यान को पुनः याद न किया हो 6. आराधित–उक्त पाँच भावों की शुद्धि पूर्वक प्रत्याख्यान का पालन न किया हो तो तत्सम्बन्धी मेरा पाप (दुष्कृत) मिथ्या हो।[60]

विशेषार्थ– दस प्रकार के अद्धा प्रत्याख्यानों को पूर्ण करने का यह संयुक्त पाठ है, इसलिए जिस प्रत्याख्यान को पूर्ण करना हो, उस तप का नामोच्चारण करना चाहिए। जैसे– एकासन का प्रत्याख्यान पूर्ण करना हो तो 'एकासणुं कर्युं तिविहार'– इस प्रकार सभी तरह के प्रत्याख्यान पूर्ण करना चाहिए।

प्रत्याख्यान पारणे का सूत्र बोलने के बाद भोजन न करने तक का समय अविरित में न जाए, अत: 'मुट्ठिसहियं' आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

तिविहार उपवास के प्रत्याख्यान को पूर्ण करने का सूत्र निम्न है– *सूरे उग्गए पच्चक्खाणं कयं (कर्युं) तिविहार, पोरिसिं साड्ढपोरिसिं पुरिमड्ढ अवड्ढ मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाणं कयं (कर्युं) पाणहार पच्चक्खाण फासिअं पालिअं सोहिअं तिरिअं किट्टिअं आराहियं जं च न आराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।*

अर्थ– सूर्य उदय होने के बाद तीन प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान किया और पौरुषी, साढपौरुषी, पुरिमड्ढ, अवड्ढ या मुट्ठिसहियं का प्रत्याख्यान पानी का त्याग करने के उद्देश्य से किया तथा इस प्रत्याख्यान की आराधना 1. फासित 2. पालित 3. शोधित 4. तीरित 5. कीर्तित और 6. आराधित– इन छ: प्रकार की शुद्धिपूर्वक न की हो, तो तद्विषयक मेरा पाप (दुष्कृत) मिथ्या हो।[61]

विशेषार्थ– 'सूरे उग्गए पच्चक्खाण कर्युं तिविहार'– इस पाठ के स्थान पर कुछ जन निम्न पाठ बोलते हैं–.

'सूरे उग्गए उपवास कर्युं तिविहार'– यह पाठ बोलते हैं अथवा सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठ पच्चक्खाण कर्युं तिविहार'– इस तरह भी बोलते हैं।

तुलना– जैन धर्म की श्वेताम्बर मूलक सभी परम्पराओं में प्रत्याख्यान पाठ प्राय: समान हैं। जैनागमों में एक मात्र आवश्यकसूत्र में ये पाठ उपलब्ध होते हैं तथा जैन व्याख्या साहित्य में तद्विषयक विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, टीकाकार आचार्य हरिभद्र, भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, चूर्णिकार जिनदासगणी आदि ने इस सम्बन्ध में विशिष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत की है।

वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में प्रत्याख्यान पाठ या प्रतिज्ञा पाठ सम्बन्धी कुछ भी वर्णन पढ़ने को नहीं मिला है। यद्यपि इन परम्पराओं में व्रतोपासना की

परिपाटी सामान्य रूप से प्रवर्तित है, किन्तु उसके लिए प्रतिज्ञा पाठ से आबद्ध होना आवश्यक नहीं माना गया है।

गीता में प्रत्याख्यान से सन्दर्भित त्याग के तीन प्रकार बतलाए गए हैं– 1. सात्विक 2. राजसिक और 3. तामसिक। 1. तामस– नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना, तामस त्याग है। 2. राजसिक–सभी कर्म दुःख रूप है ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करना, राजस त्याग है। 3. सात्त्विक-शास्त्रविधि से नियत किया हुआ कर्त्तव्य-कर्म करते हुए उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना सात्त्विक त्याग है।[62]

प्रत्याख्यान के आगार सम्बन्धी तालिका

किस प्रत्याख्यान में कितने आगार (अपवाद) होते हैं? सुगम बोध के लिए वह चार्ट निम्नानुसार है–

	प्रत्याख्यान	संख्या	आगार नाम
1.	नवकारसी	2	अनाभोग, सहसाकार।
2.	मुट्ठीसहित नवकारसी	4	अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।
3.	पौरुषी-साढपौरुषी	6	अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, सर्वसमाधिप्रत्य-याकार।
4.	पुरिमड्ढ-अवड्ढ	7	छः आगार पोरसी के समान और सातवाँ महत्तराकार।
5.	एकाशन-बियासन	8	अनाभोग, सहसाकार, सागारिकागार, आकुंचन-प्रसारण, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठा-पनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि प्रत्ययाकार।
6.	एकलठाणा	7	आकुंचन प्रसारण के सिवाय शेष एकाशन के समान।

7.	विगई–नीवि (पिंडविगय सम्बन्धी)	9	अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।
8.	निर्विकृतिक (नीवि)	8	उत्क्षिप्तविवेक के सिवाय शेष पूर्ववत।
9.	आयंबिल	8	अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्त विवेक, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।
10.	उपवास	5	अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।
11.	पाणहार (पानी सम्बन्धी)	6.	लेप, अलेप, अच्छ, बहुलेप, ससिक्थ, असिक्थ।
12.	अभिग्रह (धारणा सम्बन्धी)	4	अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।
13.	प्रावरण (साधु के प्रत्याख्यान सम्बन्धी)	5	अनाभोग, सहसाकार, चोलपट्टागार महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार
14.	दिवसचरिम-भवचरिम देसावगासिक	4	अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।

यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उपरोक्त आगार पृथक-पृथक प्रत्याख्यान की अपेक्षा कहे गये हैं किन्तु पौरुषी या साढपौरुषी पूर्वक एकाशना या बियासना करें, तो वहाँ पौरुषी के छः और एकाशन के आठ– दोनों के संयुक्त आगार गिनने चाहिए। जैसे– तिविहार उपवास करें तो उपवास के पाँच और पानी के छः– इस प्रकार द्वयुक्त आगार जानने चाहिए।[63]

प्रत्याख्यान के भेदोपभेद सम्बन्धी तालिका

जैन साहित्य में प्रत्याख्यान के अनेक भेदोपभेद बतलाए गए हैं। सुधी वर्ग के लिए उसकी सारणी निम्न प्रकार है–

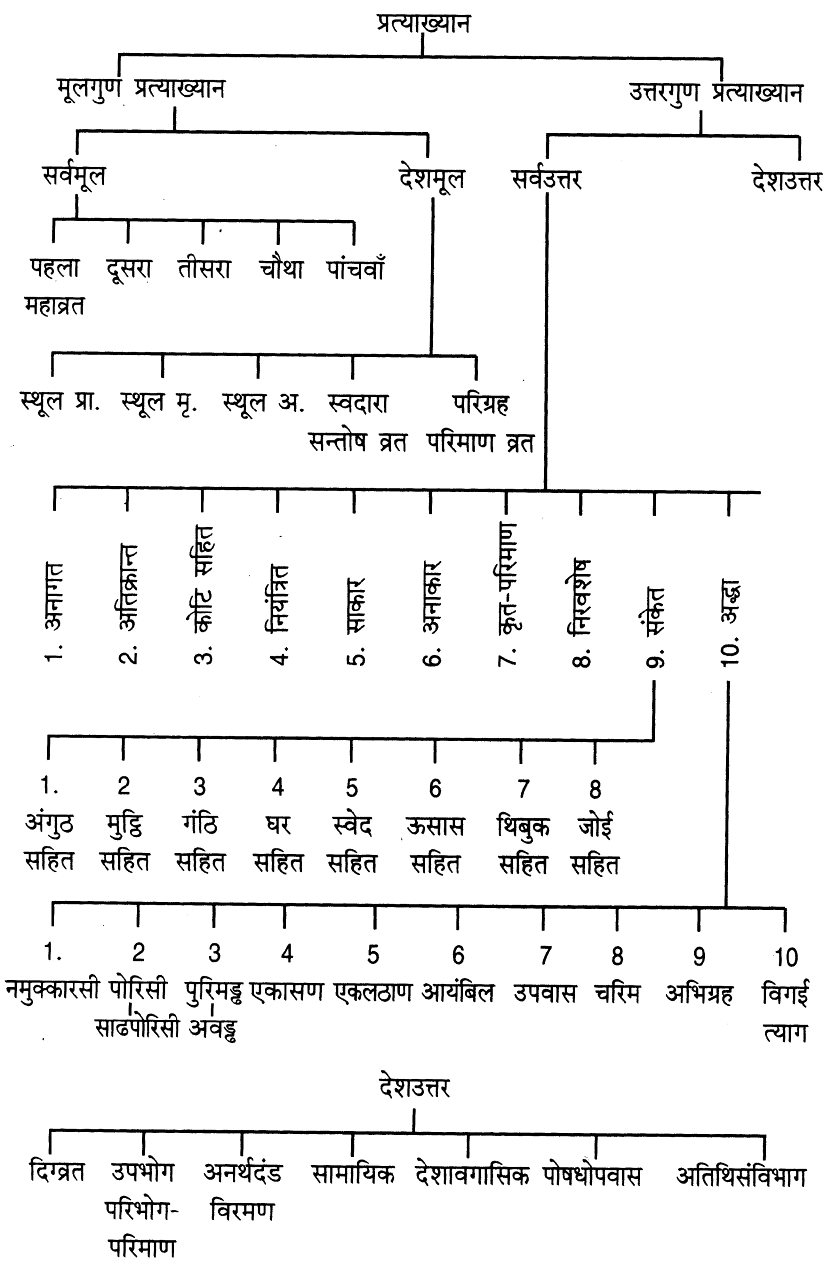
प्रत्याख्यान
मूलगुण प्रत्याख्यान
उत्तरगुण प्रत्याख्यान
सर्वमूल
देशमूल
सर्वउत्तर
देशउत्तर
पहला महाव्रत
दूसरा
तीसरा
चौथा
पांचवाँ
स्थूल प्रा.
स्थूल मृ.
स्थूल अ.
स्वदारा सन्तोष व्रत
परिग्रह परिमाण व्रत
1. अनागत
2. अतिक्रान्त
3. कोटि सहित
4. नियंत्रित
5. साकार
6. अनाकार
7. कृत-परिमाण
8. निरवशेष
9. संकेत
10. अद्धा
1. अंगुठ सहित
2 मुट्ठि सहित
3 गंठि सहित
4 घर सहित
5 स्वेद सहित
6 ऊसास सहित
7 थिबुक सहित
8 जोई सहित
1. नमुक्कारसी
2 पोरिसी
3 पुरिमड्ढ
4 एकासण
5 एकलठाण
6 आयंबिल
7 उपवास
8 चरिम
9 अभिग्रह
10 विगई त्याग
साढपोरिसी
अवड्ढ
देशउत्तर
दिग्व्रत
उपभोग परिभोग-परिमाण
अनर्थदंड विरमण
सामायिक
देशावगासिक
पोषधोपवास
अतिथिसंविभाग

प्रत्याख्यान के आगारों का स्वरूप

जैन शासन विरति प्रधान है। प्रत्याख्यान, विरतिधर्म का मूल है। विरति अनेक प्रकार की होती है जैसे- कषाय विरति, मिथ्यात्व विरति, प्रमाद विरति, राग विरति आदि। यहाँ विरति (प्रत्याख्यान) से तात्पर्य-चतुर्विध आहार के त्याग से है। इस विरतिमार्ग में अनेक तरह के दोष लगने की संभावना रहती है अत: प्रबुद्ध आचार्यों ने उसके कुछ अपवाद रखे हैं, जिससे प्रत्याख्यान खण्डित न हो। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हें आगार कहा गया है।

आगार शब्द का सम्यक् विश्लेषण– प्राकृत भाषा का 'आगार' ही संस्कृत भाषा में 'आकार' कहलाता है। आकार का अर्थ–अपवाद है। अपवाद का अर्थ है– यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाए या करनी पड़ जाए तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। अतएव आहार त्याग के सम्बन्ध में प्रत्याख्यान करते समय आवश्यक आगार रखने चाहिए।

1. अनाभोग– न + आभोग = अनाभोग। प्रत्याख्यान की अत्यंत विस्मृति होना अनाभोग कहलाता है।[64] 'अमुक वस्तु का प्रत्याख्यान (त्याग) किया है' इस प्रतिज्ञा से उपयोग शून्य होने पर किसी वस्तु का मुख में चले जाना अनाभोग कहलाता है। प्रत्याख्यान सूत्र में इस नाम का आगार (अपवाद) रखने से अनाभोग होने पर भी प्रत्याख्यान भग्न नहीं होता है। अग्रिम आगारों में भी यही बात समझनी चाहिए।

अनाभोग का प्राकृत रूपान्तर 'अन्नत्थणाभोग' है। इसमें अन्नत्थ + आभोग – ये दो शब्द हैं। अन्नत्थ का अर्थ है– अन्यथा नहीं होना, अनाभोग का अर्थ है– विस्मृत हो जाना अर्थात विस्मरण से प्रत्याख्यान का अन्यथा नहीं होना। जिस प्रत्याख्यान में जितने आगार होते हैं उन सभी के साथ अन्नत्थ शब्द का सम्बन्ध होता है। अनाभोग आगार का स्पष्टार्थ यह है कि गृहीत प्रत्याख्यान मतिदोष या भ्रान्तिवश कदाच विस्मृत हो जाए और त्यक्त वस्तु भूलवश मुँह में डाल दी जाए तो अनाभोग कहलाता है। किन्तु इसका अपवाद रखकर प्रत्याख्यान ग्रहण करने से वह दूषित नहीं होता है।

2. सहसाकार– सहसा + आकार। सहसा– अकस्मात, अचानक, शीघ्रता से, आकार– छूट अर्थात अकस्मात या संयोगवशात किसी वस्तु की इच्छा न होने पर भी उसका मुख में चले जाना, जैसे–उपवास किए हुए व्यक्ति

के द्वारा छाछ का बिलौना करते समय मुख में उसके छींटे चले जाना अथवा वर्षा ऋतु में विवेक रखने के उपरान्त भी पानी की बूंदे मुख में चली जाना, सहसाकार कहलाता है।

अनाभोग और सहसाकार- इन दोनों आगारों के सम्बन्ध में यह विशेष है कि जब तक पता न चले, तब तक व्रत भंग नहीं होता। परन्तु ज्ञात हो जाने के पश्चात मुख में लिए हुए ग्रास को थूके नहीं और चबाते रहें तो व्रत भंग हो जाता है।

आवश्यक चूर्णिकार के अनुसार नवकारसी आदि प्रत्याख्यानों को नमस्कारमन्त्र का स्मरण करके पूर्ण करना चाहिए। कदाच विस्मृति वश नमस्कारमन्त्र का उच्चारण किए बिना ही मुंह में कवल ले लिया जाए और याद आते ही उसे मुंह से निकाल दिया जाए तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।[65]

3. प्रच्छन्नकाल– प्रच्छन्न – छुपा हुआ, काल – समय अर्थात बादल अथवा आंधी आदि के कारण सूर्य के ढक जाने से, काल का स्पष्ट पता न चले और उस अनुमान से 'पौरुषी आदि का समय पूर्ण हुआ' जानकर भ्रान्ति से आहार आदि कर लेना, प्रच्छन्नकाल कहलाता है।

इस आगार का अभिप्राय है कि मेघ आदि के कारण निश्चित समय की जानकारी न हो पाए और समय से पूर्व ही प्रत्याख्यान पूर्ण कर लिया जाए तो दोष नहीं लगता है।

4. दिशामोह– *दिशा – अवकाश (आकाश) को दिखाने वाली, मोह –* भ्रम, विपरीत आभास। दिशा का विपरीत आभास होने से, जैसे पूर्व को पश्चिम समझकर प्रत्याख्यान का काल पूर्ण न होने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ आने की भ्रान्ति से पूर्ण हुआ जानकर अशनादि का सेवन कर लेना, दिशामोह है।

5. साधुवचन– साधु सामाचारी के अनुसार मुनिजन 'उग्घाड़ा पोरिसी' इस शब्द का उच्चारण करते हैं। अतः मुनियों के द्वारा 'उग्घाडा पौरुषी' का वचन सुनकर 'प्रत्याख्यान काल पूर्ण हुआ' ऐसा आभास होना और अपूर्ण काल में प्रत्याख्यान पूर्ण कर लेना, साधुवचन आगार है।

उल्लेख्य है कि पौरुषी प्रत्याख्यान का काल सूर्योदय के अनुसार भिन्न-भिन्न अनियत परिमाण वाला होता है, जबकि सूत्र पौरुषी (पादोन पौरूषी) का काल सदैव सूर्योदय से छः घड़ी का नियत होता है। इसलिए 'उग्घाड़ा पौरुषी'

शब्द सुनकर पौरुषी प्रत्याख्यान पूर्ण हुआ, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए किन्तु सही जानकारी के अभाव में वैसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

उपरोक्त प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन–तीनों आगारों का अभिप्राय यह है कि भ्रान्ति के कारण पौरुषी प्रत्याख्यान का काल पूर्ण न होने पर भी उसे पूर्ण समझकर समय से पहले भोजन कर लिए जाए तो व्रत भंग नहीं होता है। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाए कि अभी पौरुषी पूर्ण नहीं हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए।

6. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– सर्व–पूर्ण, समाधि–शाता, प्रत्यय–निमित्त आकार–छूट। अचानक किसी शूल आदि तीव्र रोग के कारण शरीर विह्वल हो जाए एवं प्रत्याख्यानी के परिणामों में आर्त्त-रौद्र ध्यान की संभावना हो तो उसकी चित्त समाधि के लिए प्रत्याख्यान का काल पूर्ण होने से पहले औषध आदि दे देना, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार आगार है।

7. महत्तराकार– यह शब्द महत्तर + आकार इन दो शब्दों से निर्मित है। महत्तर शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया गया है– 1. महत्तर अर्थात अपेक्षाकृत महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय आदि गच्छ या संघ के प्रमुख 2. अपेक्षाकृत महान निर्जरा वाला कोई प्रयोजन या कार्य।

स्पष्टार्थ है कि प्रत्याख्यान से जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे अधिक कर्म-निर्जरा का कारण उपस्थित होने पर या कोई महत्त्वपूर्ण कार्य आ जाने पर, जैसे कोई साधु बीमार पड़ गया हो या जिन मन्दिर या संघ पर कोई आपत्ति आ पड़ी हो और उसका निवारण उसी व्यक्ति को करना पड़े, जिसने पुरिमड्ढ आदि का प्रत्याख्यान किया हो, तो ऐसे कार्य को करने के लिए निश्चित समय से पहले ही प्रत्याख्यान पूर्ण कर लेना महत्तराकार आगार है।

8. सागारिकाकार– सागारिक – गृहस्थ, आकार – छूट। साधु को गृहस्थ के समक्ष भोजन करने का निषेध है, किन्तु भोजन करते समय कोई गृहस्थ अचानक आ जाए तो साधु को भोजन बन्द कर देना चाहिए और ऐसा लगे कि गृहस्थ देर तक रुकने वाला है तो बीच में ही उठकर दूसरी जगह एकान्त में जाकर भोजन करना, सागारिकाकार आगार है।

जैन मुनि यथाशक्ति एकासन आदि व्रत का पालन करते हैं अत: उनके लिए एकासन आदि करते हुए बीच में उठ जाने पर भी प्रत्याख्यान भग्न नहीं

होता है। इस अपेक्षा से यह आगार मुनियों के ही होता है। गृहस्थों के लिए नहीं।

गृहस्थों के लिए यह आगार इस प्रकार बताया गया है– भोजन शुरू करने के बाद ऐसा व्यक्ति आ जाए जिसकी नजर लगने से खाना नहीं पचता हो तो एकासन वाला गृहस्थ दूसरे स्थान पर जाकर भोजन कर सकता है, इससे नियम भंग नहीं होता।

यह सागारिक आगार उपलक्षण से बंदी (भाट-चारण आदि), सर्प, अग्निभय, जल का रेला, मकान गिरना आदि अनेक आगार युक्त होता है।[66]

9. आकुञ्चन प्रसारण– आकुंचन – संकोच, प्रसारण – विस्तार। गृहस्थ के द्वारा एकाशन आदि करते समय एक आसन में स्थिर नहीं बैठना अथवा सुन्न पड़ने की स्थिति में हाथ-पैर आदि अंगों को संकुचित करना या फैलाना आकुंचन-प्रसारण आगार है। प्रत्याख्यान लेते समय यह आगार रखने से नियम भंग नहीं होता है।

10. गुरु अभ्युत्थान– एकाशन करते समय गुरु या अतिथि विशेष साधु पधार जाए तो उनका विनय-सत्कार करने के लिए सहसा उठकर खड़े हो जाना, गुर्वभ्युत्थान आगार है।

प्रस्तुत आगार का आशय महत्त्वपूर्ण है। गुरुजनों एवं अतिथियों के आने पर अवश्य उठकर खड़ा हो जाना चाहिए। उस समय यह भ्रान्ति नहीं रखनी चाहिए कि 'एकासन व्रत में कैसे खड़े होऊँ?' गुरूजनों के लिए खड़ा होने पर व्रतभंग नहीं होता है, प्रत्युत विनय तप की आराधना होती है। आचार्य सिद्धसेन ने भी लिखा है कि

गुरु का अभ्युत्थान करने के लिए भोजन करते हुए उठ खड़े होना आवश्यक कर्त्तव्य है, इससे प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।[67]

11. पारिष्ठापनिकाकार– परि – सर्व प्रकार से, स्थापन – रखना, आकार – छूट। सर्वथा त्याग करने के प्रयोजन से की गई क्रिया पारिष्ठापनिका कहलाती हैं। जैन मुनि का आचार है कि वह अपनी क्षुधापूर्ति के लिए परिमित मात्रा में ही आहारादि लाए, अधिक नहीं। कभी-कदाच भिक्षा में अधिक आहार आ जाए और उस अवशिष्ट भाग को परित्यक्त करने की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो गुरु आज्ञा से तपस्वी मुनि को वह आहार ग्रहण कर लेना चाहिए। यह पारिष्ठापनिकाकार आगार है।

प्रत्याख्यानभाष्य के अनुसार विधिपूर्वक ग्रहण की गई एवं विधिपूर्वक उपभोग की गई भिक्षा में से कुछ शेष बच जाए तो वह परिष्ठापन योग्य होती है। इसके चार विकल्प बनते हैं–

1. विधि ग्रहित और विधि भुक्त
2. विधि ग्रहित और अविधि भुक्त
3. अविधि ग्रहित और विधि भुक्त
4. अविधि ग्रहित और अविधि भुक्त

उक्त चतु:विकल्पों में प्रथम विकल्प वाला आहार ही इस आगार में कल्प्य है, शेष तीन नहीं।[68]

प्रस्तुत आगार के सम्बन्ध में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि यदि आहार बच जाए तो उसे तुरन्त विसर्जित नहीं करना चाहिए। बल्कि मुनि आचार के अनुसार क्रमशः कम से अधिक तपस्या करने वाला मुनि उस अवशिष्ट आहार को ग्रहण करें। जैसे सबसे पहले बियासना करके उठ जाने वाला मुनि उसे उदर में समा सके तो वह ग्रहण करें। उसके अभाव में एकासना, नीवि, आयंबिल करने वाला मुनि उस अवशिष्ट आहार को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखें, क्योंकि आहार को परठने से बहुत दोष लगता है। जबकि अपवादतः हिंसा दोष से बचने के लिए प्रत्याख्यान भंग करके भी बचे हुए आहार का भोजन करें तो लाभ मिलता है। यदि अन्य साधु न हों अथवा अवशिष्ट आहार को कोई ग्रहण ही न कर सकें तब परिष्ठापनिका आगार का उपयोग करना चाहिए।

12. चोलपट्टागार– चोल – पुरुषचिह्न और पट्ट – उस अंग विशेष को ढकने वाला वस्त्र चोलपट्ट कहलाता है। अभिग्रहधारी मुनि निर्वस्त्र होकर आहार के लिए बैठा हो और उस समय कोई गृहस्थ आ जाए तो तुरन्त उठकर चोलपट्ट धारण कर लेना चोलपट्टागार है।

यह आगार मुनि के लिए है, गृहस्थ श्रावक के लिए नहीं। वर्तमान की श्वेताम्बर परम्परा में निर्वस्त्री मुनि की परम्परा विच्छिन्न हो गई है अतः प्रत्याख्यानसूत्र में प्रस्तुत आगार का उच्चारण नहीं किया जाता है। यद्यपि प्रावरणा के पाँच आगार में इसका उल्लेख किया गया है।

13. लेपालेप– लेप का अर्थ है– विकृतिकारक घृत आदि एवं कांजी आदि के द्वारा लिप्त पात्र और अलेप का अर्थ है– हाथ आदि के द्वारा निर्लेप

किया हुआ पात्र। पहले जिस पात्र में विगय आदि रखी हो और बाद में उसे खाली करके निर्लेप कर दिया हो, फिर भी उसमें घृतादि की चिकनाहट या कण रह गए हों, ऐसे पात्र में आयंबिल का भोजन डालकर दिया गया आहार ग्रहण करना, लेपालेप आगार है।

यह आगार रखने पर आयंबिल के भोजन में यदि विगय के अवयव भी आ जाये तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

पंचाशक टीका में लेपालेप की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भोजन करने योग्य पात्र विकृति अथवा आर्द्र हाथ आदि से खरडित हो तो आयंबिल कर्त्ता के लिए अकल्पनीय होने से लेप कहलाता है और उसी खरडित पात्र को हाथ आदि से स्वच्छ करने पर अलेप कहलाता है। उसमें से दूसरे पात्र में भोजन ग्रहण करते हुए विगई आदि का अंश रह जाए, तदुपरांत भी व्रत भंग नहीं होता है।[69]

प्रत्याख्यान भाष्य में लेपालेप आगार का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि 'खरडिय-लूहिअ–डोवाइ-लेप'– अकल्प्य पदार्थ से खरडित पात्र को कडछी आदि से साफ करके, उसमें प्रक्षिप्त किया गया आहार ग्रहण करना लेपालेप है। इस प्रकार का आहार लेने से आयंबिल व्रत का भंग नहीं होता है।[70]

14. गृहस्थ संसृष्ट– गृहस्थ-भोजनदाता, संसृष्ट–मिश्र हुआ, विकृति से मिश्र हुआ। गृहस्थ विगय आदि अकल्प्य वस्तु से लिप्त करछुल आदि पात्र के माध्यम से आयंबिल का आहार दे रहा हो तो वह गृहस्थ संसृष्ट आगार है।

आवश्यकनिर्युक्ति में संसृष्ट-असंसृष्ट की परिभाषा करते हुए कहा है– रूक्ष चावल आदि से दूध, दही आदि विकृतियाँ चार अंगुल ऊँची रहे, तब तक संसृष्ट और तेल, घृत आदि एक अंगुल ऊँचा रहे तब तक असंसृष्ट कहलाती है। आयंबिल तप में संसृष्ट मिश्रित आहार ग्रहण करने में आ जाए तो भी व्रत भंग नहीं होता है।[71]

15. उत्क्षिप्तविवेक– उत् + क्षिप्त का अर्थ है– उठाई गयी, विवेक का अर्थ है– सर्वथा पृथक् करना। शुष्क ओदन या रोटी आदि पर गुड़ तथा शक्कर आदि शुष्क विकृति पहले से रखी गई हो, तो उसे अच्छी तरह से उठा लेने के पश्चात वह दिया गया आहार ग्रहण करना, उत्क्षिप्तविवेक आगार है।

इस आगारयुक्त ग्रहण की गई रोटी आदि पर गुड़ आदि का अंश या लेप लगा हुआ रह जाए, तो भी आयंबिल खंडित नहीं होता, परन्तु समग्र रूप से

उठा न सके या पृथक् न कर सके उस तरह की आर्द्र विगई रखी गई हो, तो रूक्ष रोटी आदि ग्रहण नहीं कर सकते हैं। इससे व्रतभंग होता है।

16. लेपकृत– चावल, तिल, खजूर, द्राक्ष आदि का धोया हुआ पानी जो पात्र को कुछ चिकना बनाता है, वैसा गृहस्थ द्वारा बहराया गया जल ग्रहण करना अथवा उसके स्वयं के द्वारा ऐसे पानी का उपयोग करना, लेपकृत आगार है। मुनि हमेशा अचित्त जल ही पीते हैं, गृहस्थ भी एकासन आदि में अचित्त जल का उपयोग करते हैं। पाणाहार के पच्चक्खाण में लेपकृत आदि छः प्रकार के अपवाद रखे गये हैं, जिससे अमुक-अमुक प्रकार का जल पीने में आ जाए तो उपवास आदि प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।

17. अलेपकृत– कांजी, छाछ के ऊपर का पानी, राख का पानी आदि, जिसमें खाद्य वस्तुओं के कण आदि रहने की शक्यता ही नहीं रहती है, उपवास आदि में वैसा जल ग्रहण करना अलेपकृत आगार है।

18. अच्छ– अच्छ अर्थात स्वच्छ, तीन बार उबाला हुआ जल ग्रहण करना अच्छ आगार है।

19. बहुलेप– बहुल अर्थात धोवण। चावल, तिल आदि का धोया हुआ पानी ग्रहण करना बहुलेप आगार है।

20. ससिक्थ– सिक्थ अर्थात धान्यकण, जिस पानी में पके हुए चावल आदि के कण रह गए हो, वैसा जल ग्रहण करना अथवा पकाए हुए चावल या मांड़ दाना या ओसामण युक्त पानी को वस्त्र से छानकर उपयोग करना ससिक्थ आगार है।

21. असिक्थ– आटे के कण का नितरा हुआ पानी अथवा पूर्वोक्त प्रकार का छाना हुआ पानी ग्रहण करना असिक्थ आगार है।

22. प्रतीत्यम्रक्षित– प्रतीत्य–अपेक्षाकृत, सर्वथा रूक्ष मांड आदि की अपेक्षा, म्रक्षित – चुपड़ा हुआ। बिल्कुल रूक्ष की अपेक्षा थोड़ा (नहीं के बराबर) चुपड़ा हुआ आहार नीवि में ग्रहण करना प्रतीत्यम्रक्षित आगार है।[72]

इन बाईस आगारों का वर्णन इसलिए किया गया है कि नवकारसी से नीवि पर्यन्त दस प्रकार के प्रत्याख्यान में अनिच्छा एवं अज्ञानता वश उपरोक्त दोष (अतिचार) लगने की संभावना रहती हैं, अतः जैन मत में इन्हें आगार रूप माना गया है। प्रत्याख्यान लेते समय पहले से ही उन दोषों की छूट रख दी जाए

तो प्रत्याख्यान अभग्न रहता है इस तरह की जानकारी बनी रहे।[73]

कुछ आचार्यों की मान्यतानुसार लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थसंसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार और चोलपट्टागार- ये पाँच आगार साधु के लिए ही है, गृहस्थ के लिए नहीं।

प्रत्याख्यान में आगार रखने का प्रयोजन

प्रत्याख्यान गुण प्राप्ति एवं दोष विमुक्ति का अमोघ उपाय है, अन्तिम लक्ष्य की संसिद्धि का अनन्य हेतु है और विरति मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होने के लिए विशिष्ट नियम रूप है। आचार्य हरिभद्रसूरिजी प्रत्याख्यान में आगार (अपवाद) रखने का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि नियम भंग करने से अशुभ कर्मबन्ध आदि अनेक दोष लगते हैं क्योंकि उसमें तीर्थंकर आज्ञा की विराधना होती है। वहीं इसके विपरीत कितनी ही बार छोटे नियमों का पालन करने से भी कर्म-निर्जरा रूप महान लाभ हो जाता है, यदि उन प्रत्याख्यानों के प्रति विशुद्ध एवं शुभ अध्यवसाय हो।[74]

धर्म के क्षेत्र में भी लाभ और अलाभ का अवश्य विचार करना चाहिए। जिसमें अधिक लाभ हो, वैसा करना चाहिए। एकान्त आग्रह रखने से हानि होती है। इसीलिए प्रत्याख्यान में आगार रखे गये हैं।

प्रत्याख्यान में आगार रखने का दूसरा प्रयोजन यह है कि संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने प्रमाद दशा का खूब अभ्यास किया है, प्रमाद का अतिशय अभ्यास होने के कारण गृहीत व्रत आदि में स्खलना होना स्वाभाविक है, जबकि आगार रखने से अतिचार या दोष लगने की संभावना नहींवत रह जाती है।

तीसरा कारण यह है कि प्रत्याख्यान भंग से आज्ञा भंग, अनवस्था, मिथ्यात्व आदि दोष लगते हैं तथा आज्ञाभंग आदि दोषों से मनुष्य जन्मादि विफल होते हैं, जबकि पहले से रखी गई छूट से आज्ञाभंग आदि दोष की संभावना न्यून हो जाती है।

प्रमादी की दीक्षा कैसे? यहाँ कोई प्रश्न करता है कि नवकारसी आदि जैसे छोटे प्रत्याख्यानों का भी बिना आगार के पालन नहीं हो सकता है, तब जो जीव प्रमादी हो, उसकी दीक्षा कैसे हो सकती है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि प्रमादी जीवों की दीक्षा चारित्र परिणाम से होती है। दूसरे, चारित्र

के परिणाम मात्र से प्रमाद दशा का परिहार तो नहीं होता है, किन्तु प्रमाद उच्छेद के लिए प्रयत्नशील बने हुए मुनियों को चारित्र के माध्यम से गृहीत प्रत्याख्यान का यथावत पालन करना चाहिए, यही अप्रमत्त भाव का सेवन है।[75]

प्रत्याख्यान साधुओं को भी लाभकारी कैसे? प्रस्तुत सन्दर्भ में कोई यह प्रश्न भी करता है कि पाप से बचने के लिए प्रत्याख्यान है और साधुओं ने सभी पाप व्यापार के त्याग रूप सामायिक को स्वीकार किया है, तो उन साधुओं के लिए प्रत्याख्यान की आवश्यकता क्या है? **समाधान–** आचार्य हरिभद्र सूरिजी कहते हैं कि समस्त पाप व्यापारों के त्यागरूप सामायिक में भी यह प्रत्याख्यान भगवदाज्ञा होने से तथा अप्रमाद की वृद्धि का कारण होने से श्रेयकारी ही है। भगवान की आज्ञा का अनुसरण करने में ही धर्म है।[76]

पंचाशक प्रकरण में इस प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि प्रत्याख्यान से सामायिक में अप्रमाद की वृद्धि होती है, इसमें अनुभव प्रमाण है अर्थात प्रत्याख्यान करने वालों को प्रायः अप्रमाद वृद्धि का अनुभव होता है। इससे आभ्यन्तर और बाह्य– ये दो लाभ होते हैं। अप्रमाद विरति का स्मरण होना आभ्यन्तर लाभ है और अप्रमाद से सम्पूर्णतया शुद्ध प्रवृत्ति होना, बाह्य लाभ है। यद्यपि सामायिक में रहते हुए साधु अशुद्ध प्रवृत्ति का त्याग कर देता है, फिर भी प्रमाद, रोग, असमर्थता आदि कारणों से अथवा दूषित आहार के सेवन आदि से मुनि जीवन में दोष आ जाना सम्भव है। प्रत्याख्यान से इन सबका निर्गमन हो जाता है और सत्त्व गुण की अभिवृद्धि होती है।[77]

तप प्रत्याख्यान के समान दीक्षा की प्रतिज्ञा में आगार क्यों नहीं? यहाँ किसी का प्रश्न है कि नवकारसी आदि अल्पकालीन प्रत्याख्यान है, फिर भी इन अल्पकालिक-प्रत्याख्यानों को आगार सहित लेने का विधान है, तब सामायिक तो जीवन पर्यन्त के लिए होती है उसमें आगार क्यों नहीं? **समाधान** आगारों की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ भंग का प्रसंग हो। सर्वसावद्य योग के त्यागरूप सामायिक में शत्रु-मित्र आदि सभी पदार्थों के प्रति जीवनपर्यन्त समभाव होने के कारण प्रत्येक प्रवृत्ति समभावपूर्वक ही होती है। रूग्णादि के समय अपवाद का सेवन करना पड़े तो वह भी समभाव पूर्वक ही होता है। इसलिए सामायिक खण्डित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है और इसीलिए वहाँ आगारों (अपवादों) की जरूरत भी नहीं रहती है अतः इसमें असंगति नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि सामायिक अपेक्षा रहित है क्योंकि सामायिक में सभी पदार्थों पर समभाव होता है अत: उसमें अपवाद की अपेक्षा नहीं रहती हैं

शंका– इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है कि सर्वसावद्ययोग का त्याग सर्वकाल के लिए नहीं होता है,क्योंकि इसमें जावज्जीवाए– जीवनपर्यन्त इस प्रकार काल मर्यादा है। इसलिए इसमें वर्तमान जीवन पूर्ण होने के बाद 'मैं पाप करूंगा'– ऐसी अपेक्षा है।यदि इस जीवन के बाद भी पाप करने की अपेक्षा न हो तो यावज्जीवन कहकर उसे मर्यादित करने की क्या आवश्यकता है। अत: यावज्जीवन शब्द के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता है कि 'सामायिक अपेक्षा से रहित है।'

समाधान– सामायिक में जीवन पर्यन्त ऐसी मर्यादा प्रतिज्ञा भंग के भय से रखी जाती है न कि अपेक्षा से। क्योंकि जीवन पूर्ण होने के बाद यदि मोक्ष नहीं मिला तो निश्चित पाप-प्रवृत्ति होना है इसलिए सामायिक काल मर्यादापूर्वक होने पर भी निरपेक्ष है।

सामायिक में आगारों की अनावश्यकता को सिद्ध करने हेतु सुभट का दृष्टान्त समझने योग्य है। सामायिक सुभट भाव के समान है। युद्धकाल में योद्धा के हृदय में जैसा भाव होता है वैसा ही भाव सामायिक को स्वीकार करने वाले के मन में होता है। सुभट (योद्धा) के हृदय में 'मरना' या 'विजय प्राप्त करना'– ये दो निर्णय होते हैं। ऐसे निर्णय वाले योद्धा के मन में शत्रु का आक्रमण होने पर भी पीछे हट जाना, डर जाना आदि विचार आते ही नहीं हैं उसी प्रकार साधु को भी सामायिक में 'मरना' या 'कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना'– ये दो निर्णय होते हैं अर्थात मृत्यु प्राप्त कर लूंगा, किन्तु सामायिक भंग नहीं करूंगा– ऐसा दृढ़ निश्चय होता है।[78]

प्रत्याख्यान में आगार मूलभाव के बाधक कैसे नहीं होते हैं? आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रत्याख्यान में आगार समभाव के बाधक हैं'– इस मान्यता का निराकरण भी किया है। वे कहते हैं कि मरना या विजय प्राप्त करना– ऐसे संकल्प वाला योद्धा विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध में प्रवेश करता है, कभी मौका देखकर निकल भी जाता है, कभी स्वयं लड़ना बन्द कर देता है, कभी शत्रु को रोकता है– इस प्रकार अनेक अपवादों का सेवन करता है, लेकिन उन अपवादों से उसके मूल संकल्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

उसी प्रकार नवकारसी आदि प्रत्याख्यान के आगार (अपवाद) उसके मूल भाव को प्रभावित नहीं करते हैं।[79]

सामायिक (दीक्षा) में पतन की सम्भावना होने पर भी अपवाद क्यों नहीं?

शंका– कोई प्रश्न करता है कि यद्यपि सामायिक योद्धा के अध्यवसाय के समान है फिर भी कालान्तर में किसी जीव का पतन सम्भव है, इसलिए सामायिक को सापवाद मानना ही उपयुक्त है?

समाधान– इसका सटीक जवाब यह है कि साधु के द्वारा सामायिक का पालन करते समय और योद्धा के द्वारा युद्ध करते समय किसी कारणवश (साधु के पक्ष में परीषह आदि और योद्धा के पक्ष में शत्रुभय आदि कारणों से) दोनों प्रतिज्ञाओं (मरण और विजय) का अभाव हो जाए,तो भी साधु के सामायिक स्वीकार करते समय और योद्धा के युद्ध में प्रवेश करते समय उसका भाव उक्त प्रतिज्ञाओं से आबद्ध होता है अर्थात मरना या विजय प्राप्त करना, ऐसा ही भाव होता है। उस समय किसी अपवाद स्वीकार का भाव नहीं होता है, इसलिए सामायिक में आगार रखना या उसे सापवादिक मानना युक्त नहीं है।[80]

इस वर्णन के स्पष्ट बोध हेतु यह समझ लेना भी आवश्यक है कि साधु को सामायिक स्वीकार करते समय और योद्धा को युद्ध में प्रवेश करते समय कर्म क्षयोपशम का ही भाव होता है जिससे भविष्य में किसी तरह के अपवाद की अपेक्षा के बिना मरना या विजय पाना– ऐसा अध्यवसाय हो जाता है। वह यह नहीं सोचता कि उसे अपवाद स्वीकार करने पड़ेंगे।

सारांश है कि प्रत्याख्यान नियम रूप है और सामायिक सर्वसावद्ययोग के त्याग रूप है। प्रत्याख्यान अल्पकालिक या यावत्कालिक उभय कोटि का हो सकता है, किन्तु सर्वविरति रूप सामायिक यावत्कालिक ही होती है। प्रत्याख्यान में अनेक तरह से दोष लगने की शक्यता रहती है परन्तु सर्वविरति सामायिक में अप्रमाद की वृद्धि होने के फलस्वरूप सतत जागरूकता बनी रहती है। इन्हीं भेद विवक्षा के कारण प्रत्याख्यान में आगार रखे गये हैं जबकि सामायिक के लिए किसी अपवाद की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती।

प्रत्याख्यान के विकल्प

भविष्य में हो सके ऐसे अनुचित आचरण का त्याग करना प्रत्याख्यान है अत: प्रत्याख्यान का मुख्य सम्बन्ध भविष्यकाल से है। यद्यपि तीनों कालों को विषय करके प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है जैसे– **'अईअं निंदामि'–** अतीतकाल में अनुचित आचरण किया गया हो, तो उसकी निन्दा और गर्हा करता हूँ, **'पडुप्पन्नं संवरेमि'** – वर्तमान काल में किए जा रहे अनुचित आचरण को रोकता हूँ और **'अणागयं पच्चक्खामि'** – भविष्य काल में अनुचित आचरण का त्याग करता हूँ। इस प्रकार सभी प्रत्याख्यानों में भूतकाल की निन्दा, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान, ऐसे त्रिकालविषयक प्रत्याख्यान होता है।

अब विवेच्य यह है कि त्रिकालविषयक प्रत्याख्यान कितने प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है? जैन विचारणा के अनुसार 147 प्रकार से प्रतिज्ञा ली जा सकती है। प्रत्याख्यान के मूल भंग 49 हैं, उन्हें तीनों कालों से जोड़ने पर 147 विकल्प होते हैं। दूसरे, इन विकल्पों को ग्रहण करने की नवकोटियाँ है। नवकोटियों में से किसी भी कोटि द्वारा प्रत्याख्यान ग्रहण किया जा सकता है। पच्चक्खाणभाष्य के अनुसार प्रत्याख्यान की नवकोटि और प्रत्याख्यान के 49 विकल्प निम्न प्रकार हैं–

(i) **प्रत्याख्यान की नवकोटि–** प्रत्याख्यान एक कोटि से नवकोटि पर्यन्त इस प्रकार लिये जाते हैं–

एक कोटि का प्रत्याख्यान– काया से करूंगा नहीं।

दो कोटि प्रत्याख्यान– वचन से करूंगा नहीं, काया से करूंगा नहीं।

तीन कोटि प्रत्याख्यान– मन से करूंगा नहीं, वचन से करूंगा नहीं, काया से करूंगा नहीं।

चार कोटि प्रत्याख्यान– उक्त तीन कोटि पूर्वक काया से कराऊंगा नहीं।

पाँच कोटि प्रत्याख्यान– उक्त चार कोटि पूर्वक वचन से कराऊंगा नहीं।

छ: कोटि प्रत्याख्यान– उक्त पाँच कोटि पूर्वक मन से कराऊंगा नहीं।

सात कोटि प्रत्याख्यान– उक्त छह कोटि पूर्वक काया से अनुमोदन करूंगा नहीं।

आठ कोटि प्रत्याख्यान– उक्त सात कोटि पूर्वक वचन से अनुमोदन करूंगा नहीं।

नव कोटि प्रत्याख्यान- उक्त आठ कोटि पूर्वक मन से अनुमोदन करूंगा नहीं।

नवकोटि प्रत्याख्यान करने वाला साधक मन, वचन और काया से न पापकर्म करता है, न करवाता है और न पापकर्म करने वाले को सम्यक् मानता है।

(ii) प्रत्याख्यान के उनपचास भंग– मन, वचन और काया- ये तीन योग कहलाते हैं तथा करना नहीं, करवाना नहीं और अनुमोदन करना नहीं- ये तीन करण कहलाते हैं। इन तीन करण और तीन योग के संयोग से प्रत्याख्यान के 49 विकल्प बनते हैं, वे निम्नानुसार हैं-

एक करण – एक योग = नव भंग– 1. मन से करूंगा नहीं 2. वचन से करूंगा नहीं 3. काया से करूंगा नहीं 4. मन से कराऊंगा नहीं 5. वचन से कराऊंगा नहीं 6. काया से कराऊंगा नहीं 7. मन के अनुमोदन करूंगा नहीं 8. वचन से अनुमोदन करूंगा नहीं 9. काया से अनुमोदन करूंगा नहीं।

एक करण - दो योग = नव भंग– 1. मन-वचन से करूंगा नहीं 2. मन-काया से करूंगा नहीं 3. वचन-काया से करूंगा नहीं 4. मन-वचन से कराऊंगा नहीं 5. मन-काया से कराऊंगा नहीं 6. वचन-काया से कराऊंगा नहीं 7. मन-वचन से अनुमोदन करूंगा नहीं 8. मन-काया से अनुमोदन करूंगा नहीं 9. वचन-काया से अनुमोदन करूंगा नहीं।

एक करण–तीन योग = तीन भंग–1. मन-वचन-काया से करूंगा नहीं 2. मन-वचन-काया से कराऊंगा नहीं 3. मन-वचन-काया से अनुमोदन करूंगा नहीं।

दो करण-एकयोग = नवभंग– 1. मन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 2. वचन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 3. काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 4. मन से करूंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 5. वचन से करूंगा नहीं, अनुमोदन भी करूंगा नहीं 6. काया से करूंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 7. मन से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 8. वचन से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 9. काया से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

दो करण - दो योग = नवभंग– 1. मन से, वचन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 2. मन से, काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 3. वचन से

काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 4. मन से, वचन से करूंगा नहीं, अनुमोदुंगा नहीं 5. मन से, काया से करूंगा नहीं, अनुमोदुंगा नहीं 6. वचन से, काया से करूंगा नहीं, अनुमोदुंगा नहीं 7. मन से, वचन से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 8. मन से, काया से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 9. वचन से, काया से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

दो करण-तीन योग = तीन भंग– 1. मन-वचन-काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं 2. मन-वचन-काया से करूंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 3. मन-वचन-काया से कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

तीन करण–एक योग = तीन भंग– 1. मन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 2. वचन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 3. काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

तीन करण–दो योग = तीन भंग– मन से, वचन से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 2. मन से, काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं 3. वचन से, काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

तीन करण–तीन योग=एक भंग– मन से , वचन से, काया से करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन करूंगा नहीं।

इस प्रकार 9+9+3+9+9+3+3+3+1 मिलकर कुल उनपचास विकल्प होते हैं। फिर इन भंगों की तीन काल के साथ गणना करने पर 49×3=147 विकल्प होते हैं।[81]

प्रत्याख्यान पाठ की उच्चारविधि

प्रत्याख्यान के नवकारसी आदि मुख्य दस प्रकार बतलाये गये हैं। ये प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा पाठ पूर्वक उच्चरित (स्वीकृत) किये जाते हैं। यहाँ उच्चारविधि से तात्पर्य-प्रतिज्ञा पाठ के प्रारम्भिक पाठांश या वाक्यांश से है। पच्चक्खाण भाष्य के अनुसार प्रतिज्ञा-पाठों का प्रारम्भ भिन्न-भिन्न चार प्रकार से होता है। इसे ही उच्चारविधि कहा गया है। प्रस्तुत भाष्य में उच्चारविधि के निम्न दो प्रकार निरूपित हैं–

प्रथम प्रकार– 'उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ' (मि)– यह प्रथम उच्चारविधि है।

'पोरिसिं पच्चक्खामि उग्गए सूरे' अथवा 'उग्गए सूरे पोरिसिअं पच्चक्खामि'– यह दूसरी उच्चारविधि है।

'सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खामि'– यह तीसरी उच्चारविधि है।

'सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पच्चक्खामि'– यह चौथी उच्चारविधि है।

पहली उच्चारविधि नवकारसी सम्बन्धी, दूसरी पौरुषी-साढपौरुषी सम्बन्धी, तीसरी पुरिमड्ढ-अवड्ढ सम्बन्धी और चौथी उपवास सम्बन्धी है।

ऊपर वर्णित उच्चारविधि के अन्तर्गत प्रारम्भिक दो उच्चारविधि में 'उग्गएसूरे' पाठ है। इसका परम्परागत अभिप्राय यह है कि सूर्योदय से पूर्व गृहीत प्रत्याख्यान ही शुद्ध गिना जाता है। अन्तिम दो उच्चारविधि में 'सूरे उग्गए' पाठ है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्योदय के अनन्तर भी प्रत्याख्यान का संकल्प एवं उसे ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार 'उग्गए सूरे' और 'सूरे उग्गए' ये दोनों पाठ 'सूर्योदय से प्रारम्भ कर' इस अर्थ में समान होने पर भी क्रियाविधि में अन्तर होने से– उक्त दोनों पाठों का भेद सार्थक हेतु वाला है।[82]

द्वितीय प्रकार– प्रत्याख्यान पाठ में गुरु-शिष्य के वचन रूप में भी चार प्रकार की उच्चार विधि होती है– प्रत्याख्यान पाठ उच्चरित करते समय गुरु 'पच्चक्खाइ' कहे, तब शिष्य 'पच्चक्खामि' ऐसा कहे। इसी तरह गुरु 'वोसिरइ' कहे, तब शिष्य 'वोसिरामि' कहे। यहाँ प्रसंगवश यह ज्ञात कर लेना आवश्यक है कि प्रत्याख्यान ग्रहण करते हुए प्रत्याख्यानी का उपयोग ही प्रमाणभूत है। यदि प्रत्याख्यान पाठ उच्चरित करवाते समय अक्षर स्खलित हो जाए तो वह स्वीकार करने योग्य नहीं है। उदाहरणार्थ चउविहार उपवास का प्रत्याख्यान लेते समय पाठ में 'तिविहार उपवास' बोल दिया जाए अथवा 'तिविहार उपवास' का प्रत्याख्यान लेते समय पाठ में 'चउविहार उपवास' बोल दिया जाए अथवा एकासन के स्थान पर बियासन और बियासन के स्थान पर एकासन का पाठ भूलवश बोल दिया जाए तदुपरान्त भी प्रत्याख्यानी के द्वारा जिस प्रत्याख्यान का संकल्प किया गया है वही प्रमाणभूत होता है, शब्द स्खलना से प्रत्याख्यान में फेरफार नहीं होता है।[83]

प्रत्याख्यान के उच्चारस्थान

उच्चारस्थान का शब्दानुसारी अर्थ उच्चारण करने योग्य या उच्चरने योग्य स्थान है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उक्त अर्थ ही ग्राह्य है। पूर्व वर्णन के अनुसार आहार

के चारों प्रकारों का त्याग (प्रत्याख्यान) इक्कीस प्रकार से किया जा सकता है। इन प्रत्याख्यानों के ग्रहण पाठ अलग-अलग नहीं है, अपितु मुख्य पाँच आलापक हैं अत: इक्कीस में से किसी भी प्रत्याख्यान को उच्चरित (ग्रहण) करते समय मुख्य रूप से पाँच आलापकों (प्रतिज्ञा पाठों) का उपयोग होता है, वे पाँच प्रतिज्ञा पाठ ही पाँच उच्चारस्थान कहे जाते हैं।

दूसरी परिभाषा के अनुसार एकाशन आदि बड़े पच्चक्खाणों के अन्तर्गत उपविभाग के रूप में पृथक्-पृथक् पाँच प्रकार के प्रत्याख्यान उच्चारित करवाये जाते हैं, वे पाँच स्थान कहलाते हैं और उन पाँच प्रत्याख्यानों के भिन्न-भिन्न आलापक (प्रतिज्ञा पाठ) पाँच प्रकार के उच्चारस्थान कहलाते हैं। उदाहरणार्थ- एकासन के प्रत्याख्यान में सर्वप्रथम 'नमुक्कारसहिय पोरिसी' आदि एक अद्धा प्रत्याख्यान और 'मुट्ठीसहियं' आदि एक संकेत प्रत्याख्यान उच्चारित करवाया जाता है- इन दोनों का प्रथम उच्चार स्थान गिना जाता है। उसके पश्चात विगय (विकृति) त्याग का प्रत्याख्यान करवाया जाता है, यह दूसरा उच्चारस्थान है। उसके बाद एकाशन का प्रतिज्ञा पाठ उच्चारित करवाया जाता है, यह तीसरा उच्चारस्थान है। तदनन्तर पाण-आहार का प्रतिज्ञा पाठ उच्चारित करवाया जाता है, यह चौथा उच्चारस्थान है। इस प्रकार चार प्रत्याख्यान के चार आलापक प्रात:काल में एक साथ उच्चारित किये जाते हैं तथा प्रात: और सन्ध्या को देशावगासिक अथवा सन्ध्या को दिवसचरिम या पाणहार का प्रत्याख्यान उच्चारित करवाया जाता है, यह पाँचवाँ उच्चारस्थान है। इस तरह एक एकासन प्रत्याख्यान में पाँच पेटा प्रत्याख्यान पाँच स्थान कहे जाते हैं और उन पाँच प्रत्याख्यानों के पाँच प्रतिज्ञा पाठों को पाँच उच्चारस्थान कहा जाता है।

प्रत्येक उच्चारस्थान के अलग-अलग भेद हैं।

भक्तार्थी की अपेक्षा

प्रथम उच्चारस्थान तेरह भेदवाला कहा गया है- नवकारसी, पौरूषी, साढपौरूषी, पुरिमड्ढ, अवड्ढ और अंगुष्ठसहित आदि आठ सांकेतिक- कुल 13 प्रकार (उच्चार भेद) हैं।

द्वितीय उच्चारस्थान में नीवि, विगय और आयंबिल- इन तीन प्रत्याख्यानों के आलापक उच्चरित करवाए जाते हैं।

तृतीय उच्चारस्थान में– बियासना, एकासना और एकलठाणा इन तीन प्रत्याख्यानों के आलापक कहे जाते हैं।

चतुर्थ उच्चारस्थान में– 'पाणस्स' का आलापक बोला जाता है। पंचम उच्चारस्थान में – 'देशावगासिक' का प्रतिज्ञापाठ कहा जाता है।

इस प्रकार पाँच मूल उच्चार स्थानों के 21 भेद होते हैं। प्रथम उच्चारस्थान में प्राय: चार प्रकार के आहार का त्याग होता है। द्वितीय उच्चारस्थान में छ: भक्ष्य विगइयों में से एक का भी परित्याग न किया हो, फिर भी चार अभक्ष्य महा विगइयों का त्याग तो प्राय: सभी को करना चाहिए, उस अपेक्षा से विगय त्याग का आलापक कहा जाता है। तृतीय उच्चारस्थान में एकासन, बियासन, एकलस्थान आदि प्रत्याख्यान तिविहार या चौविहार पूर्वक किया जाता है। यहाँ तिविहार या चउविहार प्रत्याख्यान का अभिप्राय यह है कि एकासन आदि करने के पश्चात पानी के सिवाय त्रिविध आहार का या पानी सहित चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है।

चतुर्थ उच्चार स्थान में 'पाणस्स' आदि से सचित्त पानी का त्याग रूप प्रत्याख्यान किया जाता है और पंचम उच्चारस्थान में पहले से निश्चित किए सचित्त द्रव्य आदि का त्याग किया जाता है अथवा सचित्त आदि द्रव्यों का संक्षेप रूप चौदह नियम का प्रत्याख्यान किया जाता है।

उपर्युक्त पाँच स्थान भोजन करने वाले साधकों की अपेक्षा जानने चाहिए।[84]

अभक्तार्थी की अपेक्षा

उपवास या षष्ठभक्त आदि तप करने वाले साधकों के लिए चार उच्चारस्थान होते हैं। पच्चक्खाणभाष्य में उपवास के प्रत्याख्यान में भी सन्ध्या को पाणहार के प्रत्याख्यान पूर्वक पाँच उच्चार स्थान कहे हैं। तदनुसार उपवास के प्रथम उच्चारस्थान में चतुर्थभक्त (उपवास) से लेकर चौत्रीश भक्त (16 उपवास) तक का प्रत्याख्यान, दूसरे उच्चारस्थान में नवकारसी आदि तेरह प्रत्याख्यान,तीसरे उच्चार स्थान में सचित्त पानी के त्याग रूप 'पाणस्स' आदि का प्रत्याख्यान, चौथे उच्चारस्थान में देशावगासिक का प्रत्याख्यान और पाँचवें उच्चारस्थान में यथासंभव सन्ध्याकालीन पाणहार या चौविहार का प्रत्याख्यान किया जाता है।[85]

उक्त वर्णन का स्पष्टार्थ यह है कि यदि उपवास में चारों आहारों का त्याग किया हो, तो उस प्रत्याख्यान में उपवास का उच्चार (प्रतिज्ञा पाठ) और

देशावगासिक का उच्चार ऐसे दो उच्चारस्थान ही होते हैं, परन्तु उपवास में पानी की छूट रखी हो, तो उसका प्रत्याख्यान पाँच उच्चार स्थान युक्त होता है।

पुनश्च पहला उच्चारस्थान वर्तमान काल की अपेक्षा 16 प्रकार का अर्थात अन्तिम तीर्थंकर के शासन में संघयण बल आदि का उत्तरोत्तर ह्रास होने के कारण एक साथ 16 उपवास से अधिक तप का प्रत्याख्यान करवाने की आज्ञा नहीं है। दूसरा उच्चारस्थान 13 प्रकार का तथा तीसरा, चौथा एवं पांचवाँ- ये तीन उच्चारस्थान एक-एक प्रकार के हैं।

जनसामान्य के सुगम बोध के लिए किस प्रत्याख्यान में कितने उच्चारस्थान होते हैं, वह तालिका निम्नोक्त है-

प्रत्याख्यान नाम	**उच्चारस्थान**
एकासना में 5 उच्चारस्थान-	• प्रथम स्थान नवकारसी आदि पाँच और संकेत आदि आठ प्रत्याख्यान का होता है। • दूसरा स्थान विगयत्याग प्रत्याख्यान का होता है। • तीसरा स्थान एकाशना, बिआसना एवं एकलठाणा प्रत्याख्यान का होता है। • चौथा स्थान पाणस्स प्रत्याख्यान का होता है। • पांचवाँ देशावगासिक या दिवसचरिम प्रत्याख्यान का होता है।
बिआसना में 5 उच्चारस्थान-	एकासन के समान समझना चाहिए।
एकलठाणा में 5 उच्चारस्थान-	एकासन के समान समझना चाहिए।
आयंबिल में 5 उच्चारस्थान-	एकासन के समान, परन्तु दूसरा उच्चार स्थान आयंबिल प्रत्याख्यान का होता है।
नीवि में 5 उच्चारस्थान-	एकासन के समान होते हैं, परन्तु दूसरा उच्चारस्थान आयंबिल प्रत्याख्यान का होता है।
तिविहार उपवास में 5 उच्चारस्थान-	पहला एक उपवास से सोलह उपवास पर्यन्त प्रत्याख्यान का होता है, दूसरा

नवकारसी आदि तेरह प्रत्याख्यान का, तीसरा पाणस्स का, चौथा देसावगासिक प्रत्याख्यान का, पांचवाँ दिवसचरिम या भवचरिम प्रत्याख्यान का होता है।

चौविहार उपवास में 2 उच्चारस्थान– उपवास और देशावगासिक प्रत्याख्यान के होते हैं।

पाणस्स प्रत्याख्यान ग्रहण करने के स्थान

अचित्त पानी पीने सम्बन्धी प्रत्याख्यान ग्रहण करना पाणस्स प्रत्याख्यान कहलाता है। इस प्रत्याख्यान में छः आगार (अपवाद) रखे जाते हैं। प्रत्याख्यान भाष्य के अनुसार यह प्रत्याख्यान निम्न स्थितियों में ग्रहण किया जाता है–

1. तिविहार उपवास का प्रत्याख्यान करते समय,
2. एकासन आदि करने के पश्चात तिविहार का प्रत्याख्यान करते समय,
3. एकासन आदि दुविध आहार वाला हो, तो उसमें भी अचित्त भोजन की अपेक्षा पाणस्स का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।
4. उष्ण जल पीने वाले श्रावकों के द्वारा पाणस्स का प्रत्याख्यान लिया जाना चाहिए।

सामान्यतया अचित्त भोजन के साथ अचित्त जल सेवन का विधान है। एकासना, बियासना, आयंबिल आदि प्रत्याख्यानों में अचित्त भोजन का सेवन किया जाता है इसलिए इन प्रत्याख्यानों में उबाला हुआ अचित्त जल ही पीते हैं। जैनाचार्यों के मतानुसार अचित्त जल का सेवन करने वालों को पाणस्स का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।[86]

प्रत्याख्यान-प्रतिपादन विधि

1444 ग्रन्थों के रचयिता आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार यदि प्रत्याख्यान विषय का प्रतिपादन करना हो, तो सर्वप्रथम प्राणातिपात विरमण आदि पाँच महाव्रत रूप साधु धर्म का प्रतिपादन करें, फिर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करना चाहिए। यदि सर्वप्रथम श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया जाये तो उसे सुनकर श्रोता की मानसिकता में परिवर्तन आ सकता है, वह शक्तिसम्पन्न होने पर भी श्रावक धर्म को स्वीकार करना चाहेगा, साधु धर्म को नहीं। यह कथन मूल गुणों के सन्दर्भ में है।

यदि उत्तरगुणों के सन्दर्भ में प्रतिपादन करना हो, तो भी सर्वप्रथम षाण्मासिक तप की चर्चा करें, फिर जो जिसके योग्य हो, उस तप का वर्णन करना चाहिए।[87]

अनागत आदि प्रत्याख्यानों का प्रतिपादन आगम कथित अर्थ के अनुसार करना चाहिए। जहाँ दृष्टान्त अपेक्षित हो, वहाँ दृष्टान्त का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने से प्रतिपादन विधि की आराधना होती है, अन्यथा विराधना होती है।[88]

प्रत्याख्यान पालन की विधि

प्रत्याख्यान आत्म विशुद्धि का स्थान है, बशर्ते स्वीकृत प्रत्याख्यान का यथाविधि परिपालन किया जाये। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि में गृहीत प्रत्याख्यान के निर्वहन का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है–

1. **स्पृष्ट–** अशुद्ध अध्यवसायों का परिहार करते हुए गृहीत नियम का अखंड पालन करना तथा प्रत्याख्यान को विधिपूर्वक उचित काल में ग्रहण करना, स्पृष्ट शुद्धि है। 2. **पालित–** अवधारित प्रत्याख्यान का प्रयोजन बार-बार ध्यान में रखना एवं तदनुरूप अनुवर्त्तन करना अथवा उसके प्रति बार-बार जागृत रहना,पालित शुद्धि है। 3. **शोभित–** स्वयं के निमित्त लाया गया आहार पहले गुरु आदि को देना, फिर शेष बचा हुआ स्वयं उपभोग करना अथवा गुरु आदि की भक्ति करने के परिणाम से आहार-पानी लाना। इससे प्रत्याख्यान शोभित होता है। 4. **पारित–** प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण होते ही भोजन आदि कर लेना। 5. **तीरित–** प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण हो जाने पर भी धैर्य रखते हुए मुहूर्त्तमात्र के पश्चात आहार करना। 6. **कीर्तित–** भोजन करते समय– 'मैंने यह प्रत्याख्यान किया था, अब वह पूर्ण हो गया है'– इस प्रकार उच्चारण करता हुआ भोजन करें। चूर्णिकार के मत से मौनपूर्वक बिना कुछ कहे भोजन करता है तो वह 'कीर्तित' नहीं कहलाता है। 7. **आराधित–** उपर्युक्त सभी शुद्धियों से युक्त प्रत्याख्यान करना आराधित है। 8. **अनुपालित–** तीर्थंकर पुरुषों के वचनों का बार-बार स्मरण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना।[89]

जो प्रत्याख्यान स्पर्शन आदि गुणों से युक्त होता है, वह सुप्रत्याख्यान कहलाता है। अत: प्रत्येक मुमुक्षु को लघु हो या बृहद्– सभी तरह के नियम-व्रतों का उक्त क्रम से अनुपालन करना चाहिए। विशेष है कि आवश्यकनिर्युक्ति,

प्रवचनसारोद्धार,[90] प्रत्याख्यानभाष्य[91] वगैरह में प्रत्याख्यान शुद्धि के छः प्रकारों का निर्देश है जबकि आवश्यकचूर्णि में पारित और अनुपालित ऐसे दो शुद्धियों को मिलाकर आठ प्रकार उल्लिखित हैं।

प्रत्याख्यान पाठ सम्बन्धी स्पष्टीकरण

पूर्वोल्लेखित विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि जैन आम्नाय में नवकारसी आदि व्रत प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा पाठपूर्वक धारण किये जाते हैं। उन पाठों से सम्बन्धित किंचिद् स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर शैली में निम्न प्रकार है–

शंका– नवकारसी प्रत्याख्यान पाठ में काल-मर्यादा का सूचन नहीं किया गया है, केवल नमस्कारमन्त्र गिनने का उल्लेख है, तब उसे संकेत प्रत्याख्यान की कोटि में न रखकर अद्धा (काल) प्रत्याख्यान क्यों कहा गया?

समाधान– प्रस्तुत पाठ में 'नमुक्कारसहियं' शब्द का अर्थ है– नमस्कार सहित प्रत्याख्यान। यहाँ सहित शब्द मुहूर्त्त (काल विशेष) का द्योतक है। दूसरे अर्थ के अनुसार 'सहित' शब्द विशेषण है और विशेषण से विशेष्य का बोध होता है अतः इसका अर्थ होता है– नमस्कारसहित, मुहूर्त्त-युक्त प्रत्याख्यान।

शंका– नवकारसी प्रत्याख्यान पाठ में मुहूर्त्त शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं हैं तो वह किसी विशेषण का विशेष्य कैसे बन सकता है? जब आकाश-पुष्प स्वयं ही सत्य नहीं है तो उसकी सुगन्ध की चर्चा कैसे हो सकती है?

समाधान– नवकारसी प्रत्याख्यान अद्धा प्रत्याख्यान के अन्तर्गत है। पोरिसी प्रत्याख्यान काल प्रमाण युक्त है अतः उसका पूर्वभावी नवकारसी प्रत्याख्यान भी काल-प्रमाण युक्त होना चाहिए। इतना विशेष है कि नवकारसी अल्प आगार वाला होने से अल्पकालिक होना चाहिए। यद्यपि यहाँ नवकारसी का काल प्रमाण नहीं बताया है, फिर भी अध्याहार से उसका अल्प में अल्प एक मुहूर्त्त का काल अवश्य समझना चाहिए।

शंका– नवकारसी प्रत्याख्यान का काल एक मुहूर्त्त ही क्यों माना गया?

समाधान– नवकारसी प्रत्याख्यान में दो ही आगार हैं अतः काल प्रमाण भी अल्प ही होना चाहिए। दूसरे, प्रत्याख्यान की दृष्टि से मुहूर्त्त सबसे अल्प काल है। तीसरी बात यह है कि काल (मुहूर्त्त) पूर्ण होने पर भी यदि नमस्कार-मन्त्र न गिना हो, तो यह प्रत्याख्यान पूर्ण नहीं होता, वैसे नमस्कार गिन लिया हो, किन्तु प्रत्याख्यान का काल पूर्ण न हुआ हो तो भी प्रत्याख्यान पूर्ण नहीं होता, क्योंकि

यह प्रत्याख्यान नमस्कार सहित एवं काल प्रमाण युक्त है। इससे स्पष्ट है कि 'एक मुहूर्त्त प्रमाण नमस्कार सहित प्रत्याख्यान' नवकारसी प्रत्याख्यान है।

शंका– इस प्रत्याख्यान में सूर्योदय का प्रथम मुहूर्त्त ही क्यों लिया?

समाधान– प्रत्याख्यान पाठ में 'सूरे उग्गए' ऐसा पद होने से प्रथम मुहूर्त्त ही लिया गया है– इति आगमवचनात्। प्रत्याख्यान पाठ का भावार्थ है कि सूर्योदय से लेकर नमस्कार-सहित तक मुहूर्त्त का प्रत्याख्यान नवकारसी है।

शंका– एकाशन आदि प्रत्याख्यान स्वयं काल-परिमाण युक्त न होने से अद्धा प्रत्याख्यान के अन्तर्गत कैसे हैं?

समाधान– यद्यपि एकाशन आदि का प्रत्याख्यान स्वयं काल परिमाण युक्त नहीं हैं तथापि अद्धा प्रत्याख्यान के बिना नहीं किये जाते। अत: वे भी उन्हीं के अन्तर्गत माने जाते हैं।

शंका– एकासन आदि प्रत्याख्यान से ही काम चल सकता है। क्योंकि इसमें एक ही समय खाने की छूट है। फिर दिवसचरिम प्रत्याख्यान लेने का क्या प्रयोजन है?

समाधान– एकासन आदि के प्रत्याख्यान आठ आगार वाले हैं तथा 'दिवसचरिम' प्रत्याख्यान चार आगार वाले हैं। अत: एकासना आदि के प्रत्याख्यान का संक्षेप करने के लिए सन्ध्या को दिवसचरिम प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। इससे सिद्ध है कि एकासनादि के प्रत्याख्यान दिवस सम्बन्धी ही हैं, क्योंकि मुनियों के तो वैसे भी रात्रिभोजन का आजीवन त्याग होता है। गृहस्थ की अपेक्षा से दिवसचरिम प्रत्याख्यान अहोरात्रि का होता है क्योंकि दिवस शब्द का प्रयोग 'अहोरात्रि' के पर्याय रूप में भी होता है, जैसे– कोई तीन अहोरात्रि तक घर से बाहर रहा हो, तो वह यही कहेगा कि हम तीन दिन से घर आये हैं। जिन्हें रात्रिभोजन का आजीवन त्याग है, उनके लिये भी रात्रि भोजन विरमण व्रत का स्मारक होने से 'दिवसचरिम' प्रत्याख्यान सार्थक है।[92]

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दोनों आवश्यक क्रिया के मूलभूत अंग है। क्रमबद्धता की अपेक्षा प्रतिक्रमण चौथा और प्रत्याख्यान छठा आवश्यक है। स्वरूपत: प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दोनों भिन्न-भिन्न हैं तथापि एक-दूसरे के पूरक एवं योजक होने के कारण पारस्परिक सम्बन्ध से युक्त है।

दिनभर में होने वाली भूलों या दोषों का चिंतन कर पुन: न दुहराने का संकल्प करना एवं अशुभयोग से शुभयोग में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है तथा रागजन्य-तृष्णाजन्य मनोवृत्ति को नियंत्रित करने हेतु व्रत, नियम या प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा मर्यादा पूर्वक अशुभ योग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रवृत्ति करना प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण भूतकालीन दोषों की शुद्धि करता है और प्रत्याख्यान भविष्यकालीन पापों से सुरक्षा करता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान अर्थत: भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इन दोनों के संयोजन से, आचरण से पाप निवर्त्तन होता है। केवल प्रतिक्रमण या केवल प्रत्याख्यान करने मात्र से पाप कर्मों का क्षय एवं पापास्रवों का निरोध नहीं होता, पापमुक्ति एवं आत्मशुद्धि के लिए दोनों का साहचर्य आवश्यक है।

गवेषणात्मक पहलू से विचार किया जाए तो उक्त दोनों के सह सम्बन्ध को उजागर करने वाले कुछ तथ्य इस प्रकार सामने आते हैं–

1. मोक्षप्राप्ति में हेतुभूत– उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान– इन उभय क्रियाओं से आस्रव द्वारों का निरोध होता है। ये दोनों आस्रवद्वार के पापमार्गों का अवरोध कर आत्मा को संवरमय बनाते हैं। संवर निर्जरा का हेतु भी है। संवर और निर्जरा दोनों की सम्पन्नता से यह जीव मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है।[93]

2. मोक्षसिद्धि में हेतुभूत– प्रतिक्रमण संवर रूप है और प्रत्याख्यान तप एवं निर्जरा रूप है। आचार्य उमास्वाति, चूर्णिकार जिनदासगणी आदि ने कहा है– 'इच्छानिरोधस्तप:' इच्छाओं का निरोध करना तप है। प्रत्याख्यान से तप साधना होती है। इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा संवर (नवीन कर्मों पर रोक) और प्रत्याख्यान तप द्वारा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करता हुआ साधक मोक्ष सिद्धि करता है। उत्तराध्ययन में इन दोनों के साहचर्य को आवश्यक बतलाते हुए कहा गया है कि जैसे तालाब को रिक्त करने के लिए पानी आने का मार्ग बन्द करना तथा एकत्रित पानी को निकालना आवश्यक है उसी प्रकार नवीन पाप कर्मों को रोकने एवं चिरसंचित पाप कर्मों का क्षय करने के लिए क्रमश: संवर और निर्जरा प्रधान क्रियाएँ करना आवश्यक है।[94]

3. प्रत्याख्यान की सार्थकता में हेतुभूत– प्रतिक्रमण करने से ही प्रत्याख्यान सार्थक बनता है। प्रतिक्रमण करते हुए साधक यह चिंतन करता है

कि उसके बारह व्रत आदि में कहीं दोष तो नहीं लगे हैं? गृहीत मर्यादा का उल्लंघन या अतिक्रमण तो नहीं हुआ है? इस प्रकार का चिन्तन करने से प्रत्याख्यान का सम्यक् परिपालन होता है, अन्यथा नहीं। दूसरी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि प्रतिक्रमण क्रिया प्रत्याख्यानों की समीक्षा है। यदि अतिक्रमण हुआ हो तो उससे पुन: व्रत में स्थिर होने की यह महत्त्वपूर्ण क्रिया है अत: प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान का रक्षक है।

4. प्रत्याख्यान शुद्धि एवं जागरूकता में हेतुभूत– प्रतिक्रमण कृत दोषों से निवृत्ति एवं आत्मशुद्धि की प्रभावपूर्ण प्रक्रिया है। यदि दोष शुद्धि या अपराध शुद्धि न की जाए तो, यह अन्तर्चेतना को विषाक्त एवं साधकीय जीवन को विनष्ट कर सकता है, इसलिए स्वयं के द्वारा लगे हुए दोषों की आत्म निन्दा अवश्य करनी चाहिए। यह प्रतिक्रमण है तथा इस उपक्रम से प्रत्याख्यान पालन में जागरूकता-अप्रमत्तता बनी रहती है।

5. पारस्परिक पूरकता में हेतुभूत– यह महत्त्वपूर्ण चिन्तन है कि प्रत्याख्यान न हो तो प्रतिक्रमण किसका किया जाए और मर्यादा के अतिक्रमण का प्रतिक्रमण न किया जाए तो प्रत्याख्यान कैसा? इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रतिक्रमण से प्रत्याख्यानों की सार्थकता है और प्रत्याख्यानों से प्रतिक्रमण की सार्थकता है। जब तक जीवन में दोष लगने संभव है तब तक प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान आवश्यक है। वीतराग मार्ग पर अग्रसर होने के लिए भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान–उभय क्रियाओं का संयोग अनिवार्य है।

6. अतिचार निवृत्ति में हेतुभूत– प्रतिक्रमण बार-बार दोषों का सेवन न हो, इस लक्ष्य से किया जाता है। प्रत्याख्यान का भी यही लक्ष्य है। सामायिक आदि से आत्मशुद्धि की जाती है, किन्तु आसक्ति रूपी तस्करराज अन्तर्मानस में प्रविष्ट न हो, इसके लिए प्रत्याख्यान आवश्यक है। मलिन वस्त्र को एक बार स्वच्छ करना प्रतिक्रमण है और स्वच्छ वस्त्र पुन: मलिन न हो जाए, तद्हेतु वस्त्र को कपाट आदि में रख देना प्रत्याख्यान है। इस प्रकार प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण की लक्ष्य प्राप्ति में और प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान की सिद्धि में सहायक हैं।[95]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्याख्यान से प्रतिक्रमण परिपुष्ट होता है। मूलगुणों एवं उत्तरगुणों के समाचरण से प्रतिक्रमण अनुष्ठान अधिक पुष्ट बनता है। अहिंसादि मूलगुण और दिग्व्रत एवं शिक्षाव्रत आदि उत्तरगुण–

इन दोनों के परिपालन से दोषों का परिहार होकर आत्मा शुद्ध दशा की ओर अग्रसर होती है, आत्मशुद्धि के उपक्रम में तीव्रता आती है तथा मोक्षमार्ग प्रशस्त बनता है।

दूसरे, जब तक प्रत्याख्यान किया जायेगा तब तक उनमें लगे दोषों या मर्यादा के अतिक्रमण का प्रतिक्रमण भी किया जायेगा तथा जब तक प्रतिक्रमण किया जायेगा तब तक अन्तिम आवश्यक के रूप में प्रत्याख्यान भी किया जायेगा– इस तरह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवादत: सिद्ध होता है।

आहार के प्रकार

षडावश्यक में प्रत्याख्यान का सम्बन्ध-आहारादि के त्याग से है अत: आहार का स्वरूप ज्ञात करना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार जाति की दृष्टि से आहार एक है, उसके कोई प्रकार नहीं है किन्तु प्रत्याख्यान की अपेक्षा से आहार अशन, पान, खादिम और स्वादिम के भेद से चार प्रकार का होता है। चतुर्विध आहार का परिज्ञान इसलिए जरूरी है कि इससे ज्ञान आदि की सिद्धि होती है। आहार के भेदों का ज्ञान होने से द्विविध-आहार आदि प्रत्याख्यान करते समय उसके अनुसार श्रद्धा, पालन आदि होता है।[96]

सर्वप्रथम आहार के चार भेदों का ज्ञान होता है, फिर तद्विषयक रुचि होती है, फिर द्विविध आहार आदि भेद वाले प्रत्याख्यान को स्वीकार करने का भाव होता है फिर उसका उपयुक्त पालन होता है। तत्पश्चात आहार सम्बन्धी विरति की वृद्धि होती है। यह सब आहार के भेदों का ज्ञान होने पर ही सम्भव है।[97] अतएव पंचाशकप्रकरण, प्रवचनसारोद्धार आदि में उल्लिखित आहार के चार प्रकारों का वर्णन निम्न प्रकार है–[98]

1. अशन– 'अश् भोजने' धातु से कर्म में 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर 'अशन' शब्द बना है। अशन का सामान्य अर्थ भोजन है, परन्तु यहाँ क्षुधा का शमन करने वाले पदार्थ को अशन कहा गया है। सामान्य रूप से अशन के अन्तर्गत सर्व जाति के चावल, गेहूँ आदि अनाज, मूंग, चने, जुआर आदि का सेका हुआ आटा, मूंग आदि कठोल धान्य, राब आदि खाद्य विशेष, लड्डू, पेड़े आदि सर्व प्रकार की मिठाईयाँ, घेवर, लापसी, हलवा, खीर, दही, घी, कढ़ी आदि रसदार

वस्तुएँ, सूरण, अदरक आदि वनस्पतियों से निर्मित व्यंजन, अनेक प्रकार की रोटी, पूड़ी, खाजा, चूरमा आदि पदार्थों का समावेश होता है।[99]

2. पान– जो पीया जाये वह पानी कहा जाता है। यहाँ पानी के अन्तर्गत निम्न वस्तुओं का अन्तर्भाव होता है– कुआँ, तालाब, नदी आदि का पानी, अनेक प्रकार के चावल का धोया हुआ पानी, मांड, जौ आदि का धोया हुआ पानी, केर का पानी, ककड़ी, खजूर आदि के भीतर का जल, आम आदि फलों का धोया हुआ पानी, छाश की आछ, इक्षुरस, विविध प्रकार की मदिरा, नारियल आदि फलों के अन्दर का पानी, अनार आदि का रस–ये सब पीने योग्य वस्तुएँ पान है।[100]

3. खादिम– 'खाद्' धातु से 'ईमन्' प्रत्यय जुड़कर खादिम शब्द बना है। इसका सामान्य अर्थ खाने योग्य है। यहाँ खादिम शब्द से निम्न पदार्थ ग्राह्य हैं– भूंजे हुए चने, गेहूँ आदि, दाँतों को व्यायाम देने वाले गूंद, फूली, चिरौंजी दाने, मिश्री आदि, गुड़ आदि से संस्कृत पदार्थ, खजूर, नारियल, द्राक्षा, ककड़ी आम आदि अनेक प्रकार के फल तथा बदाम, काजू आदि शुष्क मेवा-इत्यादि खादिम कहलाते हैं।[101] इन खाद्य पदार्थों के सेवन से अमुक अंश में क्षुधातृप्ति होती है। श्राद्धविधि में भी कहा गया है कि 'फलेक्षु-पृथुक–सुखभक्ष्यादि खाद्यम्'– फल, इक्षु आदि सुखभक्ष्य पदार्थ खाद्य हैं।

4. स्वादिम– 'स्वाद्' धातु से 'इमन्' प्रत्यय लगकर स्वादिम शब्द की रचना हुई है। स्वादिम का सामान्य अर्थ है– स्वाद लेने योग्य। यहाँ स्वाद योग्य पदार्थों में निम्न का समावेश है– नीम, बबूल आदि का दातून, पान का पत्ता, सुपारी, इलायची, लवंग, कर्पूर आदि, सुगन्धित द्रव्यों के मिश्रण रूप ताम्बूल, तुलसी, जीरा, हल्दी,पीपल, सोंठ, हरड, आवला आदि अनेक प्रकार के स्वादिम हैं।[102]

इस तरह उपर्युक्त वर्णन के आधार पर शेष वस्तुओं में से कौनसी वस्तु किस आहार के अन्तर्गत आती है यह जान लेना चाहिए। प्रसंगानुसार अणाहारी वस्तुएँ भी उल्लेखनीय हैं– 1. अगर-प्यास एवं मूर्च्छा को दूर करने में गुणकारक 2. अफीम-पीड़ा उपशामक 3. आसंघ–खांसी दमा में लाभदायक 4. एलिया– ज्वर नाशक 5. आंक का दूध– वातहर, कफ नाशक 6. अम्बर–वायु हर, प्यास एवं दर्द शामक 7. अतिविष कली– ज्वर नाशक एवं पौष्टिक 8. इन्द्र

वरणा का मूल-पित्तनाशक 9. उपलेप की लकड़ी– वायुहर एवं वमन शामक 10. करेण की जड़– शिरो वेदना शामक 11. करीआतु– अरुचिनिवारक 12. कस्तूरी– वायु, प्यास, वमन आदि का नाशक 13. कडु– पाचक एवं ज्वरनाशक 14. कुंआर– अजीर्ण निवारण 15. केसर– कंठरोग, मस्तक शूल एवं वमन उपशामक 16. कुंदरू– कफ नाशक 17. कत्था– शीतल कारक 18. केरडा का मूल– रुचिकारक एवं शूल नाशक 19. खार– उदर पीड़ा निवारक 20. गुगल–वातघ्न एवं सूजन दूर करने वाला 21. गलो– दाह आदि नाशक 22. गोमूत्र– उदर रोग नाशक एवं चर्म हितकारी 23. चीड़–मूत्रशोधक, वायुहर और पाचक 24. चूना– शीतल व अजीर्ण में हितकर 25. चोपचीनी– तृषाहर, पौष्टिक और वातोपशामक 26. जहरी गुठली– ज्वर नाशक 27. डाभ का मूल– रक्त स्तंभक व तृप्ति कारक 28. तमाकू– स्नायु की शिथिलता और हिस्टीरिया शम करने वाला 29. त्रिफला– सारक, पित्त शामक एवं घबराहट दूर करने वाला 30. थोहर का मूल– नींद नाशक 31. दाडिम का छिलका– खांसी, कफ और पित्त को शमन करने वाला 31. पान की जड़– वातहर एवं प्रमाद दूर करने वाला 32. बहेड़ा का छिलका– खांसी और कफ नाशक 33. बबूल का छिलका 34. मजीठ-शूल, रक्त अतिसार और पित्त शामक 35. मूलहटी– खांसी दूर करने वाली 36. राख– दंतशोधक 37. रोहिनी का छिलका 38. नीम का पंचाग 39. चन्दन 40. हलदी 41. हरड़े 42. हरड़े का छिलका 43. हीरा बोल 44. फटकड़ी 45. साजीखार आदि। इस तरह संख्या में 75 से अधिक वस्तुएँ अणाहारी है।[103]

अणाहारी का शाब्दिक अर्थ है– जो आहार योग्य नहीं है और क्षुधा तृप्ति के योग्य भी नहीं है, केवल रोगादि उपशमन के लिए उपयोग में ली जाती हो। जैन परम्परा में लम्बी तपस्या के दिनों में ताकत आदि के लिए अणाहारी वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति है। सामान्यतया रोग निदान करने के पश्चात इन अणाहारी वस्तुओं का आवश्यकतानुसार उपयोग करने पर अभक्ष्य दवाईयों से बचा जा सकता है और गृहीत नियमादि का निराबाध पालन भी हो सकता है, परन्तु इन वस्तुओं का उपयोग करने से पूर्व गीतार्थ गुरू की अनुमति लेना आवश्यक है। अणाहारी वस्तु पानी के साथ नहीं लेनी चाहिए अथवा उसका स्वाद मुख में हो वहाँ तक पानी नहीं पीना चाहिए, अन्यथा आहार रूप में गिनी

जाती है। तीसरा निर्देश यह है कि कठिन आपत्ति आने पर ही इसका सेवन करना चाहिए, क्योंकि पुनः पुनः उपयोग करने से प्रत्याख्यान खण्डित होता है।

किस प्रत्याख्यान में कितने आहार का त्याग?

प्रस्तुत अधिकार में प्रत्याख्यान शब्द का उल्लेख आहार त्याग के सन्दर्भ में हुआ है तथा इससे सम्बन्धित लगभग 21-22 प्रत्याख्यान बतलाए गए हैं। यहाँ उल्लेख्य यह है कि कौनसा प्रत्याख्यान कितने आहार के त्याग पूर्वक होता है? पच्चक्खाण भाष्य के अनुसार विवेच्य चर्चा इस प्रकार है–[104]

1. **नवकारसी प्रत्याख्यान–** मुनि एवं श्रावक के लिए चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है।
2. **पौरुषी, साढपौरुषी, पुरिमड्ड, अवड्ड प्रत्याख्यान–** मुनि के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है, किन्तु गाढ़ (प्रबल) कारण में दुविहार के प्रत्याख्यान पूर्वक भी होता है।
   श्रावक के लिए द्विविध,[105] त्रिविध एवं चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है।
3. **एकाशन, बिआसन, एकलठाणा प्रत्याख्यान–** मुनि के लिए तिविहार या चउविहार पूर्वक होता है, किन्तु गाढ़ (असह्य) कारण में दुविहार के प्रत्याख्यान पूर्वक भी होता है। श्रावक के लिए द्विविध, त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है, परन्तु एकलठाणा प्रत्याख्यान में आहार करने के बाद चउविहार ही होता है।
4. **आयंबिल, नीवि, उपवास, भवचरिम प्रत्याख्यान–** मुनि एवं श्रावक दोनों के लिए त्रिविध आहार व चतुर्विध आहार के त्याग सहित होता है। अपवाद में नीवि प्रत्याख्यान दुविध-आहार के त्याग पूर्वक भी होता है।
5. **संकेत प्रत्याख्यान–** मुनि के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है। यतिदिनचर्या के मत से आठ संकेत प्रत्याख्यान चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक ही होते हैं।[106] श्रावक के लिए द्विविध, त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है।
6. **दिवसचरिम (रात्रिक) प्रत्याख्यान–** मुनि के लिए चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक होता है। श्रावक के लिए दुविहार, तिविहार या चउविहार के

वर्जन पूर्वक होता है, परन्तु एकाशन आदि व्रतों में चउविहार का प्रत्याख्यान होता है।

ज्ञातव्य है कि एकाशन, नीवि, आदि प्रत्याख्यानों में जहाँ-जहाँ दुविहार का उल्लेख किया है वह मुनि के लिए विशेष स्थितियों में ही जानना चाहिए, परन्तु गृहस्थ को भी कारण विशेष में ही दुविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए। सामान्य नियम से तो तिविहार या चउविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

प्रत्याख्यान व्रत सम्बन्धी वर्जनीय दलीलें

तीर्थंकर प्रणीत प्रत्याख्यान-धर्म सभी कालों में पालन करने योग्य है। जैन धर्म और मनुष्य भव की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट फल प्रत्याख्यान का आचरण है। प्रत्याख्यान का परिपालन करने से ही परमानन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। कदाच वीर्यान्तराय कर्म के प्रबल उदय से अथवा अप्रत्याख्यानी कषाय मोहनीय कर्म के प्रबल उदय के कारण उस तरह के भाव उत्पन्न न होने से, प्रत्याख्यान नहीं भी ग्रहण कर सकें, तो भी भाव पूर्वक इस प्रकार की सम्यक् श्रद्धा अवश्य करनी चाहिए कि 'प्रत्याख्यान धर्म मोक्ष का परम अंग है तथा जब तक प्रत्याख्यान धर्म की प्राप्ति न हो तब तक आत्मा को मुक्त दशा की उपलब्धि नहीं हो सकती।'

प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में रुचि न रखने वाले कुछ लोग उत्सूत्र प्ररूपणा (जिनमत के विपरीत कथन) करते हुए कहते हैं-

1. संकल्प मात्र से धारण कर लेना ही प्रत्याख्यान है, बद्धाञ्जलि युक्त होकर प्रतिज्ञा पाठ ग्रहण करने से क्या विशेष होता है?
2. मरूदेवी माता ने कौन सा प्रत्याख्यान किया था? शुभ भावना भाने मात्र से मोक्ष पद को उपलब्ध कर लिया अतः भावना उत्तम है, द्रव्य से प्रत्याख्यान ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है।
3. भरत चक्रवर्ती ने षट्खंड के राज्य का भोग करते हुए एवं व्रत-नियम का पालन न करते हुए भी शुभ भाव मात्र से केवलज्ञान को प्राप्त किया।
4. श्रेणिक महाराजा जैसे जीव ने नवकारसी प्रत्याख्यान न कर सकने के बावजूद भी परमात्मा महावीर के प्रति निर्मल प्रेम रखने मात्र से तीर्थंकर गोत्र (पुण्य प्रकृति) का बंधन कर लिया, तब प्रत्याख्यान से विशेष क्या होता है?

5. दान, शील, तप और भावना– इन चतुर्विध धर्म में भी भाव धर्म प्रधान कहा गया है, परन्तु दान आदि नहीं।
6. व्रत, नियम या प्रत्याख्यान स्वीकार करना क्रिया धर्म है और क्रिया ज्ञान की दासी है, इसलिए ज्ञानादि रूप भावना ही उत्तम है किन्तु व्रत-नियम आदि क्रिया उत्तम नहीं है।
7. यदि प्रत्याख्यान ग्रहण करके उसका सम्यक् पालन न कर सकें, तो व्रत भंग होने से महादोष प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में भावना मात्र से व्रत-नियम का पालन करना अधिक उत्तम है।
8. प्रत्याख्यान लेने के बाद भी मन नियन्त्रित नहीं रहता है। पूर्व संस्कारों के कारण मन आहार-विहार में घूमता ही रहता है, तब प्रत्याख्यान ग्रहण करने का प्रयोजन क्या?
9. कोई व्यक्ति अवांछनीय अथवा अलभ्य वस्तु का प्रत्याख्यान करें, तो उसकी हँसी करते हैं कि 'इसमें तुमने क्या त्याग किया है?' ना मली नारी त्यारे आपे ब्रह्मचारी।
10. लोक समुदाय के समक्ष बद्धाञ्जलि युक्त खड़े होकर प्रत्याख्यान उच्चरित करना, यह तो लोक दिखावा और आडंबर है अतएव जैसे गुप्तदान महाफल वाला है वैसे ही संकल्प पूर्वक पालन किया गया प्रत्याख्यान अत्यन्त फलवाला है– इस तरह के अनेक कुप्रवचन स्वीकार करने योग्य नहीं है। उपर्युक्त दलीले प्रत्याख्यान धर्म की विघातक और धर्म से पतित करने वाली होने से भव्य जीवों के लिए न आदर करने योग्य, न बोलने योग्य और सुनने योग्य भी नहीं है।

ऊपर वर्णित उत्सूत्र प्रमाणों में कितने ही वचन शास्त्रोक्त भी हैं, परन्तु शास्त्र में ये वचन भव्य जीवों को धर्म सन्मुख करने की अपेक्षा कहे गये हैं। जबकि प्रत्याख्यान धर्म को निम्न कोटि का दिखलाने के उद्देश्य से कहा गया है और निःसन्देह ये वचन उत्सूत्र रूप कहलाते हैं।

तीस नीवियाता

प्रत्याख्यान अधिकार में तीस नीवियाता का विवेचन करना प्रासंगिक है। शास्त्रीय विधि के अनुसार जैन मुनि अथवा मुमुक्षु साधक को विकृत (विगई) द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। विगय शब्द का विकृत नाम विकृति के अर्थ

में है। विकृति से विकार उत्पन्न होता है। विकार भाव से मोहनीय कर्म की उदीरणा होती है। मोह की उदीर्णावस्था में चित्त अकार्य में प्रवृत्त हो जाता है और उससे दुर्गति का भागी बनता है। इसलिए विगय सेवन का निषेध है।

सामान्य विगय छः हैं– 1. दूध 2. दही 3. घी 4. तेल 5. गुड़-शक्कर 6. कढ़ाई खाद्य– तलने पर फूलकर ऊपर आने वाली वस्तुएँ पूड़ी, खाजा आदि। महाविगय चार हैं– 1. मांस 2. मक्खन 3. मदिरा 4. शहद। महाविगय कठिन स्थिति में भी त्याज्य है, किन्तु सामान्य विगय परिस्थिति विशेष में ग्राह्य होती है।[107]

इन विगय द्रव्यों से निर्मित या संस्कारित पदार्थ निवियाता कहलाते हैं। सामान्य कारणों या देह असामर्थ्य आदि प्रसंगों में निवियाता का उपयोग करना चाहिए। आगम शास्त्रों के अध्ययनार्थ योगोद्वहन (तप अनुष्ठान) करते समय किसी मुनि का शरीर कृश हो जाए, मन दुर्बल हो जाए और स्वाध्याय आदि करने में समर्थता न रहें तो ऐसी स्थिति में निवियाता का उपयोग करना चाहिए। कहा भी गया है कि अनिवार्य स्थितियों में ही निवियाता का उपयोग करना चाहिए, सामान्य कारणों में नहीं। जिन्होंने इन्द्रिय निग्रह के लिए विगय का त्याग किया है उन्हें निवियाता ग्रहण करना नहीं कल्पता है। कुछ लोग विगय का त्याग करके स्निग्ध, मधुर एवं उत्कृष्ट द्रव्य रूप लड्डु, मालपूआ, खीर आदि का निष्कारण सेवन करते हैं, यह सर्वथा अनुचित है। अतएव दुर्गति से बचाव करने के लिए विकृति कारक 6 + 4 द्रव्यों का उपयोग नहीं करना चाहिए। यदि देहक्षीणता आदि कठिन स्थितियाँ उत्पन्न हो जाए तो ही निवियाता का आसेवन करना चाहिए। प्रवचनसारोद्धार आदि में प्रतिपादित निवियाता का संक्षिप्त स्वरूप निम्नांकित है–[108]

दूध सम्बन्धी– दूध द्वारा निष्पन्न पंचविध निर्विकृतिक पदार्थ ये हैं– **1. पेया–** अल्पमात्रा में तन्दुल डालकर उबाला हुआ दूध, जैसे दूध की काञ्जी। **2. दुग्घाटी–** कांजी आदि खट्टे पदार्थ के साथ उबाला हुआ दूध, जैसे पनीर आदि। कुछ आचार्यों के अनुसार गाय, भैंस आदि की नई प्रसूति होने के पश्चात निकला हुआ गाढ़ा दूध, दुग्घाटी है इसे बहलिका कहते हैं। **3. अवहेलिका–** चावल के आटे के साथ उबाला हुआ दूध। **4. दुग्धसाटिका–** द्राक्ष डालकर उबाला हुआ दूध। **5. खीर–** अधिक मात्रा में चावल डालकर उबाला हुआ दूध।[109]

दही सम्बन्धी– दधि निष्पन्न पाँच निर्विकृतिक वस्तुएँ ये हैं– **1. घोलवड़ा–** वस्त्र से छाने हुए दही में डाले गए बड़े–घोलवड़ा। **2. घोल–** दही का पानी निकाले बिना, केवल वस्त्र से छाना हुआ घोलमट्ठा। **3. श्रीखण्ड–** मथा हुआ शक्कर युक्त दही। **4. करंबक–** दही में पकाए हुए चावल आदि डालकर बनाया हुआ कूर। **5. रजिका–** नमक आदि मसाला डालकर मथा हुआ दही। इस कोटि वाले दही में सांगरी आदि डालने पर भी निवियाता होता है। इसे रायता भी कहते हैं।[110]

घी सम्बन्धी– घृत से निर्मित पाँच निवियाता निम्नोक्त हैं–

1. **औषध पक्व–** आँवला आदि औषधियाँ डालकर पकाया हुआ घी।
2. **घृतकिट्टिका–** घी उबालते समय ऊपर तरी आ गई हो और घी के नीचे मैल जम गया हो, ऐसा बचा हुआ मैल (कीट)।
3. **घृतपक्व–** औषधादि पकाने के बाद उस पर आई हुई घी की तरी।
4. **निर्मंजन–** पक्वान्न तलने के बाद बचा हुआ (जला हुआ) घी।
5. **विस्यंदन–** दही की मलाई में आटा डालकर बनाया हुआ पदार्थ।[111]

तेल सम्बन्धी– तेल से संस्कारित पाँच निवियाता निम्न हैं–

1. **तेल मलिका–** तेल से भरे पात्र में नीचे जमा हुआ मिट्टी सहित तेल का भाग या तेल का मैल।
2. **तिलकुट्टि–** तिल और गुड़-शक्कर को एकत्रित कूटकर बनाया गया पदार्थ जैसे–तिलवटी-तिलपट्टी।
3. **दग्ध तेल–** पक्वान्न बनने के बाद शेष बचा हुआ तेल।
4. **तेल–** औषध डालकर पकाए हुए तेल के ऊपर आई हुई तरी।
5. **पक्वतेल–** लाक्षादि द्रव्य डालकर पकाया हुआ तेल जैसे लक्षपाक आदि।[112]

गुड़ सम्बन्धी– गुड़ विगय से निर्मित पदार्थ, जो निर्विकृतिक कहलाते हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. आधा ऊबाला हुआ गन्ने का रस 2. खट्टे पुड़े आदि के साथ खाने योग्य गुड़ का पानी-गुलवानी 3. प्रत्येक जाति की शक्कर 4. प्रत्येक जाति की खांड 5. गुड़ का उबाला हुआ रस, जो खाजा आदि के ऊपर चढ़ाया जाता है अर्थात गुड़ की चासनी।[113]

पकवान सम्बन्धी– तली हुई विकृति के पाँच निवियाता निम्नानुसार है–

1. कड़ाही में डाला हुआ घी अथवा तेल अच्छी तरह डूब जाये इतना बड़ा मालपूआ पहली बार निकालने पर मिठाई कहलाता है उसके बाद जितने भी मालपूए निकाले जाए, वे सभी निवियाता रूप कहलाते हैं।
2. किसी कड़ाही में तीन बार बहुत सारी छोटी-छोटी पूरिया तल दी गई हो अर्थात तलकर निकाल दी गई हो, उस बीच में नया घी या तेल न डाला हो, तो उसी में ही चौथी बार की तली हुई वस्तु निवियाता के अन्तर्गत गिनी जाती है।
3. गुड़ आदि की चासनी बनाकर उसमें खील-लावा (फूलियाँ) आदि डालकर बनाये गये लड्डू आदि।
4. सुंवाली आदि मिठाई तलने के बाद उस चिकनी कड़ाही में पानी और आटा डालकर एवं सेककर बनाई हुई लापसी, हलवा आदि।
5. तवा, कड़ाही आदि में घी-तेल से चुपड़कर बनाई हुई पूरी आदि।[114]

इस प्रकार छः विगय के कुल तीस निवियाता होते हैं शेष चार महाविगय अभक्ष्य होने से सर्वथा वर्जित है। बिना किसी अगाढ़ कारण के उपरोक्त निवियाता का भी उपयोग नहीं करना चाहिए।

प्रत्याख्यान की आवश्यकता क्यों?

श्रमण संस्कृति का मूल आधार काम भोगों के प्रति अनासक्ति है। जो व्यक्ति काम भोगों, पंचेन्द्रिय विषयों में प्रलुब्ध हो जाता है, विषय-वासना के क्षणिक सुखों के पीछे छिपे हुए महादुःखों का विचार नहीं करता, वह मनुष्य जन्म खो देता है। वस्तुतः मनुष्य भव रूपी मूलधन के साथ-साथ सत्पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभ से भी वंचित हो जाता है तथा अज्ञान एवं मोह के आधीन होकर हिंसादि पापकर्म करता हुआ नरक और तिर्यञ्च गति को उपलब्ध करता है। अतः समझना होगा कि आसक्ति ही सब दुःखों का मूल कारण है। जब तक आसक्ति है तब तक किसी भी प्रकार की आत्म शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रत्याख्यान आसक्ति को दूर करने का अमोघ उपाय है। प्रत्याख्यान के द्वारा तृष्णा, आकांक्षा, लिप्सा, लोभवृत्ति आदि कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इस कथन की पुष्टि करते हुए निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने कहा है– प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरोध होता है, कर्म

आगमन के द्वार बन्द हो जाते हैं और आश्रव निरोध से तृष्णा का उच्छेद होता है। तृष्णा का छेदन होने से अनुपम उपशम भाव प्रकट होता है और अनुपम उपशम भाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है। शुद्ध प्रत्याख्यान से चारित्र धर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है यानि चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है, चारित्र धर्म के आचरण से कर्मों की निर्जरा होती हैं और उससे आठवें गुणस्थान रूप अपूर्वकरण प्रकट होता है। अपूर्वकरण से केवलज्ञान और केवलज्ञान से मोक्षपद की प्राप्ति होती है। इस तरह प्रत्याख्यान वासना एवं तृष्णाजन्य वृत्तियों का क्रमशः नाश करता हुआ परम्परा से मोक्ष फल प्रदान करता है।[115]

प्रत्याख्यान की आवश्यकता को दर्शाने वाला दूसरा तथ्य है कि यह विश्व अत्यन्त विराट् एवं व्यापक है। इस विश्व में अनन्त पदार्थ हैं, जिनकी परिगणना करना ही नहीं, अपितु एक व्यक्ति के द्वारा उन समस्त पदार्थों का उपभोग करना, यह भी कभी सम्भव नहीं है। कदाच् किसी की उम्र लम्बी भी हो, फिर भी अकेला व्यक्ति संसार की सभी वस्तुओं का परिभोग नहीं कर सकता। मानव इच्छा असीम हैं। वह सृष्टिजन्य सर्व वस्तुओं को पाना-संग्रहित करना चाहता है। चक्रवर्ती के समान षट्खण्ड का आधिपत्य एवं अनगिनत सम्पदा भी प्राप्त हो जाए, तो भी इच्छाओं का अन्त नहीं आ सकता। ज्ञानी पुरुषों ने इच्छा को आकाश की उपमा देते हुए कहा है- जैसे आकाश का कोई ओर-छोर नहीं होता, वैसे ही इच्छा का कोई आर-पार नहीं होता। इसकी स्थिति इतनी अजीब है कि एक इच्छा की पूर्ति होने पर दस इच्छाएँ नई उत्पन्न हो जाती है और उन इच्छाओं की सम्पूर्ति के लिए मानव मन सदैव अशान्त बना रहता है। इस अशान्त मन और कलुषित वृत्ति से निवृत्त होने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान की अनिवार्यता इस बात से भी सिद्ध होती है कि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग- इन पाँच अंगों के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है किन्तु आसक्ति रूपी पापकर्म पुनः प्रविष्ट न हो, उसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। जैसे मलिन वस्त्र को स्वच्छ कर लेने के बाद वह पुनः गन्दा न हो जाए, इसके लिए उस वस्त्र को कपाट आदि में रखते हैं इसी भाँति प्रतिक्रमण आदि के द्वारा पाप मुक्त हुआ मन पुनः मलिन न हो जाए, इसलिए प्रत्याख्यान किया जाता है।

प्रत्याख्यान आवश्यक का प्रयोजन

प्रत्याख्यान का उद्देश्य समझते हुए यह प्रश्न उठता है कि यदि सामायिक से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है तो चतुर्विंशतिस्तव की आवश्यकता क्या है? यदि चतुर्विंशतिस्तव से शिव सुख को उपलब्ध किया जा सकता है तो वन्दन की आवश्यकता क्या है? यदि वन्दन से मोक्षसुख प्राप्त हो सकता है तो प्रतिक्रमण की आवश्यकता क्या है? प्रतिक्रमण से परमानन्द की प्राप्ति की जा सकती है तो कायोत्सर्ग की आवश्यकता क्या है? और कायोत्सर्ग से परम पद में स्थिर हो सकते हैं तो प्रत्याख्यान का प्रयोजन क्या है?

प्रबोध टीकाकार इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि छहों आवश्यक क्रियाएँ पारस्परिक फल की दृष्टि से समान हैं, किन्तु प्रयोजन की दृष्टि से भिन्न हैं और उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध भी रहा हुआ है इसलिए प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक की आवश्यकता है।

सामायिक का मुख्य प्रयोजन सावद्य योग से विरति अर्थात सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग है। सावद्य क्रियाओं का त्याग किए बिना आत्मशुद्धि की कोई भी क्रिया कर पाना शक्य नहीं है।

चतुर्विंशतिस्तव का मुख्य प्रयोजन अरिहंत-वीतरागी पुरुषों की उपासना है और वन्दन का मुख्य प्रयोजन सद्गुरु का विनय है। दूसरे एवं तीसरे आवश्यक रूप दोनों क्रियाएँ देव और गुरु की भक्ति रूप होकर योगसाधना की पूर्व भूमिका का निर्वहन करती हैं। यह पूर्वसेवा है। योगविशारदों का स्पष्ट अभिप्राय है कि किसी भी प्रकार की योग साधना करनी हो तो प्रथम देव और गुरु की भक्तिरूप पूर्व सेवा अवश्य करनी चाहिए।

प्रतिक्रमण का मुख्य प्रयोजन आत्म शोधन है। जब तक व्यक्ति स्वकृत भूलों का निरीक्षण, संशोधन एवं उन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है तब तक ध्यान या संयम की यथाविध आराधना नहीं हो सकती।

कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन ध्यान है और ध्यान द्वारा चित्त का विक्षेप (आत्मिक शान्ति को भग्न करने वाली स्थितियाँ) दूर किये बिना संयम का शुद्ध पालन होना सम्भव नहीं है।

प्रत्याख्यान का मुख्य प्रयोजन संयम गुण की धारणा है और वही संकल्प

विशिष्ट प्रकार के चारित्र का निर्माण कर आत्मा को परम पद तक पहुँचा सकता है।[116]

प्रस्तुत वर्णन में प्रत्याख्यान का जो प्रयोजन बतलाया गया है उसका अभिप्राय बहिर्मुख चेतना को संयम धर्म में जोड़ देना है। प्रश्न होता है आत्मा को संयममार्ग में कैसे प्रवृत्त करें? तृष्णा अनंत है और उसकी सम्पूर्ति करना अत्यन्त शक्ति सम्पन्न देवता के अधीन भी नहीं है। याचक रूपये-दो रुपये की आशा रखता है, रुपया-दो रुपया वाला पाँच-पचीस की आशा रखता है, पाँच-पचीस वाला हजार-दो हजार की, लखपति अरबपति होने की, राजा के वासुदेव संपत्ति की, और वासुदेव चक्रवर्ती के ऋद्धि की वांछा करता है। उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन में कहा गया है कि जैसे लाभ होता जाता है वैसे लोभ बढ़ता जाता है,लाभ से लोभ का अभिवर्द्धन होता है। दो मासा सुवर्ण की इच्छा करने वाला मन करोड़ों सुवर्ण से भी तृप्त न हुआ।[117] तात्पर्य है कि कपिल ब्राह्मण दो मासा सुवर्ण की इच्छा से राजा के समीप गया, परन्तु राजा के द्वारा जब इच्छा के अनुसार याचना करने का कहा गया तो उसका लोभ बढ़ता गया और संपूर्ण राज्य मांगने के लिए तत्पर हो गया। अन्ततः सन्मति प्रकट हुई और तृष्णा का तार टूटते ही सचेत हो गया। साथ ही 'संतोष जैसा सुख नहीं' इस मान्यता में स्थिर होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लिया। कहना यह है कि अनंत तृष्णा का तार विचारमात्र से तोड़ देना असंभव है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि जैसे मार्ग को जानने वाला पुरुष गमनादि-चेष्टा रहित होने से इष्ट स्थल पर नहीं पहुँच सकता है अथवा इष्ट दिशा की ओर ले जाने वाली वायु न बहती हो तो वाहन इच्छित स्थल पर नहीं पहुँचा सकता है वैसे ही चारित्र रूपी सत्क्रिया रहित ज्ञान भी शाश्वत सुख का कारण नहीं बन सकता है, मोक्षरूप इच्छित अर्थ की प्राप्ति नहीं करवा सकता है।[118]

अतः सम्यक्ज्ञान के साथ कुशल क्रिया की भी आवश्यकता है। जिस क्रिया के माध्यम से स्वच्छन्दवृत्ति का निरोध होता है और आत्मा सदाचार में प्रवर्त्तन करती है वह कुशल क्रिया कहलाती है, क्योंकि इस क्रिया का फल मुक्ति, मोक्ष, शिव सुख, परमानंद या परमपद की प्राप्ति है और वह क्रिया अर्हत्प्ररूपित प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान ही कुशल क्रिया है।

प्रत्याख्यान आवश्यक की उपादेयता

प्रत्याख्यान, त्याग के क्षेत्र में ली गयी प्रतिज्ञा या आत्मनिश्चय है। जैन

दार्शनिकों का अनुभूत सत्य कहता है कि दुष्प्रवृत्ति से विरत होने के लिए केवल उसे नहीं करना, इतना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसके नहीं करने का आत्म-निश्चय भी आवश्यक है। जैन सिद्धान्त के अनुसार दुराचरण नहीं करने वाला व्यक्ति भी जब तक दुराचरण त्याग की प्रतिज्ञा नहीं लेता, तब तक दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं हैं। मात्र परिस्थितिगत विवशताओं के कारण जो दुराचार में प्रवृत्त नहीं है वह भी दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं हैं। जैसे बन्दीगृह में रहा हुआ चोर चौर्य-कर्म से निवृत्त होता हुआ भी उसके दोष से मुक्त नहीं होता, क्योंकि उसकी मनोवृत्ति चौर्यकर्म से युक्त है। प्रत्याख्यान, दुराचार से निवृत्त होने के लिए किया जाने वाला दृढ़ संकल्प है। इस संकल्प का तद्रूप आचरण करने से इहलोक में आत्म शान्ति और परलोक में शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रत्याख्यान की महिमा का संगान करते हुए नवविध प्रत्याख्यान का फल बताया गया है–

1. संभोग प्रत्याख्यान– मुनि के द्वारा लाए गए आहार को मण्डली स्थान में या मण्डलीबद्ध बैठकर नहीं खाने का संकल्प करना संभोग प्रत्याख्यान है। सम्भोग प्रत्याख्यान से आलम्बनों का क्षय होकर निरवलम्ब साधक के मन-वचन-काया के योगों का निरोध हो जाता है। फिर वह स्वयं के द्वारा उपार्जित लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है, दूसरों के लाभ की कल्पना भी नहीं करता।[119]

2. उपधि प्रत्याख्यान– आत्म साधना में सहयोगभूत वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग करना उपधि प्रत्याख्यान है। उपधि के प्रत्याख्यान से स्वाध्याय, ध्यान आदि में विघ्न उपस्थित नहीं होता तथा आकांक्षा से रहित होने के कारण वस्त्र आदि मांगने की और उनकी रक्षा करने की चिन्ता न होने से मन में संक्लेश भी नहीं होता।[120]

3. आहार प्रत्याख्यान– अल्पकाल या दीर्घकाल के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग करना आहार प्रत्याख्यान है। आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नहीं रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव में भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।[121]

4. कषाय-प्रत्याख्यान– क्रोध, मान, माया व लोभ वृत्ति को न्यून करना या समाप्ति हेतु प्रयत्नशील रहना कषाय प्रत्याख्यान है। कषाय के प्रत्याख्यान से वीतराग भाव प्राप्त होता है। वीतराग भाव को प्राप्त जीव सुख-दुःख में सम परिणामी हो जाता है।[122]

5. योग प्रत्याख्यान– मन, वाणी एवं शरीर सम्बन्धी प्रवृत्तियों को रोकना योग प्रत्याख्यान है। इससे जीव अयोग दशा अर्थात चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तथा नए कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।[123]

6. शरीर प्रत्याख्यान– अभ्युद्यत मरण (भक्तपरिज्ञा, इंगित और पादपोपगमन अनशन) स्वीकार करना शरीर प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान से सिद्धावस्था की प्राप्ति और परमसुख की उपलब्धि होती है।[124]

7. सहाय प्रत्याख्यान– संयमी जीवन में किसी दूसरे का सहयोग न लेना सहाय प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान से जीव एकत्व भाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव (एकाग्रता) प्राप्त होने से वह शब्द विहीन, कलह विहीन, संयमबहुल और समाधि सम्पन्न हो जाता है।[125]

8. भक्त प्रत्याख्यान– त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग करना भक्त प्रत्याख्यान है। भक्त प्रत्याख्यानी अनेक भवों (जन्म-मरणों) का निरोध कर लेता है।[126]

9. सद्भाव प्रत्याख्यान– सभी प्रकार के व्यापार का परिहार कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना सद्भाव प्रत्याख्यान है। यह सर्वान्तिम और पूर्ण प्रत्याख्यान है। इससे पूर्व कहे गए सभी प्रत्याख्यान अपूर्ण होते हैं, क्योंकि उनमें प्रत्याख्यान करने की अपेक्षा शेष रहती है, जबकि 14वें गुणस्थान की भूमिका पर पहुँचे हुए साधक के लिए किसी प्रत्याख्यान की आवश्यकता नहीं रहती। इस भूमिका में शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण पर आरूढ़ साधक सर्व कर्मों को क्षीणकर सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से अतीतकृत पापकर्म विनष्ट हो जाते हैं वर्तमानकृत पापों का आश्रव (आगमन) रूक जाता है और अनागत काल के पापकृत्य भी अवरुद्ध हो जाते हैं।[127]

भगवतीसूत्र के दूसरे शतक में प्रश्नोत्तर रूप से इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि श्रमण की पर्युपासना का फल श्रवण है, श्रवण का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल विज्ञान है और विज्ञान का फल प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का फल संयम है, संयम का फल अनास्रव हैं, अनास्रव का फल तप है, तप का फल कर्म नाश है, कर्मनाश का फल निष्क्रियता है और

निष्क्रियता का फल सिद्धि है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्याख्यान का पारम्परिक फल सिद्धि है।[128]

चतु:शरण प्रकीर्णक में प्रत्याख्यान का महत्त्व दर्शाते हुए वर्णित किया है कि गुणधारणा रूप प्रत्याख्यान से तप आचार की और षडावश्यक कर्म से वीर्याचार की शुद्धि होती है।[129]

प्रत्याख्यानभाष्य में इसे पूर्व पुरुषों द्वारा आचरित सिद्ध करते हुए कहा गया है कि तीर्थंकर प्रणीत इस प्रत्याख्यान का सेवन करके अनन्त जीवों ने शाश्वत सुखरूप मोक्ष पद को शीघ्र प्राप्त किया है।[130]

आधुनिक सन्दर्भ में प्रत्याख्यान आवश्यक की प्रासंगिकता

प्रत्याख्यान, यह नियंत्रण में आने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। नियंत्रण जीवन का अभिन्न अंग है अत: प्रत्याख्यान आवश्यक का विशेष प्रभाव व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में देखा जाता है। कई लोगों की इस विषय में कुछ गलत धारणाएँ भी है कि जैसे प्रत्याख्यान बंधन कारक है और बंधन प्रगति में बाधक है। परन्तु जो लोग इसमें निहित रहस्यों एवं इसकी महत्ता को जानते एवं समझते हैं वे लोग वर्तमान के प्रतिस्पर्धात्मक युग में इसे संतोष प्राप्ति का अचूक उपाय मानते हैं। व्यक्तिगत जीवन में भी इसके द्वारा अनिष्ट प्रवृत्तियों एवं अनावश्यक व्यय पर नियंत्रण किया जा सकता है। जीवन में बढ़ती भोगवृत्ति, सुख़ पाने की लालसा, इच्छा आदि को कम करने में भी इसकी अहम भूमिका हो सकती है। समाज में बढ़ते आर्थिक भेद को एवं आपसी वैमनस्य को शांत करने हेतु यह सहायक हो सकता है। सामन्यतया वैयक्तिक जीवन में बढ़ती इच्छाओं के कारण अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती है। इसी कारण से अनेकानेक सुख-सुविधाओं के बीच भी व्यक्ति खुश नहीं है। प्रत्याख्यान के माध्यम से प्राप्त अल्प सामग्री में भी सुख एवं संतोष पूर्वक रहा जा सकता है तथा अनेक अनावश्यक चिंताओं एवं परिश्रम से भी बचा जा सकता है। किसी भी वस्तु का त्याग या प्रत्याख्यान होने पर उस संदर्भ में संकल्प-विकल्प उपस्थित नहीं होता। समाज में तप-त्याग की संस्कृति का विकास होने से भावी पीढ़ी में स्वनियंत्रण का गुण विकसित होता है।

आधुनिक जगत में भौतिक संसाधनों के विकास के साथ-साथ नवीन समस्याओं का भी उद्भव हुआ है। नित नए आविष्कारों के साथ विनाश सर्जक

शस्त्र भी उतनी ही तीव्र गति से विकसित हो रहे हैं। पर आज भी भारतीय संस्कृति में धर्म और अध्यात्म का प्रभाव होने से अनेकांश समस्याओं का निवारण हमारे समक्ष हैं। प्रत्याख्यान या तप-त्याग यह हमारी पैत्रिक सम्पत्ति है। इसके माध्यम से सर्वप्रथम तो परिग्रह की संग्रह बुद्धि कम होती है और आज जो आर्थिक भेद दृष्टिगत होता है वह कम हो सकता है। बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक तंगी, बढ़ता अपराधिकरण, अपहरण, चोरी आदि कई राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं का निवारण हो सकता है। अति परिश्रम एवं दौड़-भाग भरी जिंदगी के बाद भी आज व्यक्ति खुश नहीं है, परिवार में मेल-जोल नहीं है, आपस में स्नेह नहीं है क्योंकि सभी के लिए अपना स्वार्थ मुख्य है। ऐसे विषम समय में प्रत्याख्यान स्वार्थवृत्ति को न्यून करता है। आहार का संकोच या उसका सर्वथा त्याग करने से विषय-वासना नियंत्रित होती है जिससे कई रोगों पर विजय भी प्राप्त होती है।

नियम ग्रहण करने पर मनोबल एवं संकल्प बल की शक्ति असीम होने से उस व्यक्ति के लिए प्रत्येक कार्य को पूर्ण करना सुगम हो जाता है। इस प्रकार अनेकानेक समस्याओं का समाधान प्रत्याख्यान के माध्यम से हो सकता है।

प्रत्याख्यान, प्रबंधन के क्षेत्र में भी सहयोगी बन सकता है। प्रत्याख्यान का अर्थ है नियमबद्धता। नियमदृढ़ता अनुशासन का विकास करती है। अनुशासन के द्वारा कार्यालय,स्कूल आदि का संचालन सम्यक् प्रकार से हो सकता है। अत: सामूहिक क्षेत्रों के प्रबंधन में प्रत्याख्यान आवश्यक है।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार नियंत्रण आवश्यक है और प्रत्याख्यान आहार नियंत्रण का उत्तम उपाय है। इसके द्वारा शरीर प्रबन्धन एवं रोग प्रबन्धन में सहायता प्राप्त होती है। प्रत्याख्यान के द्वारा व्यक्ति की एक मर्यादा निर्धारित हो जाती है जिससे उसके मानसिक एवं शारीरिक श्रम की बचत हो सकती है। इससे तनाव प्रबन्धन हो सकता है। समय की बचत होती है इससे समय का सत्कार्यों में नियोजन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्याख्यान के माध्यम से समय, शक्ति, तनाव आदि का सम्यक् नियोजन या प्रबन्धन किया जा सकता है।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति और विशेषत: जैन संस्कृति त्याग प्रधान है। इस परम्परा में त्याग को ही जीवन का लक्ष्य माना गया है, भोग को नहीं। भोग प्रधान संस्कृति उपादेय नहीं है, क्योंकि उसके परिणाम भयावह हैं जैसे- रोग, शोक, संपात, संघर्ष, कलह, अशान्ति आदि। जबकि त्यागमूलक संस्कृति सुख, शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण है।

षडावश्यकों में त्याग (प्रत्याख्यान) का सर्वोत्तम स्थान माना गया है। जिस प्रकार सामायिक द्वारा समत्व की सिद्धि करके मुक्ति पर्यन्त पहुँच सकते हैं; चतुर्विंशतिस्तव द्वारा दर्शन बोधि, ज्ञान बोधि और चारित्रबोधि को प्राप्त करके शिवसुख साध सकते हैं; वंदन द्वारा ज्ञान और क्रिया में कुशल होकर मोक्षसुख को प्राप्त कर सकते हैं; प्रतिक्रमण द्वारा आत्मशुद्धि करके परमानन्द की प्राप्ति कर सकते हैं और कायोत्सर्ग द्वारा शुभध्यान की श्रेणि चढ़ते हुए परमपद में स्थिर हो सकते हैं उसी प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा संयम धर्म की साधना करके सिद्धिपद के अधिकारी हो सकते हैं।

प्रत्याख्यान का मूल लक्ष्य आत्म दोषों का निराकरण, उन्हें पुन: न करने का संकल्प और ज्ञान आदि सद्गुणों की प्राप्ति है। वस्तुत: प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है।जैन सिद्धान्त में संसार बन्ध का एक कारण अविरति भी माना गया है, प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है।

सत-असत प्रज्ञा के आधार पर प्रत्याख्यान भी सत–असत कहलाता है। भगवतीसूत्र में गौतमस्वामी परमात्मा महावीर से प्रश्न करते हैं कि किस साधक का सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का दुष्प्रत्याख्यान है? परमात्मा इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि जिस आत्मा को जीव-अजीव का परिज्ञान है और प्रत्याख्यान के उद्देश्य को भलीभाँति जानता है उस जीव का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। इसके विपरीत जिस आत्मा को जीव-अजीव का परिज्ञान नहीं है और जो प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता है उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है अर्थात समझ पूर्वक किया गया प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और अज्ञानपूर्वक किया गया प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान कहलाता है।[131]

इस शास्त्र पाठ के अनुसार प्रत्याख्यान छोटा हो या बड़ा, उसका यथार्थ

रूप से पालन करना चाहिए। प्रत्याख्यान का यथाविधि आचरण करने पर ही चारित्र गुण की पुष्टि, आस्रव का निरोध, तृष्णा का उच्छेद और अतुल उपशम गुण की प्राप्ति होती है। इसी तथ्य की पुष्टि उपरोक्त अध्याय में की गई है।

सन्दर्भ-सूची

1. *पइसद्दो पडिसेहे, अक्खाणं खावणाऽभिहाणं वा।*
पडिसेहस्स-क्खाणं, पच्चक्खाणं निवित्ती वा।।
विशेषावश्यकभाष्य, 34-03
2. *प्रत्याख्यायते निषिध्यतेऽनेन मनोवाक्कायक्रिया जालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानम्।* *आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 208*
3. *प्रत्याख्यायतेऽस्मिन् सति वा प्रत्याख्यानम्।* *वही, पृ. 208*
4. *(क) प्रति आख्यानं प्रत्याख्यानम्।*
(ख) प्रति-प्रवृत्ति प्रतिकूलतया आ मर्यादया ख्यानं प्रकथनं प्रत्याख्यानम्।
योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति, प्रकाश-3
5. *अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आ-मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्।* *प्रवचनसारोद्धार, द्वार 4, पत्र 114*
6. *पडिकूलमविरईए, विरई भावस्स आभिमुक्खेणं।*
खाणं कहणं सम्मं, पच्चक्खाणं विणिदिट्ठं।।
प्रत्याख्यान स्वरूप, गा. 3 उद्धृत-प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 103
7. *णमादीणं छण्णं, अजोग्ग परिवज्जणं तिकरणेण।*
पच्चक्खाणं णेयं, अणागयं चागमे काले।।
मूलाचार, 1/27 की टीका
8. *अनागत दोषापोहनं प्रत्याख्यानम्।* *तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 6/24, पृ. 530*
9. *महव्वयाणं विणासण...पच्चक्खाणं णाम।* *धवलाटीका, 8/3,41/85/1*
10. *व्यवहारनयादेशात् मुनयो....एतद्व्यवहार प्रत्याख्यानस्वरूपम्।*
नियमसार तात्त्विकवृत्ति, 95
11. *कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्हि बज्झदिभविस्सं।*
तत्तो णियत्तदे जो सो, पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।
समयसार, 384
12. *नियमसार, गा. 95, 97*

13. *आगम्यागोनिमित्तानां, भावानां प्रतिषेधनं।*
प्रत्याख्यानं समादिष्टं, विविक्तात्मविलोकिनः ।।

योगसार प्राभृत, 5/51

14. *पच्चक्खाणं नियमो, अभिग्गहो विरमणं वयं विरई।*
आसव-दार-निरोहो, निवित्ति एगट्ठिया सद्दा ।।

प्रत्याख्यान स्वरूप, गा. 2 उद्धृत, प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 103

15. *पच्चक्खाणं नियमो, चरित्त-धम्मो य होंति एगट्ठा।*
मूलुत्तरगुण-विसयं, चित्तमिणं वण्णियं समए ।।

पंचाशक प्रकरण, 5/2

16. *पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो।*

धवला टीका, 6/1, 9-1, 23/44/4

17. *तं दुविहं सुअनोसुअं, सुअं दुहा पुव्वमेव नो पुव्वं।*
पुव्वसुय नवमपुव्वं, नोपुव्वसुयं इमं चेव ।।
नो सुअपच्चक्खाणं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूले सव्वं देसं, इत्तरियं आवकहियं च ।।

आवश्यकभाष्य, 241-242

18. (क) *भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 7/2/सू. 2-8*
(ख) *आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 273*

19. (क) *नामट्ठवणा दव्वे खेत्ते, काले य होदि भावे य।*
एसो पच्चक्खाणे, णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।।

मूलाचार, 7/634 की टीका

(ख) *तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल भाव विकल्पेन षड्विधं।*

भगवती आराधना, गा. 118 की टीका

20. (क) *आवश्यकनिर्युक्ति, 1564-1565*
(ख) *प्रवचनसारोद्धार, गा. 187-201*
(ग) *अणागय मइक्कंतं, कोडीसहियं नियंटि अणगारं।*
सागार निरवसेसं, परिमाणकडं सके अद्धा ।।

प्रत्याख्यानभाष्य, गा. 2

(घ) *अणागद मदिकंतं, कोडीसहिदं णिखंडियं चेव।*
सागारमणागारं, परिमाणगदं अपरिसेसं ।।

अद्धाणगदं णवमंदसमं, तु सहेदुगं वियाणाहि।
पच्चक्खाणवियप्पा, णिरूत्तिजुत्ता जिणमयह्मि ॥
मूलाचार, 6/629-640

21. (क) *आवश्यकनिर्युक्ति, 1570*
    (ख) *उत्तराध्ययन-शान्त्याचार्य टीका, पत्र 706*
22. *मूलाचार, भा. 1, पृ. 470*
23. *आवश्यकनिर्युक्ति, 1571-1573*
24. *मूलाचार, पृ. 470*
25. *प्रवचनसारोद्धार, गा. 199-200*
26. (क) *प्रवचनसारोद्धार, द्वार 4, गा. 200*
    (ख) *प्रत्याख्यानभाष्य, पृ. 166-167*
    (ग) *प्रबोधटीका, भाग 3, पृ. 106*
27. (क) *प्रवचनसारोद्धार, गा. 200 की टीका*
    (ख) *अंगुट्ठ-मुट्ठि-गंठी, घर सेउस्सास थिवुग जोइक्खे।*
    भणियं सकेअभेयं, धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥
    आवश्यकनिर्युक्ति, 1578
28. (क) *नमुक्कार पोरिसीए, पुरिमड्ढेगासणेगठाणे य।*
    आयंबिल अभत्तट्ठे, चरिमे य अभिग्गहे विगई ॥
    आवश्यकनिर्युक्ति, 1579
    (ख) *प्रवचनसारोद्धार, गा. 201-202 की टीका*
    (ग) *प्रत्याख्यानभाष्य, गा. 3*
29. *आयामम्– अवश्रावणं, अम्लं च सौवीरकं त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदन-कुल्माषसत्कु प्रभृतिके तद् आयामाम्लं समय भाषया उच्यते–*
    पंचाशक, गा. 9 की अभयदेव टीका, पत्र 92
30. *अंबिलं नीरसजलं, दुप्पाय धाउ-सोसणं।*
    कामग्घं मंगलं सायं, एगट्ठा अंबिलस्सावि ॥
    संबोधप्रकरण, गा. 98
31. *मुत्तो समणो धम्मो, निप्पावो उत्तमो अणाहारो।*
    चउप्पाओऽभत्तट्ठो, उववासो तस्स एगट्ठा ॥
    वही, 99

32. *सा पुण सद्दहणा जाणणा य, विणयाणु भासणा चेव।*
अणुपालणा-विसोही, भावविसोही भवे छट्ठा॥

(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1586

(ख) पंचाशक प्रकरण, 5/5

33. *पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ता तं जहा– सद्दहणसुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे। स्थानांगसूत्र, 5/3/221*

34. *किदियम्मं उवचारिय, विणओ तह णाणदंसणचरित्ते।*
पंचविधविणयजुत्तं, विणयसुद्धं हवदि तं तु॥

मूलाचार, 7/642

35. *थंभा कोहा अणाभोगा, अणापुच्छा असंतइं।*
परिणामओ असुद्धो, अवाउ जम्हा विउ पमाणं॥

आवश्यकभाष्य, 253

36. *मूलगुण उत्तरगुणे सव्वे देसे य तह य सुद्धीए।*
पच्चक्खाणं विहिन्नू, पच्चक्खाया गुरु होइ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, 1614

37. *किइकम्माइ विहिन्नू उवओगपरो अ असढभावो अ।*
संविग्गथिरपइन्नो, पच्चक्खावितओ भणिओ॥

वही, 1615

38. *(क) इत्थं गुण चउभंगो जाणगइअरंमि गोणिनाएणं।*
सुद्धासुद्धा पढमंतिमा, उ सेसेसु अ विभासा॥

वही, 1616

(ख) पंचाशक प्रकरण, 5/6

(ग) जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणग सगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणग सगासे।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार 4 की टीका, पत्र 114

39. *प्रत्याख्यानं यदासीत्तत्, करोति गुरुसाक्षिकम्।*
विशेषेणाथ गृह्णाति, धर्मोऽसौ गुरुसाक्षिकम् ॥1॥

प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 107

40 *वही, पृ. 107*

41. गुरुसक्खिओ उ धम्मो, संपुन्नविही कयाइ य विसेसो।
तित्थयराण य आणा, साहु समीवंमि वोसिरउ।।
श्रावकप्रज्ञप्ति, गा. 351
42. आवश्यकसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, पृ. 111, 6/1
43. वही, पृ. 6/2
44. वही, पृ. 6/3
45. वही, पृ. 6/4
46. वही, पृ. 6/5
47. वही, पृ. 6/6
48. प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 94
49. आवश्यकसूत्र, 6/10
50. अर्वाचीन कृतियों में 'सूरे उग्गए' ऐसा पाठ मिलता है तथा वर्तमान व्यवहार में भी यही प्रचलित है। प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 94
51. वही, पृ. 94
52. आवश्यकसूत्र, 6/7
53. प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 95
54. आवश्यकसूत्र, 6/9
55. प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 96
56. आवश्यकसूत्र, 6/8
57. प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 96
58. वही पृ. 97
59. वही पृ. 97
60. आवश्यकसूत्र, पृ. 120
61. वही, पृ. 120
62. गीता, 18/4, 7-9
63. दो चेव नमोक्कारे, आगारा छच्च पोरिसीए उ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एक्कासणगंमि अट्ठेव।।
सत्तेगट्ठाणस्स उ, अट्ठेव य अंबिलंमि आगारा।
पंचेव अब्भत्तट्ठे, छप्पाणे चरिम चत्तारि।।

पंच चउरो अभिग्गहि, निव्विइए अट्ठ नव य आगारा।
अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 203-205

दो नवकारि छ पोरिसी, सग पुरिमड्ढे इगासणे अट्ठ।
सत्तेगठाणि अंबिलि, अट्ठ पण चउत्थि छप्पाणे ॥
चउ चरिमे चउभिग्गहि, पण पावरणे नवट्ठ निव्वीए।
आगारूक्खित्तविवे-गमुत्तु दव्वविगइ नियमिट्ठ ॥

(ख) प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 16-21

(ग) पंचाशक प्रकरण, 5/8-11

64. न आभोगोऽनाभोगः-अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः।

आवश्यक हारिभद्रीय टीका पत्र, 849

65. आवश्यकचूर्णि, 2 पृ. 315
66. प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 25 का विशेषार्थ
67. गुरुणामभ्युत्थानार्हत्वादवश्यं भुञ्जानेनाऽप्युत्था नं कर्त्तव्यमिति, न तत्र प्रत्याख्यानभङ्गः। प्रवचनसारोद्धार, द्वार 4 की टीका
68. परिठावण विहिगहिए। प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 26
69. पंचाशक, गा. 5/9 की अभयदेव टीका, पत्र 93
70. प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 27
71. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1608
72. प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं मण्डकादि-कमपेक्ष्य मृक्षितं स्नेहितम्।

पंचाशक, गा. 11 की अभयदेव टीका, पत्र 94

73. विस्सरणमणाभोगो, सहसागारो सयं मुहपवेसो।
पच्छन्नकाल मेहाई, दिसि विवज्जासु दिसिमोहो ॥
साहुवयण उग्घाड़ा-पोरिसि, तणुसुत्थया समाहिसि।
संघाइकज्जमहत्तर, गिहत्थ वंदाइ सागारी ॥
आउंटण मंगाणं, गुरु पाहुण साहु गुरु अभुट्ठाणं।
परिठावण विहिगहिए, जईण पावरणि कडिपट्टो ॥
खरडिय लूहिय डोवाई, लेव संसट्ठ डुच्च मंडाई।
उक्खित्त पिंड विगईण, मक्खियं अंगुलीहिं विणा ॥

लेवाडं आयामाइ, इयर सोवीर-मच्छ मुसिण जलं।
धोयण बहुल ससित्थं, उस्सेइम इयर सित्थविणा ।।

प्रत्याख्यानभाष्य, गा. 24-28

74. *पंचाशक प्रकरण, 5/12*
75. *पंचवस्तुक, गा. 515-516*
76. *पंचाशक प्रकरण, 5/13*
77. *वही, 5/14*
78. *(क) पंचाशक प्रकरण, 5/16-19*
    (ख) पंचवस्तुक, 517-528
79. *पंचाशक प्रकरण, 5/21*
80. *(क) पंचाशक, 5/24*
    (ख) पंचवस्तुक, 527-528
81. *मण-वयण-काय मणवय, मणतणु-वयतणु-तिजोगि सग सत्त।*
    कर कारणु मइ दु ति जुइ, तिकालि सीयाल भंगसयं।।

    प्रत्याख्यान भाष्य, भा. 42
82. *उग्गए सूरे अ नमो, पोरिसि पच्चक्ख उग्गए सूरे।*
    सूरे उग्गए पुरिमं, अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ त्ति ।।

    प्रत्याख्यानभाष्य, गा. 4
83. *भणइ गुरू सीसो पुण, पच्चक्खामित्ति एव वोसिरइ।*
    उवओगित्थ पमाणं, न पमाणं वंजणच्छलणा ।।

    वही, गा. 5
84. *पढमे ठाणे तेरस, बीए तिन्नि उ तिगाइ (य) तइयंमि।*
    पाणस्स चउत्थंमी, देसवगासाइ पंचमए ।।
    नमु पोरिसि सड्ढा, पुरि-मवड्ढ अंगुट्ठमाइ अडतेर।
    निवि विगइं-बिल तियतिय, दु इगासण एगठाणाई ।।

    प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 6-7
85. *पढमंमि चउत्थाई, तेरस बीयंमि तइय पाणस्स।*
    देसावगासं तुरिए, चरिमे जहसंभवं नेयं ।।

    वही, गा. 8

86. तह तिविह पच्चक्खाणे, भन्नंति य पाणगस्स आगारा।
दुविहाहारे अच्चित्त, भोइणो तह य फासुजले॥
वही गा. 10

87. आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भा. 2. पृ. 248

88. वही, पृ. 248

89. फासियं पालियं चेव, सोहियं तीरियं तहा।
किट्टिअमाराहिअं चेव, एरिसयंमी पयइयव्वं॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1593
फासियं नाम जदि सो कालो...
अनुपालियं नाम अनुस्मृत्यानुस्मृत्य।
तीर्थंकरवचनं प्रत्याख्यानं पालयियव्वं॥
(ख) आवश्यकचूर्णि भा. 2, पृ. 314

90. प्रवचनसारोद्धार, 4/212-215

91. प्रत्याख्यानभाष्य, 44-45

92. (क) प्रवचनसारोद्धार, अनु.हेमप्रभा श्री, भा. 1 पृ. 93, 97
(ख) धर्मसंग्रह, भा. 2, पृ. 196, 214

93. (क) पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरूद्धासवे।
(ख) पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूम्भइ। उत्तराध्ययनसूत्र, 21/12-13

94. वही, 30/5-6

95. जिनवाणी-प्रतिक्रमण विशेषांक, नवम्बर-2006, पृ. 228-230 के आधार पर

96. पंचाशक प्रकरण, 5/25

97. वही, 5/26

98. (क) पंचाशक प्रकरण, 5/27-30
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 4/207-210

99. असणं ओयणसत्तुमुग्ग, जगाराइ खज्जगविही य।
खीराई सूरणाइ, मंडगपभिई च विण्णेयं॥
पंचाशक प्रकरण, 5/27

100. पाणं सोवीर जवोदगाइ, चित्तं सुराइगं चेव।
आउक्काओ सव्वो, कक्कडग जलाइयं च तहा॥
वही, 5/28

101. भत्तोसं दन्ताई खज्जूरं, नालकेर दक्खादी।
कक्कडिगंबग फणसाइ, बहुविहं खाइमं णेयं॥

वही, 5/29

102. दंतवणं तंबोलं चित्तं, तुलसी कुहेड गाई य।
महुपिप्पलि सुंठाई, अणेगहा साइमं होइ॥

वही, 5/30

103. धर्मसंग्रह- अनु. पन्यास पद्मविजय, भा. 2, पृ. 200-2-03

104. चउहाहारं तु नमो, रत्तिंपि मुणीण सेस तिय चउहा।
निसि पोरिसि पुरिमेगा-सणाइ सड्ढाण दुतिचउहा॥

वही, गा. 12

105. रोग आदि प्रबल कारण उपस्थित होने पर ही पोरिसि आदि प्रत्याख्यान दुविहार पूर्वक होते हैं, किन्तु यह व्यवहार मार्ग नहीं है, अपवाद मार्ग है।

श्राद्धविधि टीका, उद्धृत, धर्मसंग्रह, भा. 2 पृ. 193

106. संकेअपच्चक्खाणं, साहूणं रयणि भत्त वेरमणं।
तह य नवकार सहिअं, नियमेण चउव्विहाहारं॥

यतिदिनचर्या, देवसूरि, गा. 50

107. (क) आवश्यकचूर्णि, पृ. 319

(ख) खीरंदहि णवणीयं, घयंतहा तेल्लमेव गुडमज्जं।
महु मंसं चेव तहा, उग्गाहिमगं च विगईयो॥

पंचवस्तुक, 371

(ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 217

(घ) प्रत्याख्यान भाष्य, गा. 29

108. (क) प्रवचनसारोद्धार, 4/227-233

(ख) प्रत्याख्यान भाष्य, 30-36

109. अह पेया दुद्धट्टी, दुद्धावलेही य दुद्धसाडी य।
पंच य विगयगयाइं, दुद्धंमी खीर सहियाइं॥
अंबिल जुअंमि दुद्धे, दुद्धट्टी दक्खमीस रद्धंमि।
पय साडी तह तंदुल, चुण्ण य सिद्धंमि अवलेही॥

प्रवचनसारोद्धार, 4/227-228

110. *दहिए विगइ गयाइं, घोलवडा घोल सिहरणि करंभो।*
लवण कण सहिय महियं, संगरि गाइम्मि अप्पडिए ।।
वही, 4/229

111. *पक्क घयं घय किट्टी, पक्कोसहि उवरि तरिय सप्पि च।*
निब्भंजण-विस्संदण, गाय घय विगइ गयाइं ।।
वही, 4/230

112. *तिल्लमल्ली तिल कुट्टी, दुद्ध तिल्लं तहो सहुव्वरिअं।*
लक्खाइ दव्व पक्कं, तिल्लं तिल्लंमि पंचेव ।।
वही, 4/231

113. *अद्धकओ इक्खुरसो, गुलावाणि अयं च सक्करा खंड।*
पाय गुडो गुल विगइ, विगई गयाइं तु पंचेव ।।
प्रवचनसारोद्धार, 4/232

114. *एगं एगस्सुवरिं तिण्होवरि बीयंग च जं पक्कं।*
तुप्पेणं तेण चिय, तइअं गुलहाणि यापभिई ।।
चउत्थं जलेण सिद्धा, लप्प सिआ पंचमं तु पूअलिया।
तुप्पडिय तावियाए, पारिपक्का तास मिलिए सुं ।।
वही 4/233-234

115. *पच्चक्खाणंमि कए, आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।*
आसव-वुच्छेएणं, तण्हा-वुच्छेयणं होइ ।।
तण्हा-वोच्छेदेण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ।।
तत्तो चरित्त धम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवल-नाणं, तओ य मुक्खो सया सुक्खो ।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 1594-1596

116. *प्रबोधटीका, भा. 3, पृ. 576-577*

117. *जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।*
दोमास-कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ।।
उत्तराध्ययनसूत्र, 8/17

118. सक्किरिया-विरहाओ, न इच्छिय संपावयंति नाणं ति।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो वाय-विहीणोऽहवा पोओ।
विशेषावश्यकभाष्य, 1144

119. संभोग-पच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ... उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।
उत्तराध्ययनसूत्र, 29/34

120. उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ।
निरूवहिए णं जीवे निक्कंखे, उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ।।
वही, 29/35

121. आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ...संकिलिस्सइ।
वही, 29/36

122. कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वही, 29/37

123. जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ...पुव्वबद्धं च निज्जरेइ। वही, 29/38

124. सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ... परमसुही भवइ।
वही 29/39

125. सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ...संजम बहुले... यावि भवइ।
वही, 29/40

126. भत्त-पच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरूम्मइ। वही, 29/41

127. सब्भाव-पच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ..सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।
वही, 29/42

128. भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/5/सू. 26

129. गुणधारणरूवेणं, पच्चक्खाणेण तव-इआरस्स।
विरियायारस्स पुणो, सव्वेहिं वि कीरए सोही।।
चतुःशरण प्रकीर्णक, गा. 7

130. पच्चक्खाणमिणं सेविऊणं, भावेण जिणवरूद्दिट्ठं।
पत्ता अणंतजीवा, सासय-सुक्खं अणाबाहं।।
प्रत्याख्यानभाष्य, 48

131. भगवतीसूत्र, 7/2/सू. 1-2

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनगारधर्मामृत	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	1977
2.	अणुओगदाराइं	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996
3.	अनुयोगद्वार	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1987
4.	अनुयोगद्वारसूत्र (चूर्णि-वृत्ति सहित)	संपा.मुनि जम्बूविजयजी	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	1999
5.	अनुयोगद्वारचूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	1928
6.	अनुयोगद्वार टीका	आचार्य हरिभद्रसूरि	ऋषभदेवजी केसरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	1928
7.	अन्तकृतदशासूत्र (अंगसुत्ताणि खं.-3)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं 2049
8.	अष्टक प्रकरण	आचार्य हरिभद्रसूरि अनु. डॉ. अशोक सिंह	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	2000
9.	अजितशांतिस्तव (प्रबोध टीका भा. 3)	संपा. नरोत्तमदास नगीनदास शाह	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	वि.सं 2034
10.	अमितगति श्रावकाचार	अनु. पं. भागचन्दजी	श्री दिगम्बर जैन मंदिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली	1989 -90
11.	आनन्दघन देवचन्द्रजी कृत चौवीशी	—	विमल प्रमोद ज्ञान मंदिर, फलोदी	वि.सं 2012
12.	आवश्यकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1928 -29
13.	आवश्यकचूर्णि(भा.1-2)	जिनदासगणि महत्तर	श्री ऋषभदेवजी केसरीमल जी श्वे. संस्था, रतलाम	1928 -29

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
14.	आवश्यक हारिभद्रीय टीका (भा.1-2)	टीका. आ.हरिभद्रसूरि	श्री भैरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
15.	आवश्यकनिर्युक्ति (भा.1-2)	निर्यु. आ. भद्रबाहु	श्री भैरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
16.	आवश्यकनिर्युक्ति	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्वभारती, लाडनूं	2001
17.	आवश्यक भाष्य	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्वभारती, लाडनूं	वि.सं. 2038
18.	आत्मप्रबोध	जिनलाभसूरि	जिनदत्तसूरि जैन भंडार, पायधुनी मुम्बई	वि.सं. 1997
19.	आचार दिनकर (भा. 1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णय सागर मुद्रालय, मुम्बई	1922
20.	आचारांगसूत्र (भा.1-2)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
21.	आचारांग टीका	आचार्य शीलांक	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1978
22.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
23.	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	टीका. शान्त्याचार्य	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई	वि.सं. 1973
24.	उत्तराध्ययननिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1999
25.	उपासकदशा (अंगसुत्ताणि खं.3)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
26.	कल्याणमंदिर स्तोत्र (प्रात: नित्य स्मरण संग्रह)	आ. सिद्धसेन दिवाकर	पुण्य स्वर्ण-ज्ञानपीठ, जयपुर	1985

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
27.	कषायपाहुड़	आ. कुन्दकुन्द	दिगम्बर जैन संघ मथुरा	वि.सं. 2000
28.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामीकुमार	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	वि.सं. 2016
29.	गीता	महर्षि वेदव्यास	डब्ल्यू. डी.पी. हिल आक्सफोर्ड	1953
30.	गुरुवंदनभाष्य(त्रणभाष्य, भावार्थ सहित)	आचार्य देवेन्द्रसूरि	जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा	1930
31.	गोम्मटसार-जीवकाण्ड (जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका)	नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कोलकाता	1929
32.	चतु:शरण प्रकीर्णक	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	2000
33.	चारित्रसार	चामुण्डराय	दि.जैन ग्रन्थमाला, मुंबई	वि.सं. 2488
34.	चेइयवंदणमहाभासं	आचार्य शांतिसूरि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. 1977
35.	चैत्यवंदनभाष्य (त्रणभाष्य-भावार्थ सहित)	आचार्य देवेन्द्रसूरि	जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा	1930
36.	जिनवाणी : प्रतिक्रमण विशेषांक	संपा.डॉ. धर्मचन्द्र जैन	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	2006
37.	जिनसहस्रनाम स्तवन	पं. आशाधर रचित	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	वि.सं. 2010
38.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भा.1-2	डॉ. सागरमल जैन	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1982

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
39.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भा.1-4)	जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1993
40.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भा. 3)	पं.दलसुख मालवणिया संपा.डॉ.मोहनलाल मेहता	पार्श्वनाथ विद्याश्रम,बनारस	1989
41.	जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	1982
42.	तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वाति पं. सुखलाल संघवी	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस	1976
43.	तत्त्वार्थवृत्ति		भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस	1949
44.	तत्त्वार्थभाष्य (भा.1, 2)	आचार्य उमास्वाति	देवचन्द्र लालचन्द्र जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई	वि.सं. 1982 -86
45.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भा. 1-2)	आचार्य अकलंकदेव संपा. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1953 -57
46.	तब होता है ध्यान का जन्म	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1999
47.	तिलकाचार्य सामाचारी	तिलकाचार्य रचित	डाह्याभाई मोकमचन्द, पांजरापोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1990
48.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
49.	दशवैकालिकचूर्णि	अगस्त्यसिंह संपा. मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रंथ परिषद्, बनारस	1973
50.	दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका	आचार्य हरिभद्रसूरि	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत	

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
51.	दशाश्रुतस्कन्ध	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
52.	दशाश्रुतस्कन्ध (निर्युक्तिचूर्णियुत)		श्री मणिविजयगणि ग्रन्थ माला, भावनगर	वि.सं. 2011
53.	दर्शन और चिंतन (खं.द्वि.)	पं. सुखलाल संघवी	सुखलाल सम्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद	1957
54.	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका	अनु. यशोविजयजी	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2051
55.	दिनचर्या (दिगम्बर)	संकलन. प्रदीप शास्त्री	श्री दिग. प्रकाशन समिति, बरेली	1997
56.	धर्मसंग्रह(अधिकार 1-3)	मुनि मानविजय संपा. मुनिचन्द्र विजय	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, भुलेश्वर, मुम्बई	1984
57.	धर्मसंग्रह (भा. 2)	अनु. पन्यास पद्मविजयजी	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ	1994
58.	धर्मसंग्रहणी टीका	टीका. मलयगिरि अनु.अजितशेखरविजय	आदिनाथ जैन श्वे. मंदिर ट्रस्ट चिकपेट, बैंगलोर	1995
59.	धम्मपद	अनु. राहुल सांस्कृत्यायन	भिक्षु प्रज्ञानन्द बुद्ध विहाह,लखनऊ	1957
60.	धर्मरत्न प्रकरण	आचार्य शांतिसूरि	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	वि.सं. 1982
61.	धवला	वीरसेनाचार्य	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती	1942
62.	ध्यान एक दिव्य साधना	आचार्य शिवमुनि	प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई	2000

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
63.	नमन और पूजन	डॉ. सुदीप जैन	परोपकार ट्रस्ट, कलकत्ता	1996
64.	नवकार महामन्त्र कल्प	संपा.चन्दनमल नागोरी	श्री सद्गुण प्रसारक मित्र मंडल, छोटी सादड़ी	वि.सं. 1990
65.	नन्दीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
66.	नन्दीसूत्र	टीका. मलयगिरि	आगमोदय समिति, सूरत	1917
67.	नायाधम्मकहाओ	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारतीय लाडनूं	2003
68.	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	1916
69.	नियमसारवृत्ति	पद्मप्रभ मलधारी देव	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	1916
70.	निशीथभाष्यचूर्णि (भा. 1-4)	संपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
71.	पद्मनन्दि-पंचविंशति	संपा. हीरालाल जैन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1962
72.	पाइयसद्दमहण्णवो	पं. हरगोविन्ददास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1986
73.	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	अनु. गंभीरचन्द्र जैन	श्री दुलीचन्द्र जैन ग्रंथमाला, सोनगढ़	वि.सं. 2029
74.	प्रतिमा शतक	यशोविजयजी	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2056
75.	प्रवचनसारोद्धार (भा. 1-2)	अनु.साध्वी हेमप्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
76.	प्रवचन सारोद्धार टीका	टीका. सिद्धसेनसूरि	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा	1979

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
77.	प्रश्नव्याकरणसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
78.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार	आचार्य सकलकीर्ति संपा. धर्मचन्द शास्त्री	दिगम्बर जैन मंदिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली	1990
79.	प्रशमरति प्रकरण	उमास्वातिजी विरचित	परम श्रुत प्रभावक मंडल, राजचन्द्र आश्रम अगास	वि.सं. 2514
80.	प्रबोधटीका (भा. 1-3)	संपा. पं. नरोत्तमदास नगीनदास	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	1977
81.	प्रत्याख्यानभाष्य (त्रणभाष्य-भावार्थ सहित)	आचार्य देवेन्द्रसूरि	जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा	1930
82.	प्रज्ञा की परिक्रमा	मुनि किशनलाल	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1985
83.	पंचवस्तुक (भा. 1-2)	अनु. राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, भिवंडी मुम्बई	वि.सं. 2060
84.	पंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय)	आचार्य गुणसागरसूरि	श्री क.वि ओ.दे. जैन महाजन, मुम्बई	वि.सं. 2048
85.	पंचप्रतिक्रमणसूत्र, विधि सहित (पार्श्वचन्द्रगच्छीय)		पार्श्वचन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर चेम्बुर, मुम्बई	1992
86.	पंचाशक प्रकरण	अनु. दीनानाथ शर्मा	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस	1997
87.	पंचाशक प्रकरण	टीका.आचार्य देवसूरि	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1976
88.	बोधिचर्यावतार	शान्ति देव संपा.स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	बौद्धभारती, वाराणसी	वि.सं. 2057
89.	बृहत्कल्पभाष्य(भा.1-6)	संपा. मुनि पुण्यविजय	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1936

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
90.	भगवतीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
91.	भगवई (अंगसुत्ताणि-2)	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
92.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	आचार्य अपराजितसूरि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1978
93.	भक्तामरस्तोत्र (प्रात: नित्य स्मरण संग्रह)	मानतुंगसूरि रचित	पुण्य स्वर्ण ज्ञानपीठ, जयपुर	1985
94.	भावपाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. 1977
95.	भिक्षु आगम विषयकोश (भा. 1-2)	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996 2005
96.	मनोनुशासनम्	आचार्य तुलसी	आदर्श साहित्य संघ, चुरू	1986
97.	महापुराण (भा.1-2)	अनु.पं.जिनदासशास्त्री	शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीणोद्धार संस्था, फलटण	1982
98.	महानिशीथसूत्र	संपा. पुण्यविजयजी	प्राकृत ग्रंथ परिषद्, अहमदाबाद	1994
99.	मनुस्मृति	संपा.गोपालशास्त्री नेने	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	वि.सं. 2063
100.	मूलाचार (भा. 1-2)	आचार्य वट्टकेर टीका.ज्ञानमती माताजी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 1992
101.	योगसार-प्राभृत	संपा.जुगलकिशोर मुख्तार	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस	1968
102.	योगशास्त्र विवरण	हेमचन्द्राचार्य	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	1926

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
103.	योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति	मुनि जम्बूविजयजी	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	1977
104.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	आचार्य समंतभद्र रचित टीका.पं.सदासुखदासजी	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, . जयपुर	1997
105.	रत्नसंचय प्रकरण	हर्षनिधानसूरि	जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर	वि.सं. 1833
106.	रयणसार	संपा. डॉ.देवेन्द्र कुमार शास्त्री	वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर	वि.सं. 2500
107.	राजप्रश्नीयसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
108.	ललितविस्तरा	आचार्य हरिभद्रसूरि अनु. भानुविजयजी	श्री दिव्यदर्शन साहित्य समिति, अहमदाबाद	1963
109.	लोगस्ससूत्र एक दिव्य साधना	डॉ. साध्वी दिव्यप्रभा	चौरडिया चैरिटेबल ट्रस्ट चौड़ा रास्ता, जयपुर	2003
110.	वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1952
111.	विपाकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
112.	विधिमार्गप्रपा	आचार्य जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
113.	विशेषावश्यकभाष्य	संपा. राजेन्द्रविजयजी	बाइ समरथ जैन श्वे. मु. ज्ञानोद्धार ट्रस्ट, मनसुख भाई सेठ की पोल, कालुपुर रोड, अहमदाबाद	वी.सं. 2489
114.	विशेषावश्यकभाष्य मलधारीयावृत्ति	संपा. गणि वज्रसेन विजय	भद्रंकर प्रकाशन, 49/1, महालक्ष्मी सोसायटी शाहीबाग, अहमदाबाद	वि.सं. 2489

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
115.	विशेषावश्यकभाष्य कोट्याचार्यवृत्ति		प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली	1972
116.	व्यवहारभाष्य	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996
117.	विशेषावश्यकभाष्य भाषांतर (भा.1-2) (मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति)	संपा. वज्रसेनविजयजी	भद्रंकर प्रकाशन शाही बाग, अहमदाबाद	वि.सं. 1983
118.	शतपथ ब्राह्मणम्	सायणाचार्य	नाग प्रकाशक, दिल्ली	1990
119.	श्रमणसूत्र	उपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1966
120.	श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र (प्रबोध टीका भा.1-3)	धीरज टोकरसी शाह	जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई	वि.सं. 2032 2034
121.	श्राद्धप्रतिक्रमण (वंदित्तु सूत्र)	संपा. धर्मविजयजी	मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदरा	वि.सं. 2002
122.	श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र (वंदित्तुसूत्र)	अनु. हंससागर जी	मोतीचन्द दीपचन्द शाह, भावनगर	1953
123.	श्रावकप्रज्ञप्ति	आचार्य हरिभद्र संपा. बालचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 2038
124.	षडावश्यक बालावबोधवृत्ति	तरुणप्रभाचार्यकृत संपा. पं. बेचरदास	भारतीय विद्या भवन, बम्बई	1976
125.	सचित्र श्रावक प्रतिक्रमण (तेरापंथी)	गणाधिपति तुलसी	जैन विश्वभारती, लाडनूं	1997
126.	समयसार	आ. कुन्दकुन्द	पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर	1998
127.	सम्बोध सप्ततिका	आचार्य रत्नशेखरसूरि अनु.डॉ.रविशंकर मिश्र	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1986

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
128.	सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1955
129.	सागारधर्मामृत	अनु. आर्यिका सुपार्श्वमति माताजी	अनेकान्त सिद्धान्त समिति, बांसवाड़ा	1995
130.	सामायिक सूत्र	उपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1969
131.	सामायिकसूत्र (स्थानकवासी)	संपा. पार्श्व मेहता	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	2002
132.	सामायिक एक समाधि	संपा. मुनि चन्द्ररत्न सागर	रत्नसागर प्रकाशन निधि, इन्दौर	1998
133.	सुबोधा सामाचारी	श्री चन्द्राचार्य	जीवनचंद साकरचंद, जवेरी बाजार, मुम्बई	1980
134.	सूत्रकृतांगसूत्र		स्था. जैन कान्फरेन्स, बम्बई	1938
135.	संबोध प्रकरण	आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाश सभा, अहमदाबाद	1916
136.	संबोध सत्तरि (जिनगुण स्वाध्याय)	संपा. रश्मिरत्न विजयजी	जिनगुण आराधक ट्रस्ट, मुम्बई	
137.	स्थानांग सूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
138.	ज्ञानसार	यशोविजय उपाध्याय	विशा ओसवाल जैन संघ, खंभात	वि.सं. 2058
139.	ज्ञानार्णव	अनु. पन्नालाल बाकलीवाल	श्रीमद्र राजचन्द्र आश्रम, आगास	1981

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन हृदय के अमृत स्वर

- आवश्यक क्रियाओं में पाठ भेद एवं विधि भेद क्यों?
- षडावश्यक के क्रम वैशिष्ट्य अन्तर्भूत रहस्य?
- सामायिक में उपकरणों का उपयोग क्यों?
- चतुर्विंशतिस्तव में छह आवश्यकों का समावेश कैसे?
- वन्दन कब और किन्हें करना चाहिए?
- गुरु वन्दन करते हुए आशातना से कैसे बचें?
- वर्तमान ध्यान पद्धतियों में कायोत्सर्ग का अन्तर्भाव कैसे?
- प्रत्याख्यान करते समय आगार रखना आवश्यक क्यों?
- मानव जीवन के निर्माण में प्रत्याख्यान की भूमिका?

SMG
SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (XI)